जीवन विवेचन

भाग—२

परम पूज्या दिव्य ज्योति देवकी माताजी के प्रवचन
(कैसेट नं. 11 से 20 तक)

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन—मथुरा

जीवन विवेचन

भाग २

परम पूज्या दिव्य ज्योति देवकी माताजी के प्रवचन

(प्रवचन संख्या २१ से ४२ तक)

मानव सेवा संघ प्रकाशन
वृन्दावन (मथुरा)

प्रकाशक :
मानव सेवा संघ
वृन्दावन - २८११२१ (मथुरा)

सर्वाधिकार सुरक्षित

प्रथम संस्करण : मार्च, १९९१
द्वितीय संस्करण : अगस्त, १९९७

मूल्य Rs 30

मुद्रक :
चित्रलेखा
श्रीहरिनाम प्रेस, वृन्दावन • दूरभाष : ४४२४१५, ४४३४१५

ॐ

प्रार्थना

(प्रार्थना, आस्तिक प्राणी का जीवन है)

मेरे नाथ !
आप अपनी,
सुधामयी,
सर्वसमर्थ,
पतितपावनी,
अहैतुकी कृपा से,
दुःखी प्राणियों के हृदय में
त्याग का बल,
एवं
सुखी प्राणियों के हृदय में,
सेवा का बल
प्रदान करें,
जिससे वे
सुख-दुःख के
बन्धन से
मुक्त हो,
आपके
पवित्र प्रेम का
आस्वादन कर,
कृत-कृत्य हो जायें।

ॐ आनन्द ॐ आनन्द ॐ आनन्द

अनुक्रमणिका

	पृष्ठ संख्या
प्रवचन २१	५
प्रवचन २२	१३
प्रवचन २३	२०
प्रवचन २४	३०
प्रवचन २५	४५
प्रवचन २६	५६
प्रवचन २७	६८
प्रवचन २८	८१
प्रवचन २९	९०
प्रवचन ३०	९८
प्रवचन ३१	१०६
प्रवचन ३२	११९
प्रवचन ३३	१३०
प्रवचन ३४	१४१
प्रवचन ३५	१५२
प्रवचन ३६	१६५
प्रवचन ३७	१७७
प्रवचन ३८	१९०
प्रवचन ३९	२०३
प्रवचन ४०	२१५
प्रवचन ४१	२२९
प्रवचन ४२	२४२

प्रवचन

(21)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

जिन महामानव के ज्ञान और प्रेम की छाया में हम आज इस जीवन की समस्याओं को सुलझाने बैठे हैं, अनन्त की विभूतिस्वरूप उन महामानव को हमारा, आपका, सबका बारम्बार प्रणाम।

अध्यात्म चर्चा हमारे जीवन में है। अध्यात्म चर्चा क्या है ? - जो कुछ प्रतीत हो रहा है, उस प्रतीति मात्र में उत्पत्ति, परिवर्तन, और विनाश का क्रम दिखाई दे रहा है। इस प्रतीति, परिवर्तन, विनाश के क्रम के पीछे कोई अपरिवर्तनीय है, कुछ अविनाशी है, उसका मुझे पता तो नहीं है लेकिन उसकी आवश्यकता मुझे है। इस आवश्यकता को जब व्यक्ति अपने में अनुभव करता है, तो अध्यात्म चिन्तन प्रारम्भ हो जाता है और फिर उस आवश्यकता की पूर्ति के लिए जब वह प्रयास करने लगता है, सोचने लगता है, तो अध्यात्म चर्चा आरम्भ हो जाती है। निज विवेक के प्रकाश में देखकर, उत्पत्ति, परिवर्तन तथा विनाश युक्त प्रतीति से सम्बन्ध तोड़ लेता है, तो अविनाशी जीवन में प्रवेश करने का अधिकारी बन जाता है।

आज हमारे सामने अवसर है। खूब शान्त होकर, शरीर के स्तर से परे के जीवन का विश्लेषण करके देखिए। कुछ देर पहिले मूक सत्संग का समय था और हम सब लोगों ने थोड़ी देर के लिए कुछ न करना, कुछ न चाहना पसन्द किया था। उन क्षणों में निर्विकल्पता थी। मन, चित्त और बुद्धि शान्त थी। किसी न किसी प्रकार की कोई न कोई क्रिया थी ? यदि कुछ-कुछ चिन्तन चल रहा था तो आप उस चिन्तन को देखेंगे कि उसमें कौन-सी बातें थीं ? तो स्पष्ट रूप से पता चल जाएगा कि उसमें इस भौतिक सीमा के भीतर की बातें थीं। किसी

जरूरी काम का याद आना, किसी स्थान का याद आना अथवा जो निर्विकल्पता अप्राप्त है, अभी तक प्राप्त नहीं हुई है, उसके प्रति एक आकर्षण उत्पन्न होना, और जो संकल्प-विकल्प चल रहे हैं, उनके प्रति एक नापसन्दगी उत्पन्न होना, ये सब बातें थीं। यह है हमारी वर्तमान दशा। और होना क्या चाहिए ? अध्यात्म दृष्टि से होना चाहिए यह कि जब संसार की सेवा करने का अवसर मिले, जब शरीर के माध्यम से निकटवर्ती जनसमाज के लिए उपयोगी होने का अवसर आए तो उसी क्षण के लिए शरीर और संसार से हमारा सम्पर्क रहना चाहिए, और जैसे ही अवसर निकल जाए तो शान्त होते ही, चुप होते ही संसार और शरीर से तादात्म्य टूट जाना चाहिए। यह अध्यात्म जीवन है।

अब हम अपनी रहनी देखें कि कैसी है ? तो हम पायेंगे कि शरीरों को लेकर परिवार, समाज प्रकृति और प्ररब्ध के साथ अभियोजित करने में व्यक्ति व्यस्त है। जाग्रत अवस्था में अभियोजन की चेष्टा में विविध प्रवृत्तियों एवं उनके फलाफल के चिंतन में वह फँसा रहता है। स्वप्नावस्था में उन्हीं का चित्र उसे दिखाई देता है। गाढ़ी निद्रा की जड़ता के बाद जब आँखें खुलती हैं तो सजगता आते ही पुनः उसी चिंतन एवं कर्म में वह व्यस्त हो जाता है।

शरीर और संसार के साथ अपने को घुला-मिला लेने से, उसकी सत्यता में विश्वास कर लेने से, उसके प्रभाव से आक्रांत हो जाने से, व्यक्ति की यह दशा हो जाती है, और आज हम उसी दशा में से निकलकर उस जीवन में प्रवेश करने की साधना की चर्चा करने बैठे हैं, जिसमें प्रवेश करने के बाद शरीर और संसार का न भास रहता है और न चिन्तन रहता है।

वह जीवन कैसा है ? मैंने अनुभवीजन के मुख से सुना है कि वह बड़ा आनन्दमय है। उसका आदि-अन्त नहीं है। उसमें दुःख का लेश नहीं है। ऐसे जीवन की प्राप्ति किन उपायों से होती है ? आज हम भाई-बहनों को इस प्रश्न का समाधान करना है। इस सन्दर्भ में एक बड़ी अच्छी बात है। मानव जीवन का सत्य है, जिसको जानना और मानना साधकों के लिए बहुत ही उपयोगी है। वह यह है कि संसार

की आसक्तिजनित लोभ, मोह आदि विकारों से आक्रान्त दशा में भी मनुष्य का अपना जो अविनाशी स्वरूप है उसकी क्षति नहीं होती है। इस सत्य में हमारी गहरी आस्था होनी चाहिए। यह खास बात है जिसे स्वामीजी महाराज ने अपने अनुभव के द्वारा जानी और मानव सेवा संघ के नाम से इनको कहकर हम लोगों को सुनायी।

बहुत ही शान्त वातावरण है। किसी प्रकार की कोई बाधा इस समय हम लोगों को इस सत्य चर्चा में कष्ट नहीं दे रही है। थोड़ी देर के लिए आप अपने भीतर ढूँढ़ करके देखिए, कुछ दिन पहले शरीर में बड़ा बल था, आज यह दुर्बल दिखाई देता है, लेकिन शरीर और संसार के संबंध में सोचनेवाला, जाननेवाला, विचार करने वाला देखनेवाला न पहले दुर्बल था न आज दुर्बल है। उसमें सबलता-दुर्बलता का कोई दोष लग ही नहीं सकता।

आप सोचिए, पहले आप बड़े पदवान थे, बड़ा भारी पद था समाज में, बड़ी भारी पूछ थी और आज अवकाश ग्रहण कर लेने के बाद Retirement के बाद वह पद नहीं है, वह पूछ नहीं है। तो उस समय जो कुछ था, उसको जानने की सामर्थ्य जिसमें थी उसका ज्ञाता, उसका द्रष्टा जो था, वह आज भी उसी रूप में है। पद नहीं है अब, जनसम्पर्क नहीं है अब, लेकिन इस दशा को जाननेवाला वही है जो उस दशा को जाननेवाला था। इस दृष्टि से शरीरों से तादात्म्य तोड़कर, अविनाशी में समाहित हो जाना, अविनाशी के योग से, अविनाशी के बोध से, अविनाशी की अभिन्नता से आनन्दमय चिन्मय हो जाना, यह बात तो पीछे होगी।

आज की ही वर्तमान दशा को अपने सामने रखकर देख लीजिये - आपको शरीर के बनने-बिगड़ने का ज्ञान है। आप अनुभव करते हैं कि शरीर पहले रोगी था, अब निरोग हो गया। दुर्बल था, अब सबल हो गया। इस प्रकार शरीर सम्बन्धी बदलाव का परिचय हम सभी भाई-बहिनों को होता है, परन्तु अपने में परिवर्तन का भास कभी किसी को नहीं होता। इस बात को हम लोग स्पष्ट जानते हैं कि शरीर दुर्बल हो गया, मैं तो वही हूँ, शरीर सबल हो गया, मैं तो वहीं हूँ, मुझे पद

मिला हुआ था, छूट गया, मैं तो वही हूँ। इस तरह से आप देखेंगे कि बड़ा रहस्य मालूम होता है, बड़ी अच्छी बात मालूम होती है और बड़ा अच्छा लगता है, अध्यात्मचर्चा करने में कि हमारी जो चर्चा चल रही है अविनाशी जीवन में प्रवेश करने की, यह चर्चा निराधार नहीं है। इस चर्चा के द्वारा जिस जीवन को हम प्राप्त करना चाहते हैं, वह अभी इसी क्षण में हम ही लोगों में विद्यमान है। एक तो यह बात महाराजजी ने हम लोगों के सामने रख दी। तो इसमें हमारी दृढ़ आस्था होनी चाहिए कि मेरा नाश कभी हुआ नहीं कभी होगा नहीं।

अब इसके बाद साधन आरम्भ होगा। तो उस अविनाशी जीवन में प्रवेश पाने का उपाय क्या है ? नाशवान जो कुछ है उससे सम्बन्ध तोड़ लो, शान्त हो जाओगे। शान्त हो जाना इसमें मुख्य बात है। मन शान्त हो जाए, चित्त शान्त हो जाए, कर्मेन्द्रियों-ज्ञानेन्द्रियों सबसे काम लेना बंद कर दिया जाए। इधर का लगाव टूट जाए तो उधर के अटूट सम्बन्ध का अनुभव हो जाए। बस इतनी सी बात है अध्यात्म-जीवन से अभिन्न होने में। हमारा-आपका परम पुरुषार्थ यही है कि हमारी जीवनी शक्ति, कहीं पद में, कहीं घर में, कहीं कुटुम्ब में, कहीं दल में, कहीं संस्था में, कही मान बड़ाई-प्रशंसा में अटकी हुई है, इस अटकाव से वह निकल जाए। अपने ही द्वारा इस अटकाव को तोड़ना है। फिर स्वतः ही जीवनी शक्ति उससे जाकर जुड़ जाएगी, जो दुःखरहित है, अविनाशी है तथा अखण्ड आनन्द से भरा हुआ है। उससे अभिन्न होने का अचूक उपाय है - अकिंचन, अचाह और अप्रयत्न होकर शान्त रहना।

साधकों को इसमें कठिनाई क्या होती है ? काम करना हम लोग इच्छापूर्वक छोड़ सकते हैं, लेकिन चुपचाप होते ही अपने आप जो व्यर्थ चिन्तन होने लगता है, उसको हम लोग इच्छापूर्वक तोड़ नहीं सकते। उस व्यर्थ चिन्तन से मुक्त होने का उपाय परमपूज्य स्वामीजी महाराज ने बताया कि अरे भाई ! जीवन में जब तक सरसता नहीं आएगी, तब तक वह चिन्तन टूटेगा नहीं।

अब यह प्रश्न हम लोगों के सामने आया कि रस कैसे आए ? मुझमें वह रस कैसे अभिव्यक्त हो जाए कि उससे यह चिन्तन टूट जाए। उसके लिए उन्होंने तीन उपाय बताए। सबसे पहला उपाय बताया कि भाई, उदार बनो। उदारता का रस मानव जीवन का श्रृंगार है। वह भूषण है हम लोगों का। इस रस से मानव का व्यक्तित्व सुशोभित होता है। वह उदारता आप में है, इसीलिए मानव सेवा संघ में जब कोई व्यक्ति किसी व्यक्तिगत साधना को प्रधानता देना चाहता है तो मैं हाथ जोड़कर प्रार्थना करके निवेदन करती हूँ कि भाई ! मानव सेवा संघ की चर्चा में मानव जीवन के मूल सत्य की चर्चा होने दो और व्यक्तिगत साधना को व्यक्तिगत रहने दो। अगर व्यक्तिगत साधना की प्रधानता हम मानव सेवा संघ में दे देंगे तो इसकी सर्व व्यापकता घट जाएगी।

व्यक्तिगत साधना के प्रति तो आदमी का खिंचाव भी रहता है, रुचि भी रहती है परन्तु मानव सेवा संघ तो सबका है, तो सबका यह कब तक है ? जब तक इसकी सर्वव्यापकता सुरक्षित है, तब तक। अब मेरी व्यक्तिगत साधना को इसमें आरोपित कर दिया जाए, उसकी विशेषता बढ़ा दी जाए तो उसी के भीतर यह सीमित हो जाएगा। तब यह सबका नहीं रह सकेगा। मानव सेवा संघ के प्रेमियों, समर्थकों, सेवकों के लिए अति आवश्यक बात है, इसकी सर्वव्यापकता को सुरक्षित रखना। व्यक्तिगत रुचि को प्रधानता देकर कि मैं मानव सेवा संघ का सेवक हूँ, मानव सेवा संघ का समर्थक हूँ, मैं मानव सेवा संघ में तन-मन-धन लगाता हूँ। इसमें कुछ मेरी भी बात चलनी चाहिए। ऐसा सोचकर व्यक्तिगत बात को हम लोग इसमें शामिल कर देंगे, तो फिर यह सबका नहीं रह जाएगा। स्वामीजी महाराज ने क्या कहा ? उदारता का रस जब तुम्हारे जीवन में आएगा तो उस रस के आधार पर व्यर्थ चिन्तन का नाश होगा।

अब उदारता कैसे आएगी जीवन में भाई ? तब उन्होंने कहा कि दुःखी को देखकर करुणित होना, सुखी को देखकर प्रसन्न होना, इस उदारता को हम लोगों को बढ़ाना है। उदारता को बढ़ाने में एक विशेष बात पर ध्यान देना है कि दूसरे लोग हमारे प्रति उदार हों,

इसमें हमारी स्वाधीनता नहीं है परन्तु हम स्वयं चाहें तो दूसरों के प्रति उदार हो सकते हैं। इसमें हम स्वाधीन हैं। इस दृष्टि से हम सभी को अपने निकटवर्ती जन-समुदाय के प्रति उदार रहना चाहिए। उदारता के रस से व्यर्थ चिन्तन का नाश होता है।

व्यर्थ-चिन्तन के नाश का दूसरा उपाय श्रीस्वामीजी महाराज ने बताया कि अचाह और अकिंचन हो जाओ। इसमें किसी मत-सम्प्रदाय, ग्रन्थ-पन्थ एवं प्रणाली का मतभेद नहीं हैं। मानव सेवा संघ की साधन प्रणाली में ऐसे चुने हुए शब्दों का प्रयोग पूज्य स्वामीजी महाराज ने किया है कि जिससे सर्वव्यापी विचार को सर्वव्यापी बनाए रखने में बड़ी मदद मिलती है। उन्होंने शास्त्रीय शब्दों का भी अधिक प्रयोग नहीं किया कि जिससे कोई कहे कि भाई, गीता पढ़ो तो समझ में आएगा, नहीं पढ़ो तो समझ में नहीं आएगा अथवा कुरान पढ़ो तो समझ में आए, नहीं तो नहीं, ऐसा नहीं।

उन्होंने कहा, अकिंचन और अचाह हो जाओ। अकिंचन का अर्थ है- मेरा व्यक्तिगत कुछ नहीं है। अचाह शब्द का अर्थ है कि मुझे कुछ नहीं चाहिए। ये दोनों शब्द ऐसे हैं कि किसी युग में, किसी देश का कोई भी धर्मावलम्बी यदि व्यर्थ चिन्तन से छूटना चाहता है, शरीर की आसक्ति को छोड़कर देहातीत जीवन में प्रवेश चाहता है तो इन तथ्यों को वह इन्कार कर ही नहीं सकता। "इस संसार में मेरा व्यक्तिगत कुछ भी नहीं है।" इस सत्य को स्वीकार करना कोई साधुपने की बात नहीं है। यह जीवन का सत्य है। आप विचारकजन हैं। आपने इस विषय पर अनेक बार सुना है। मैं क्या बताऊँ-मनोविज्ञान पढ़ने-पढ़ाने में जो समय मैंने लगाया उसके परिणामस्वरूप यह एक रहस्य मेरी समझ में आ गया कि वर्तमान में अपने में जो नीरसता मालूम होती है वह केवल ममता और कामना के ही कारण है। अगर ममता और कामना को जीवन में से निकाल दिया जाए तो स्वभाव से अपने में इतनी सरसता मिलती है कि व्यक्ति को फिर किसी वस्तु की याद ही नहीं आती। व्यर्थ चिन्तन की जड़ कट जाती है।

परन्तु बड़ी भारी भूल यह हो गई अपने से कि हमने यह समझ लिया कि अमुक प्रकार की परिस्थिति बन जाएगी तो जीवन बड़ा सरस हो जाएगा। इसी में सर्वनाश हो गया। न मनचाही परिस्थिति बने और न चैन मिले। अनुकूल परिस्थितियों की कामना ने मनुष्य को शान्ति से जीने नहीं दिया। अब जरा शरीर के स्तर से ऊपर उठकर देखिए- जो रस अपने ही में विद्यमान है उसमें इतना मधुर आकर्षण है कि जिसके वर्णन करने की अपने में क्षमता नहीं है। वह रस जैसे ही मानव हृदय में उद्‌भूत होने लगता है, व्यक्ति का रोम-रोम उस रस से आप्लावित हो जाता है। सर्वेन्द्रियाँ उसमें समाहित हो जाती हैं। चिर-शान्ति की अभिव्यक्ति हो जाती है। इतना सरस जीवन अपने ही में विद्यमान है और केवल अप्राप्त परिस्थिति की कल्पना में, अप्राप्त वस्तु की कामना में, आस-पास दिखाई देने वाले शरीर और संसार की ममता में, मैंने अपने को बर्बाद कर लिया। स्वामीजी महाराज ने सलाह दी कि भाई ! जीवन में रस की अभिव्यक्ति कैसे होती है ? अकिंचन और अचाह होने से होती है और जब रस बढ़ता है तो व्यर्थ-चिन्तन का नाश होता है।

तीसरी बात क्या बताई ? तीसरी बात तो इतनी सहज है कि बहुत सहज भाव से सब किसी के समझ में आ जाती है। वह क्या है, कि परम प्रेमास्पद के प्रेम का रस जब बढ़ता है तो व्यर्थ-चिन्तन का नाश हो जाता है। प्रेमास्पद का रस कैसे बढ़ेगा ? सृष्टिकर्त्ता ने हम लोगों को बनाया है। उसमें उन्होंने एक बड़ी बढ़िया चीज दी है, एक रहस्य ऐसा खोल कर रखा हम लोगों के सामने, अपने पास पहुँचने के लिए, कि भाई ! बल नहीं, योग्यता नहीं, जप नहीं, तप नहीं, श्रम नहीं, चालाकी-चतुराई नहीं, यह सब कुछ नहीं-केवल एक ही बात- कि परमात्मा को पसन्द करो। परमात्मा की पसन्दगी मात्र से हृदय जब पसीजने लगता है तब अपने ही में विद्यमान परमात्मा अपनी प्रेमरूपी विभूति में प्रकट होने लगता है जिससे व्यर्थ-चिन्तन का सदा के लिए नाश हो जाता है। ऐसा होता है। यह इतना प्रत्यक्ष है, इतना सत्य है कि एक बार साधक के अनुभव में यह आ जाए तो फिर वह साधक

कभी भूलता नहीं है। उस प्रेममय अस्तित्व पर से उसकी दृष्टि हटती ही नहीं है।

श्री स्वामीजी महाराज ऐसा कहते थे और मैं सुनती थी, लेकिन सुनकर उस बात को ग्रहण कर लेने में प्रारम्भ में मुझे असमर्थता मालूम होती थी। कुछ दिनों के बाद मैं स्वयं परमपूज्य स्वामीजी महाराज से कहने लगी कि मुझे ऐसा लगता है कि कोई आदमी ईश्वर का विश्वास लेकर अपने जीवन की नीरसता का नाश करने के लिए जितना तत्पर होगा उससे कहीं अधिक परमात्मा लालायित होंगे मनुष्य को नीरसता के ताप से मुक्त करके अपने प्रेमरस से परिपूर्ण करने के लिए परमात्मा को इस बात का बड़ा चाव है कि भटका हुआ प्यारा मानव उनकी ओर उन्मुख हो जाता तो उनकी करुणा का परिचय पाकर आश्वस्त होता और वे परम प्रेमास्पद स्वयं ही उसको अपनी प्रेमसुधा पिलाकर सदा के लिए कृत-कृत्य कर देते।

कैसी अद्‌भुत रचना है मनुष्य की ! सोचिए - हाड़-माँस के बने हुए, मल-मूत्र की थैलियों से भरे हुए शरीर की आसक्ति में फँसा हुआ मनुष्य परम विमल, परम निर्विकार, प्रेमसिन्धु परमात्मा का प्रेमी होने की अभिलाषा रखता है। किसी प्रेमी की अभिलाषा है- उसको माखन-रोटी खिलाऊँ, किसी ने कहा- उसे पालने में झुलाऊँ, किसी ने पसन्द किया कि उसे छछिया भर छाछ पर नाच नचाऊँ। आश्चर्य है कि भक्त हृदय की इन सभी अभिलाषाओं की पूर्त्ति का भी विधान है। यह मानव जीवन की विशेषता है। यह विशेषता उस महामहिम की दी हुई है। उन्होंने ही इस बात को पसन्द किया कि मानव सशरीर इस धरती पर विचरे, परन्तु ज्ञानपूर्वक इससे निर्लिप्त रहे, तथा प्रेमरस की वर्षा से चराचर जगत को आनन्दित करे।

यह महिमा हम सभी भाई-बहिनों के जीवन में चरितार्थ हो सकती है, यह मानव सेवा संघ का अमर संदेश है। अब शान्त हो जाइए।

(22)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

मानव सेवा संघ के तत्त्वावधान में हम सभी भाई-बहन जीवन की समस्याओं को सुलझाने के लिए जीवन के सत्य पर विचार करने बैठे हैं।

समस्या क्या है हमारे सामने ? मानव सेवा संघ ने दो बातें हमारे सामने रखीं। व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण। व्यक्ति के कल्याण का क्या अर्थ है ? व्यक्ति के कल्याण का अर्थ यह लिया गया कि आन्तरिक अशान्ति से पीड़ित होने वाले व्यक्ति को, शान्ति मिल जाए। लोभ, मोह, काम, क्रोध, आदि विकारों से विवश पड़े व्यक्ति को जीवन-मुक्ति मिल जाए। अपने को अनेक प्रकार से असमर्थ पाकर अनाथपन की पीड़ा से पीड़ित होने वाले व्यक्ति को विश्वनाथ का आश्रय प्राप्त हो जाए। अशान्ति मिटकर शान्तिमय जीवन हो जाए। जन्म-मरण की बाध्यता मिटकर जीवन-मुक्ति का आनन्द मिल जाए। अनाथपन मिटकर सर्वसमर्थ की शरण मिल जाए। हृदय परम प्रेमास्पद के प्रेम से भर जाए। नीरसता और अभाव सदा के लिए मिट जाए। यह व्यक्ति का कल्याण कहलाता है।

सुन्दर समाज का निर्माण क्या है ? तो सुन्दर समाज के निर्माण के अर्थ में मानव सेवा संघ ने यह अर्थ लिया कि जिस समाज में अनेक प्रकार की भिन्नताओं के रहते हुए भी एक सर्वात्मभाव की स्थापना हो जाए, वह सुन्दर समाज है। अनेक प्रकार की भिन्नता तो समाज में रहेगी ही, परिस्थितियाँ सबकी अलग-अलग होंगी, रुचि-योग्यता सबकी अलग-अलग होगी, फिर भी अनेक प्रकार की भिन्नता होते हुए भी, सर्वात्म भाव के आधार पर एकता स्थापित हो जाए, तो यह सुन्दर समाज के निर्माण का लक्षण होगा। शरीर से बलवान व्यक्ति, प्राप्त बल को निर्बलों की चीज मान ले तो निर्बल और सबल की एकता हो जाएगी। जहाँ इस प्रकार की एकता स्थापित हो जाए उसको मानव सेवा संघ ने सुन्दर समाज का निर्माण माना। और ऐसा करने में आप

देखेंगे, कि जहाँ व्यक्ति सुन्दर समाज के निर्माण के लिए प्राप्त सामर्थ्य, योग्यता इत्यादि को समाज की सेवा में लगाने का व्रत ले लेता है, तो उसके इस व्रत से स्वयं उस व्यक्ति का भी कल्याण होता है।

मानव सेवा संघ की एक बड़ी भारी विशेषता मुझे मालूम होती है कि इसमें व्यक्ति के कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माण को दो अलग-अलग बातें नहीं मानी गयीं। जो व्यक्ति विवेक का आदर करता है, जो व्यक्ति प्रभु विश्वास में विकल्प नहीं करता, जो व्यक्ति स्वयं अपने को बुराई-रहित बनाने में प्रयत्नशील है, ऐसे अपने कल्याण में तत्पर व्यक्ति के द्वारा ही समाज की सेवा सम्भव होती है। और जो व्यक्ति प्राप्त सामग्री को अपनी न मानकर, ममता छोड़कर, अप्राप्त की कामना छोड़कर, जिस परिस्थिति में है और जो कुछ उसको प्राप्त है उसी के द्वारा वह निकटवर्ती जन-समाज की सेवा में तत्पर रहता है, तो उसके चित्त की शुद्धि होती है, उसको शान्ति मिलती है, उसका विकास होता है। इस तरह मानव सेवा संघ ने व्यक्ति के कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माण को, एक ही व्यक्तित्व के दो अनिवार्य पहलू माने हैं। जो अपने कल्याण में तत्पर है वह समाज की सेवा कर सकता है। जो समाज की सेवा कर सकता है वह अपना विकास कर सकता है, ऐसा माना गया है।

एक बड़ी भारी विशेषता जो महाराजजी ने मानव जीवन के सम्बन्ध में हम लोगों को बताई, वह यह है कि हम सभी भाई-बहनों को अपने सम्बन्ध में इस बात का बहुत ही दृढ़ विश्वास रखना है कि मानव का जीवन स्वयं ही इतना मूल्यवान है, स्वयं ही इतना महत्त्वपूर्ण है कि अपने व्यक्तित्व में विद्यमान मौलिक तत्त्वों का विकास करने के लिए हम तत्पर हो जाएँ तो इस विकास में कोई भाई, कोई बहन, पराधीन नहीं है। महाराज जी के दिल में इस बात की बड़ी गहरी वेदना रहती थी कि आज समाज की पीड़ा से पीड़ित होने वाले महानुभाव, समाज सुधार की दिशा में सोचने वाले व्यक्ति, ऐसा सोचने लगे हैं कि परिस्थिति को बदल दो, तो समाज का विकास होगा, परिस्थिति को बदल दो तो व्यक्ति को आराम मिलेगा। मनुष्य का

विकास परिस्थिति परिवर्तन से होगा, यह मानना बड़ी भारी भूल है। महाराजजी ने कहा भी है और लिखाया भी है कि दूसरों की सहायता पर मेरा विकास निर्भर है, ऐसा सोचना मानवता का बड़ा भारी अपमान है।

उन्होंने बताया कि भाई ! तुम्हारा सुधार, तुम्हारा उद्धार, तुम्हारा विकास पराश्रय और पराधीनता पर निर्भर नहीं है। मानव समाज को यह विश्वास दिलाना, मानव सेवा संघ की बड़ी भारी सेवा है। आप मत सोचिए कि आपको जो चाहिए वह कहीं बाहर से मिलेगा। आपको क्या चाहिए ? आपको शान्ति चाहिए, आपको जीवन मुक्ति चाहिए, आपको भगवद् भक्ति चाहिए। शान्ति कैसे मिलती है भाई ? शान्ति मिलती है - की हुई भूल को दोहराएँगे नहीं, अर्थात् जानी हुई भूल को आइन्दा फिर करेंगे नहीं, अपने जाने हुए असत् के संग का त्याग करेंगे। ऐसा करने से शान्ति मिलती है। तो यह शान्ति कोई दूसरा आपको दे देगा? यदि अपनी जानी हुई भूल को मैं छोड़ूँ नहीं, की हुई भूल को दोहराना बन्द करूँ नहीं, तो अन्य की सहायता से शान्ति कैसे मिल जाएगी ? मुझे नहीं मिल सकती।

संकल्पों के कारण प्राणी जन्म धारण करने के लिए बाध्य होता है। उन्हीं संकल्पों को लेकर यदि मर जाता है तो उसको दुनिया में कौन सी वस्तु, कौन सा व्यक्ति, कौन सा गुरु ऐसा है, जो उसे जन्म-मरण के बन्धन से मुक्त करा दे। कोई ऐसा नहीं कर सकता, ऐसा कोई है नहीं। जन्म-मरण की बाध्यता कब टूटती है ? जब निज विवेक के प्रकाश में व्यक्ति इस बात का अनुभव करता है कि संकल्पों से प्रेरित होने के कारण प्राकृतिक विधान से मुझे शरीर धारण करना पड़ा है, तो निज विवेक के प्रकाश में हम संकल्प रहित हो जाएँ, निर्विकल्प जीवन को प्राप्त करें। शरीरों के रहते-रहते जब व्यक्ति निःसंकल्प हो जाता है, तो उसकी निःसंकल्पता की शान्ति में उस सामर्थ्य की अभिव्यक्ति होती है जिस सामर्थ्य को लेकर वह देहातीत, अविनाशी जीवन में प्रवेश पाता है। यह जीवन का सत्य है।

अब कोई ऐसा सोचे कि संकल्पपूर्ति के सुख और संकल्पपूर्ति के सुख का लालच तो मैं छोड़ूँ नहीं, तो किस परिस्थिति से, किस व्यक्ति से, किस वस्तु से, किस गुरु से, किस मार्गदर्शक से, किस समाज सुधारक से उसके जन्म-मरण की बाध्यता कट सकती है ? ऐसा कभी नहीं हो सकता। इसलिए मानव सेवा संघ ने समाज को यह विश्वास दिलाना पसन्द किया कि भाई। तुम्हें जो चाहिए, वह तुम्हीं में विद्यमान है। अपने सुधार के लिए पराश्रित और पराधीन मत बने रहो। आपको ईश्वरीय प्रेम चाहिए। ईश्वर की चर्चा हम लोगों के जीवन में है। बिना देखा हुआ, बिना जाना हुआ परमात्मा, जिसकी हम आवश्यकता अनुभव करते हैं, जिसकी चर्चा किए बिना रह नहीं सकते, उस परमात्मा से मेरे मुलाकात करने का भी कोई उपाय हैं?

मानव सेवा संघ ने हम लोगों के सामने जीवन के इस सत्य को रखा और यह कहा कि यह बड़ा ही आवश्यक प्रश्न है मानव के जीवन में। और इस आवश्यक प्रश्न की उत्पत्ति किसी परिस्थिति, विशेष किसी वर्ग विशेष, किसी देश विशेष तथा काल विशेष पर आधारित नहीं है। यह मानव के जीवन का मौलिक प्रश्न है कि वह अपने को अनेक प्रकार की सीमाओं में बँधा हुआ पाता है। वह अपनी शक्तियों को अपनी सभी आवश्यकताओं की पूर्ति में अधूरी पाता है। इसलिए वह एक सर्वसामर्थ्यवान अविनाशी प्रेमस्वरूप की आवश्यकता अनुभव करता है। उसी का नाम परमात्मा है। उसी का नाम ईश्वर है। उसी का नाम भगवान है। और उससे मिल लेना, उससे अभिन्न हो जाना, मानव जीवन की सबसे ऊँची और अन्तिम उपलब्धि है। इसकी प्राप्ति का उपाय क्या है, तो अलग-अलग भक्तों से, अलग-अलग सन्तों से, अलग-अलग ग्रन्थों से पूछियेगा तो अलग-अलग प्रकार के उपाय आपके सामने आयेंगे।

मानव सेवा संघ किसी एकदेशीय मत, सम्प्रदाय, वर्ग, साधना का समर्थक या विरोधक नहीं है। इसलिए मानव सेवा संघ के प्रणेता ने इस दृष्टि से मानव जीवन के उन मौलिक तत्त्वों को हमारे सामने रखा जिन्हें कोई भी ईश्वरवादी साधक, ईश्वर से मिलने का अभिलाषी

अपना सकता है। वह क्या है ? कि भाई ! देखा हुआ संसार मेरे जीवन की आवश्यकता की पूर्ति में असमर्थ प्रमाणित हो गया, इसलिए मैं देखे हुए संसार को नापसन्द करता हूँ। यह खास बात है। और जो देखने में नहीं आया, जो बुद्धि की सीमा में नहीं समा सका, जो हमारी जानकारी का विषय नहीं बन सका, लेकिन जिसकी आवश्यकता मुझे महसूस होती है उससे मिलना मैं पसन्द करूँ, तो जिसने देखे हुए संसार को नापसन्द किया, और बिना देखे हुए परमात्मा को पसन्द कर लिया, उसको शरीर के रहते-रहते परमात्मा के मिलन का अनुभव हो जाता है। यह जीवन का सत्य है। जिसको आप नापसन्द कर देंगे उसका प्रभाव आपके जीवन पर से उतर जाएगा। नापसन्द करते ही प्रभाव तो उसका उतर गया, परन्तु शरीर भी तो संसार ही है, संसार में ही रहेगा। तब क्या करें ?

मानव सेवा संघ ने इस विषय में एक बहुत ही उपयोगी और सर्वमान्य सत्य हम लोगों के सामने रखा कि भाई ! जो शरीर संसार में ही बना है, संसार में ही रहेगा, मिट करके संसार में ही समाहित होगा, उस शरीर को लेकर संसार से बाहर जाने की नहीं सोचना है। उस शरीर के माध्यम से संसार की सेवा करो। जो परमात्मा सदा-सदा से आपका है, जो बिना देखा हुआ होने पर भी, बिना जाना हुआ होने पर भी, आपकी सभी आवश्यकताओं को पूरा करने में समर्थ है, जब उसकी ओर आप उन्मुख होते हैं, तो संसार के सम्बन्ध से उत्पन्न होने वाले नये विकारों का अन्त हो जाता है। तो विचार के आधार पर नये विकार उत्पन्न नहीं होंगे। फिर भी संसार की सेवा अनिवार्य है। क्यों? क्योंकि इतने दिनों तक, जो मैंने संसार को अपना भोग्य पदार्थ माना था, खाने की वस्तु दिखाई दे तो मैं खा लूँ, सुख-आराम की वस्तु दिखाई दे तो मैं उसका उपभोग कर लूँ, यह जो हमारी एक भूल होती आई कि संसार को मैंने सेवा का पात्र न मान करके, अपना भोग्य पदार्थ माना था, इस भूल के कारण जीवन में जो विकार उत्पन्न हो गये, उन पुराने रागों की निवृत्ति के लिए संसार की सेवा अनिवार्य है। तो अपने लिए इस संसार को पसन्द मत करो, लेकिन राग निवृत्ति का

साधन जानकर इसकी सेवा करो। संसार का चिन्तन कैसे छूटता है? इसकी सेवा करने से छूटता है।

सुख-भोग के प्रभाव से जो हृदय कठोर बन गया था, जिस हृदय में प्रभु की कृपालुता, प्रभु की करुणा, प्रभु के प्यार का स्पर्श भी मालूम नहीं होता था, जो हृदय कठोरता की नीरसता में सूनासूना हो रहा था, उस हृदय में जब शुद्धता, मधुरता और कोमलता आती है तब प्रभु की कृपा का दर्शन होने लगता है, प्रभु के प्रेम का स्पर्श होने लगता है। और मैं क्या बताऊँ, आप सभी विचारशील लोग हैं, साधक लोग हैं, मानव सेवा संघ के प्रेमी और मानव सेवा संघ के सिद्धान्तों के अनुयायी भाई-बहिन हैं, आपने अनुभव करके देखा होगा और नहीं देखा हो तो अब से अनुभव करके देख लीजिए। सुख-भोग में हृदय की नीरसता और शुष्कता बढ़ती है, और सुख को बाँटकर सेवा में लगाने से, हृदय की सरसता बढ़ती है। अब देख लीजिए अनुभव करके।

अब कोई कहे कि यदि कोई गुरु चमत्कार कर दे तो मेरा हृदय कोमल हो जाए, तो गुरु चमत्कार कर सकते हैं कि नहीं कर सकते, यह तो गुरुजन जानें। गुरु कोटि के लोग जानें। लेकिन इसमें आप स्वाधीन नहीं हैं। स्वाधीन आप किस बात में हैं ? स्वाधीन आप इस बात में हैं कि जीवन का जो सत्य है जिसको आप सत्य मानकर स्वीकार करें, उसके द्वारा अपने आप ही परिवर्तन आ जायेगा। इसमें आप स्वाधीन हैं।

आपको याद होगा कि जिन दिनों में स्वामीजी महाराज का सर्वहितकारी शरीर अस्वस्थ हो गया था, उन दिनों में सब प्रेमी, मित्र, चिकित्सक, डॉक्टर लोग स्वामीजी को सलाह देते कि महाराज आप अधिक श्रम मत करिए। हम लोग उनके पास बैठकर घड़ी देखते रहते, और आधा घण्टा अगर बोलते हुए हो गया तो धीरे से संकेत करते, ''महाराज आधा घण्टा हो गया, अब आप चुप हो जाइए।'' तो कभी-कभी भीतर से एकदम पीड़ित होकर महाराज के मुख से बात निकलती। एक बार उन्होंने ऐसा कहा-देवकी जी ! मुझको मना मत करो। देखो! जिसके दर्द होता है वह चिल्लाता है। तो मैं कथा नहीं कह रहा हूँ,

मैं अपनी व्यथा सुना रहा हूँ। मुझको मत रोको। क्या व्यथा है ? त्रिगुणातीत पुरुष, परम प्रेमास्पद परमात्मा के अभिन्न मित्र, नित्य निरन्तर उसके प्रेम में सराबोर रहने वाले सन्त महापुरुष की व्यथा क्या है ? वे किस पीड़ा से पीड़ित थे ? उनको केवल इस बात की व्यथा थी कि भाई ! मानव समाज अपने विकास में अपने को पराधीन न माने, इस बात की बड़ी पीड़ा थी।

अरे भाई ! तुम्हारे पास अल्प से अल्प सामर्थ्य है तो क्या ? उसी सामर्थ्य का सदुपयोग करो, तो दुनिया के बड़े-बड़े सामर्थ्यशाली को, सेवा की बड़ी-बड़ी योजना को पूरी करने के बाद जो जीवन मिलता होगा, वही जीवन अल्प सामर्थ्यवान को, अल्प सामर्थ्य के सदुपयोग से मिल सकता है। तुम पराधीन क्यों हो ? निराश क्यों हो ? निज विवेक का आदर करके, बड़े से बड़ा जो कोई विवेकी पुरुष हुआ होगा, उसको जो जीवन मिला होगा, वही जीवन तुम्हारे पास जो विवेक का प्रकाश विद्यमान है उसका आदर करके, प्राप्त करके कृत-कृत्य हो सकते हो, पराधीन क्यों बने हुए हो? ईश्वर को पसन्द करके, आज तक दुनिया में किसी भी भक्त को, भगवान के मिलन का जो आनन्द आया होगा, वही आनन्द, वही प्रेममय जीवन, परमात्मा से वही अभिन्नता, हम लोगों में से प्रत्येक भाई-बहिन को मिल सकती है। तुम निराश और पराधीन क्यों हो?

जब हम लोगों ने चेष्टा की कि महाराज विश्राम लें, तो बीमारी के दिनों में, पच्चीस दिसम्बर, एकादशी का दिन तो उन्होंने निश्चय करके रखा ही था, शरीर त्याग करने के लिए। उसके दो-तीन दिन पहले की बात है, सत्संग की बात बोलते जा रहे थे, तो फिर हम लोग ऐसे आस-पास खड़े हुए कहते, "महाराज, डॉक्टर लोग मना करते हैं अब आप आराम करें", तो हृदय उमड़ आया, उनकी आँखें सजल हो गईं और कहने लगे कि, "अरे भाई ! मेरे आस-पास में खड़ा हुआ मेरा एक भी मित्र जब तक मुझे पराधीन दिखाई देता है, मैं विश्राम कैसे लूँ"? उस महापुरुष की वाणी है, उस महापुरुष की खोज है कि मुझे जो चाहिए उसकी प्राप्ति में मैं पराधीन नहीं हूँ। तो पराधीन हूँ नहीं,

और पराधीन अपने को मानकर बैठ जाऊँ, तो इससे बड़ा प्रमाद और क्या हो सकता है ? उनकी यह अभिलाषा रही, हम लोगों के लिए उनकी यह प्रेरणा रही, और जब तक शरीर को उन्होंने काम के लायक समझा, तब तक उन्होंने हम लोगों को यह सन्देश दिया- "हे मानव! मानव होने के नाते अपनी मौलिक आवश्यकता की पूर्ति में अपने को पराधीन मत मानो, अर्थात् शान्ति, मुक्ति और भक्ति की अभिव्यक्ति में तुम सर्वथा स्वाधीन हो, अपने जीवन की इस महिमा को स्वीकार कर लो तो मानव सेवा संघ सफल हो गया।"

(23)

आज हम लोगों के सामने हमारे जीवन की एक बड़ी समस्या प्रस्तुत की गई है। हम लोग उसको इतनी स्पष्टरूप से अनुभव नहीं करते हैं। स्वामीजी महाराज इस समस्या को हमारे सामने रख रहे हैं कि मानव के जीवन का कितना बड़ा भ्रम (Illusion) है कि हम प्राप्त परमात्मा को अप्राप्त जैसा महसूस करते हैं। प्राप्त परमात्मा अप्राप्त मालूम होता है और कभी न प्राप्त होने वाला संसार प्राप्त मालूम होता है। वास्तव में परमात्मा अप्राप्त है नहीं, लेकिन मालूम होता है कि अप्राप्त है। और संसार प्राप्त है नहीं और मालूम होता है कि प्राप्त है। तो विपर्यय शब्द जिसको अंग्रेजी में Illusion कहते हैं उसका अर्थ यही है कि जो वस्तु जैसी हो, वैसी न मालूम पड़े, उससे कुछ भिन्न दिखाई दे, जैसे- आँख से देखना, कान से सुनना आदि पाँचों ज्ञानेन्द्रियों के आधार पर, इन्द्रियों के विषय की जानकारी प्राप्त होती है। वस्तु जैसी है वैसी जानकारी न हो, उससे कुछ भिन्न हो जाये तो उसका 'इल्यूज़न' कहते हैं। यही विपर्यय है, तो मानव के जीवन का सबसे बड़ा विपर्यय यही है कि प्राप्त परमात्मा अप्राप्त जैसा लगता है और अप्राप्त संसार जो है, वह प्राप्त जैसा दिखता है यह सबसे बड़ा Illusion है। इस भ्रम को, इस विपर्यय को मिटाये बिना मनुष्य के जीवन की समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता।

तो सबसे बड़ा प्रश्न, सबसे महत्त्वपूर्ण प्रोग्राम, हमारे जीवन का यह तय हुआ कि अप्राप्त संसार जो आज मुझको प्राप्त जैसा मालूम हो रहा है इस प्रतीति को, इस भ्रम को, इस विपर्यय को हम मिटा लें। मिटाने का अर्थ यह नहीं है कि शरीर को मिटा दें, कि संसार को मिटा दें। यह हमारे वश की बात नहीं है। शरीर को मैंने नहीं बनाया है, संसार को मैंने नहीं बनाया है, इसलिए कोई यह सोचे कि इस विपर्यय को मिटाने के लिए शरीर और संसार को मिटा दें, तो यह सम्भव नहीं होगा। विपर्यय तो मुझमें है, मैंने इस भ्रम को जीवन में पाला है, मैंने इस विपर्यय को अपने में रहने दिया है। मेरी भूल से यह भ्रम मुझ पर शासन कर रहा है और सत्संग के प्रकाश में हमारा यह भ्रम नाश हो सकता है। तो आज हम सब भाई-बहिन जो यहाँ बैठे हैं, तो मैं केवल कहने के लिए नहीं बैठी हूँ और आप केवल सुनने के लिए नहीं बैठे हैं। मुझको और आप सभी भाई-बहिनों को अगर यह भ्रम अपने लिए हानिकारक मालूम होता हो तो यहाँ बैठे ही बैठे, बातचीत करते ही करते, मेरे बोलते ही बोलते, आपके सुनते ही सुनते इस भ्रम का नाश यहीं पर हो जाना चाहिए और ऐसा हो सकता है। अभी मैं आधा मिनट का समय लेती हूँ चुप हो जाती हूँ, आप चुप हो जाइये। उसके बाद देखिए कि उस आधे मिनिट के भीतर प्राप्त की याद आती है कि अप्राप्त की याद आती है। (सभी शान्त हैं..................)

अपनी मनोदशा का परिचय पाकर हम सब लोग इस बात को स्वीकार करेंगे कि दार्शनिक दृष्टिकोण से सचमुच प्रतीत होने वाले संसार से किसी भाई-बहिन का नित्य सम्बन्ध नहीं है, कभी था नहीं, आगे होगा भी नहीं, आज है भी नहीं, परन्तु वर्तमान दशा की दृष्टि से यह पता चलता है कि थोड़ी देर के लिए प्रवृत्ति बंद कर दो, शरीर और संसार के साथ मिलकर काम करना छोड़ दो तो बाहर से निष्क्रिय होते ही मस्तिष्क जो सक्रिय होता है, उसकी सक्रियता में इस संसार का सम्बन्ध उभर कर और ज्यादा सामने आता है। यह आपका अनुभव है कि नहीं ? जी ! है। तो दार्शनिक सत्य है कि संसार सदैव ही अप्राप्त है और वर्तमान दशा का अनुभव हमारा है कि हम इस संसार के साथ बड़ी घनिष्ठता के साथ गुथे हुए हैं।

कभी शरीर की दशा की याद आ गई, कभी परिवार की दशा की याद आ गई, तो कभी स्नेही मित्रों की याद आ गई तो कभी आलोचना करने वाले विरोधियों की याद आ गई, तो कभी अपने पास रखे हुए सामान की याद आ गई, तो कभी अप्राप्त वस्तुओं की याद आ गई। इन बातों की याद जो आ गई स्वभाव से, बिना हमारे किए, बिना हमारे चाहे, तो यह दशा हमारी क्या बता रही है ? यह दशा मुझको यह बता रही है कि जो प्राप्त है उसको तुमने भुला दिया और जो अप्राप्त है, उसके चिंतन में फँसे हुए हो। परिचय मिल रहा है कि नहीं ? जी ! परिचय मिल रहा है।

मानव सेवा संघ के सिद्धान्तों से इस विषय पर विचार करिये। स्वामीजी महाराज से मैंने बातचीत की तो मुझे मालूम हुआ कि मानव सेवा संघ साधकों को ऐसा कभी नहीं कहता कि संसार को असत्य जानकर, संसार के सम्बन्ध को मिथ्या मानकर, संसार से विरोध करो, संसार की निन्दा करो, संसार से घृणा करो, संसार की उपेक्षा करो। इस विषय में महाराज जी से जब मैंने बहुत तीन-पाँच लगायी, जल्दी मानने को तैयार नहीं हुई तब उन्होंने कहा कि देखो ! मानव सेवा संघ की भाषा में इस प्रकार बोला करो कि मनुष्य का नित्य सम्बन्ध परमात्मा से है। संसार से नित्य सम्बन्ध नहीं है। नित्य शब्द का अर्थ क्या है ? जो सदा-सदा रहने वाला हो। पहले भी रहा होगा, आज भी है, आगे भी रहेगा, कभी नहीं टूटेगा, उसको नित्य सम्बन्ध कहते हैं। तो स्वामीजी महाराज ने सम्बन्ध शब्द के आगे "नित्य" शब्द जोड़ दिया।

मेरी समझ में यह बात सहज ही आ गयी। पहले ऐसा कहने को मैं राजी नहीं थी कि मनुष्य का सम्बन्ध संसार से नहीं है। तो महाराज जी ने कहा कि संसार से नित्य सम्बन्ध नहीं है। सदा रहने वाला सम्बन्ध नहीं है। तो कैसा सम्बन्ध है ? थोड़े दिनों का माना हुआ सम्बन्ध है। ऐसा कहने पर तो मेरे लिए यह बात ग्रहण करने योग्य हो गई। सम्बन्ध नहीं है, ऐसा कैसे कहें ? आँख बन्द करते ही सम्बन्धित व्यक्तियों के चेहरे दिखाई देते हैं और भुलाने की कोशिश करो कि हम

संसार का चिंतन नहीं होंने देंगे तो जबरदस्ती संसार का चिंतन सिर पर चढ़ता है। तो हम कैसे कहें कि संसार से मेरा सम्बन्ध नहीं है। तो स्वामीजी महाराज ने कहा कि देखो, ऐसे कहो कि संसार से नित्य सम्बन्ध नहीं है। आज किसी को पिता कहा, आज किसी को माता कहा, आज किसी को पुत्र कहा, पुत्री कहा। थोड़े दिनों बाद मेरा माना हुआ यह नाता खतम हो जाता है। तो थोड़े दिनों के लिए बीच में जो बात होती है, जो पहले नहीं थी, और आगे नहीं रहेगी तो विचारकजन उसको वर्तमान में भी नहीं करके स्वीकार करते हैं। और हम साधकजन क्या करें ? हमको तो शान्त होने पर, चुप होने पर, आँख बन्द करने पर मानस पटल पर संसार दिखाई देने लगता है। तो मानव सेवा संघ ने कहा कि मनुष्य का संसार के साथ जो सम्बन्ध है, उस सम्बन्ध का एक बड़ा सुन्दर उपयोग हो सकता है कि भाई ! परमात्मा के साथ तो नित्य सम्बन्ध मानो और संसार के साथ कर्त्तव्य का सम्बन्ध मानो।

मैं समझती हूँ, हम लोग जितने यहाँ बैठे हैं, किसी का भी साहस नहीं होगा कि वह झट से कह दे कि संसार से मेरा कोई संबंध नहीं है। राजकुमार सिद्धार्थ जैसा तिनका तोड़कर खड़ा हो गया- "मैं त्रिविध दुःख विनिवृत्ति हेतु, बाँधूँ अपना पुरुषार्थ सेतु ! सर्वत्र उड़े कल्याण केतु, तब हो मेरा सिद्धार्थ नाम, हे क्षणभंगुर भव ! राम-राम।" हे क्षणभंगुर भव, राम-राम। जब विदाई लेता है आदमी किसी से, तो 'राम-राम' कहता है। हे क्षणभंगुर संसार, आपको राम-राम अर्थात् आपसे मेरा अब कोई सम्बन्ध नहीं है। उस वीर पुरुष ने जैसे एक झटके में जन्म-जन्मान्तर के माने हुए संसार के सम्बन्ध को तोड़ दिया, उतनी हिम्मत हम लोगों में से किसकी है, यह तो व्यक्ति अपने आप जान सकता है, मैं तो जानती नहीं हूँ। मेरा अधिकार भी नहीं है कुछ कहने का। लेकिन मानव सेवा संघ सिद्ध महापुरुषों के लिए कोई सन्देश नहीं देता क्योंकि उनको जरूरत नहीं है।

इस संघ के तत्त्वावधान में जो सत्संग का कार्यक्रम चल रहा है वह साधकों की दृष्टि से चल रहा है। तो हम सब लोग साधक हैं। दार्शनिक सत्य को स्वीकार करते हुए भी वैज्ञानिक स्तर पर शरीर

और संसार के कारण फँसे हुए हैं। ऐसा आपको लगता है कि नहीं ? जी ! ऐसा लगता है। दार्शनिक सत्य को स्वीकार करते हुए भी जीवन के वैज्ञानिक स्तर पर शरीर और संसार को लेकर हम लोग जुड़े हुए हैं। तो यह कहना मुझको शोभा नहीं देता कि संसार से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं है। अरे कैसे कहें ? जिन व्यक्तियों को छोड़कर अकेले जाकर कहीं बैठ गये, आँखें बन्द कीं तो जिस घर को छोड़कर आये, जिन व्यक्तियों को छोड़कर आये, उनका चित्र दिखाई दे रहा है, वन में वृक्ष के नीचे बैठकर। तो कैसे कहें कि संसार से सम्बन्ध नहीं है ?

मानव सेवा संघ ने हम लोगों के लिए रास्ता निकाला कि भाई नित्य सम्बन्ध परमात्मा से मानो और संसार के साथ कर्त्तव्य का सम्बन्ध मानो। तो संसार के साथ माना हुआ जो सम्बन्ध है वह बड़ा सुन्दर साधन का रूप धारण कर लेगा। किसी को पिता माना है तो पिता के प्रति तुम्हारा क्या कर्त्तव्य है ? उसका पालन करने के लिए पिता मानो। पिता से कुछ लेने के लिए पिता मत मानो। तो संसार का सम्बन्ध और संसार का बन्धन, मुक्ति का साधन बन जाएगा। संसार में किसी को पति कह कर स्वीकार किया है तो पति के राग से मुक्त होने के लिए उसको पति मानो। जिस तरह से अपने भीतर के राग की निवृत्ति हो जाए, रुचि और वासनाओं का अन्त हो जाए, जो कुछ मिला है सो संसार के माने हुए सम्बन्ध वाले व्यक्ति की सेवा करके खत्म हो जाए, इसके लिए संसार का सम्बन्ध मानो, तो मनुष्य का व्यक्तित्व क्या रहेगा ? मनुष्य का व्यक्तित्व रहेगा-"कर्त्तव्य का पुञ्ज"।

अब आपका मन, पूछने का हो, जिज्ञासा जगे, कि मैं कौन हूँ ? जिज्ञासा होती है ना ? विचारपथ के साधक तो बड़ी-बड़ी बहस करते रहते हैं कि मैं कौन हूँ ? कहीं सुनाई देता है कि तुम ब्रह्म हो, कहीं सुनाई देता है, तुम आत्मा हो। आप लोगों ने सुना होगा, कोई पहली बार सत्संग की बैठक में थोड़े ही बैठे हैं। कितने वेदान्त सम्मेलन आप लोगों ने Attend किये होंगे। कितना विचारपथ का मंथन किया होगा। आपने सुना होगा कि व्यक्ति में जिज्ञासा जगती है कि मैं कौन हूँ ? तो विचारकजन बतला देते हैं कि तुम ब्रह्म हो, तुम जीव हो, तुम आत्मा

हो। भाई, न मैंने ब्रह्म को देखा, न जीव की परिभाषा समझ में आयी न आत्मा के कोनोटेशन (तात्विक परिभाषा) का मुझको पता है, तो मानव सेवा संघ ने कहा कि तुमको ऐसे अपरिचित और ऐसे अमूर्त, कोनोटेशन की जानकारी की क्या आवश्यकता है ? ऐसी बात अपने सम्बन्ध में क्यों स्वीकार करते हो कि जिसमें तुम निःसन्देह नहीं हो सकते हो। इसलिए भाई ! तुम अपने को सामने रख करके अपने से प्रश्न पूछो कि "मैं कौन हूँ ?" और अपने आपको उत्तर दे दो कि "मैं मानव हूँ"। फिर परमात्मा के साथ क्या करना है ? तो कहो कि परमात्मा से मेरा नित्य सम्बन्ध है, उसको अपना आत्मीय कहकर मानना है और दिखाई देने वाले संसार के प्रति कर्तव्य मेरी साधना है। तो संसार के लिए मनुष्य का व्यक्तित्व क्या है ? "कर्त्तव्य का पुंज" और परमात्मा के लिए मनुष्य का व्यक्तित्व क्या है ? "परमात्मा की प्रीति"।

मानव सेवा संघ ने फैसला कर दिया, कहीं कोई कन्फ्यूजन (उलझन) नहीं है। संसार की दृष्टि से तुम्हारा व्यक्तित्व क्या है ? कर्त्तव्य का पुंज। बाप को बाप मानो बड़ी खुशी से और शक्ति लगाकर बाप मानो और बाप की सेवा करके किसी के बेटा बनने के राग से मुक्त हो जाओ। कितना सुन्दर हो गया संसार का सम्बन्ध। अगर सचमुच तुमने निःस्पृह भाव से सेवा की है तो प्राकृतिक विधान से परिस्थिति ऐसी बदलती है कि सेवक के हृदय में विश्व प्रेम का ऐसा प्रादुर्भाव होता है कि उसमें सर्वेन्द्रियाँ डूब जाती हैं। रोम-रोम तृप्त हो जाता है, और प्रेम-समाधि लग जाती है। दो-चार दिन तक खुलती नहीं है। सारा संसार उसकी पूजा करने आ जाता है। उससे सेवा कोई नहीं माँगता। सेवा मेरी सिद्ध हो गई, इसकी पहचान यही है कि क्रिया भाव में डूब जाये और जब तक क्रिया का होश रहे, जब तक शरीर का होश रहे कि अब तक मुझे ठीक समय पर खाना मिल जाना चाहिए था और अब मेरे सोने का समय हो गया है, सब लोगों को हट जाना चाहिए था। जब तक एक शरीर की जरूरत की याद बनी रहे तब तक सेवा का दायित्व अपने पर मानना चाहिए और जब उस एक शरीर की क्रिया भी भाव में डूब जाएगी, उसकी जरूरत की याद अपने को नहीं

रहेगी तो संसार आप पर से सेवा का दायित्व स्वतः ही उठा लेगा, माँगने से भी नहीं देगा।

बड़ा सुन्दर विधान है जीवन का, और मानव सेवा संघ के रूप में स्वामीजी महाराज ने इतना स्पष्टीकरण कर दिया सचमुच यह विचारधारा समाज में प्रचलित रहे तो बुद्धिवादी लोग तो भटक नहीं सकते हैं। समझदार लोग समझ जाते हैं और उस मंत्र को पकड़कर पार हो जाते हैं। और जो लोग बहुत ज्यादा तीन-पाँच नहीं करने वाले हैं, उनके लिए तो और भी सरल रास्ता है। क्या है ? कुछ मत पूछो, परमात्मा कहाँ है ? कुछ मत सोचो कि तुम उसके भक्त हो जाओगे तो तुम्हारे वह साथ क्या करेगा। वह तुमसे अधिक तुम्हारा हितचिन्तक है। इसलिए बिना सोचे, बिना विचारे, बिना तर्क किए, बिना प्रमाण खोजे उस सामर्थ्यवान की शरण में अपने को डाल दो।

और मैं क्या बताऊँ स्वामीजी महाराज के सम्बन्ध में - रजत-जयन्ती स्मारिका जो मानव सेवा संघ की ओर से प्रकाशित करायी गई है, उसमें महाराज जी के सम्बन्ध में संस्मरण लिखने का प्रश्न आया। जीवन कथा तो लिखी नहीं जा सकती थी तो संस्मरण के लिए जब मैंने तथ्यों का संकलन करना प्रारम्भ किया तो एक अद्‌भुत घटना मुझे मालूम हुई ? क्या मालूम हुई ? महाराजजी ने अपने एक मित्र को सुनाया था कि आगरा से मथुरा जाते हुए जमुना के किनारे-किनारे अकेला जा रहा था तो अचानक नदी के किनारे से ढाह गिर गई, तो एकदम पानी में जाकर के पड़ गये। लाठी हाथ की छूट गई, लोग वहाँ थे नहीं, आँखों से दीखता नहीं, कि तैर करके किधर जाएँ ? किनारा किधर है ? तो अपने मन और शरीर को भगवान के भरोसे ढीला करके जल के ऊपर छोड़ दिया। अब यह खास बात है। जीवन में से निकला हुआ ईश्वर समर्पण है। हमारी तरह मुख से कहा जाने वाला समर्पण नहीं है। आप सोचकर के देखिए। इस समय हम लोग इस सत्संग भवन के भीतर सुरक्षित बैठे हुए हैं, किसी तरह की बाहरी आपत्ति-विपत्ति की सम्भावना नहीं है, तो ईश्वर-समर्पण का व्रत जो है, बड़ा अच्छा लग रहा है। जी ! कौन पड़े ज्ञान के फेर में, कौन जाए योग

का अभ्यास करने, बड़ा सहज पंथ है। भगवान के समर्पित हो जाओ, काम बन जाएगा। तो भगवत समर्पण की बात इस समय हम लोगों को बहुत सहज लग रही है, लेकिन समर्पण का अर्थ देखो। किनारे पर चलते-चलते ढाह गिर गई और इस मिट्टी के ढेर के साथ शरीर जल में जा पड़ा, हाथ की लाठी छूट गई, आँख से दिखता नहीं है, आस-पास कोई व्यक्ति नहीं है। ऐसे क्षण में जो ईश्वर के भरोसे उस जल में, मिट्‌टी में, और बालू में, शरीर को ढीला छोड़ सकता है, सोचो, उसमें कितना बड़ा ईश्वर का बल है। कितना बड़ा विश्वास है। तो क्या हो गया ?

ऐसा लगा कि जैसे किसी ने ऐसे हाथ पर उठा करके शरीर को सूखी जमीन पर डाल दिया। स्वामीजी को पता चल गया कि शरीर सूखी जमीन पर पड़ा है। तो उन्होंने हाथ टेका जमीन पर कि उठ करके खड़े हो जायें तो धरती पर हाथ टेकते ही हाथ में एक लाठी आ गई। किसने उठा करके खुश्की पर डाल दिया ? कौन लाठी बन करके हाथ में मुट्ठी में आ गया ? इसका नाम है ईश्वर विश्वास। वही परमात्मा जो नित्य प्राप्त है, अविश्वास काल में अप्राप्त जैसा लग रहा है, विश्वास काल में प्रत्यक्ष जैसा हो जाता है। ऐसा होता है, और सबके साथ हो सकता है। एक के लिए बात नहीं है। तो मैं अभी अपने लोगों की सेवा में अप्राप्त संसार जो प्राप्त जैसा लगता है, इससे पिण्ड छुड़ाने की चर्चा कर रही थी। अप्राप्त संसार जो प्राप्त जैसा लग रहा है, यह भ्रम कैसे मिटे, इसका उपाय आपकी सेवा में, मानव सेवा संघ के सिद्धान्त के अनुसार बता रही थी। तो यह उपाय मानव सेवा संघ में यह है, कि संसार को मिथ्या मत मानो और संसार का सम्बन्ध जब तुम अपने में महसूस कर रहे हो तो उसको मना मत करो, उसको साधन के रूप में बदल डालो।

सचमुच इसमें विश्वास तो नहीं करें और इसका महत्त्व भी न मानें और इससे कुछ लेने की आशा भी न करें। लेकिन इसकी छाप जो अपने अहम् में पड़ी हुई है, (मन में नहीं, चित्त में नहीं, शरीर में नहीं, इन्द्रियों में नहीं) मानव सेवा संघ ने मूल को पकड़ा, अहम् में जो

इसकी छाप पड़ी हुई है, उस छाप को मिटाने का उपाय है कि जो-जो सम्बन्ध संसार में स्वीकार किया, उसके प्रति पूरा-पूरा बल लगाकर सेवा कर दो, तो यह क्या कहलायेगा मानव सेवा संघ की भाषा में ? संसार के साथ आपका क्या सम्बन्ध है-''कर्त्तव्य का''। अब छोड़ दीजिए संसार को, जो नहीं है- उसके पीछे कितना पड़ेंगे हम लोग ! अब चलें उसकी चर्चा करें, जो सदा-सदा से है। तो सदा-सदा से है और अभी भी इसी क्षण में विद्यमान है, उसकी विद्यमानता का कोई मजा अपने में नहीं आ रहा है। उसकी विद्यमानता का मजा क्या है कि हृदय प्रेम से उमड़ता रहना चाहिए। इतना रस भरा रहे कि जो आपके परिपार्श्व में पहुँच जाये, उसको भी सरस-सा अनुभव होने लग जाए। उसकी विद्यमानता का मजा यह है।

मैं जीवन में प्रतिकूल परिस्थितियों से डट कर सामना करने के लिए जब खड़ी हो गई थी, तो शुष्क, नीरस, कठोर कर्त्तव्य के कारण हृदय बड़ा सूना-सूना सा रहता था। छात्रावास में रहने लगी। वहाँ पर एक क्रिश्चियन टीचर थी। हमारी बड़ी देखभाल करने लगी तो उनके पास जब मैं जाकर बैठूँ तो मेरे भीतर का सूनापन घट जाए। भीतर-भीतर परेशानी जो रहती थी उन दिनों में, बड़ी शान्ति लगे, तो मैं सोचूँ कि भाई क्या बात है ? इनके पास बैठने से ऐसा क्यों लगता है ?

एक दिन प्रार्थना के समय प्रातःकाल मैं उनके कमरे में पहुँच गई तो वे बैठी हुई थीं प्रार्थना के भाव में, मुझको देख करके, आँखें खोल करके मुझको अपने पास बैठा करके बातचीत करने लगीं और कहने लगीं- देवकी जानती हो, तुमको मालूम है, मैं खुदा बाप से क्या कह रही हूँ ? मैंने कहा-नहीं, टीचरजी मुझे क्या मालूम है ? आप बताइये, तो कहने लगी कि देखो, मैं कह रही हूँ कि हमारे पति जो हैं, मिस्टर स्मार्ट उनका नाम है, भगवान में विश्वास नहीं करते हैं, तो हमको अच्छा नहीं लगता है। तुम जानती हो मैं क्या कह रही हूँ ? मैं परमात्मा से कह रही हूँ कि हे पिता ! यह आदमी जब तक तुम में विश्वास नहीं करें तब तक तुम इसको अच्छी नौकरी मत देना। (श्रोता-हास्य) और मिस्टर स्मार्ट से क्या कहे कि आप Settled हो जाइये, आपकी नौकरी-

चाकरी ठीक-ठाक हो जाए तब आप आइयेगा, मैं रेजिंगनेशन (त्याग-पत्र) देकर चली चलूँगी आपके साथ। और जब वो चले जाएँ तो दिन-रात प्रार्थना कर रही हैं- हे पिता ! यह आदमी तुम पर जब तक ईमान न लावे, उनकी भाषा है बोलने की। यह आदमी जब तक तुम्हारे में विश्वास न करे, इसको सैटिल मत होने देना, इसको अच्छी नौकरी मत देना।

तो मैं क्या बताऊँ उस महिला की निष्ठा को, बहुत समय नहीं लगा, थोड़े समय में मिस्टर स्मार्ट भगवान में विश्वास करने वाले भी हो गये, प्रार्थना करने वाले भी हो गये और उन्होंने ईश्वर-विश्वास की बात को पसन्द किया कि बहुत अच्छी नौकरी भी मिल गई और हमारे देखते-देखते उनका घर भी बसा और हमारी टीचरजी ईश्वर-विश्वास का पाठ पढ़ाने वाली रेजिंगनेशन देकर चली गईं। तो जब उनके मुख से मैंने यह बात सुनी, तब मेरी समझ में आया कि इस व्यक्तित्व के पास पहुँचने से ही भीतर का सूनापन घटता क्यों है ? दिल में हर्ष आता क्यों है ? तो ऐसा होता है, ऐसा हो सकता है। ऐसा क्यों नहीं हो रहा है ? आप देखिए तो यह साधकों की भूल के कारण नहीं हो रहा है।

सिद्ध जीवन की चर्चा करना मेरा काम नहीं है और सिद्ध जीवन की चर्चा करने का मेरा अधिकार भी नहीं है। मैं साधक कोटि, साधकों की दृष्टि से आपकी बात, आपकी सेवा में निवेदन कर रही हूँ कि परमात्मा के प्रेम का मिठास इस हृदय में भरा रहना चाहिए था। उसकी जगह पर संसार के सम्बन्ध की खटाई, मिठाई भरी हुई है। कभी कड़वा स्वाद आता है, कभी खट्टा लगता है, कभी कैसा लगता है, कभी कैसा लगता है और आदमी इस तरह अपने परम मधुर रस के अनन्त स्रोत को भुलाकर, ओसकण चाटकर, प्यास बुझाने की चेष्टा में, जिन्दगी बर्बाद कर रहा है, तो संत ने क्या कहा ?

संत ने कहा, कि तुमको दिखाई भी नहीं देगा परमात्मा प्रारम्भ में, और तुम्हारी जानकारी का विषय भी नहीं बनेगा, लेकिन इसकी चिन्ता तुम मत करो। तुम्हारी समझ में नहीं आता है तो मेरे कहने से मान लो और भरी सभा में कोई प्रश्न कर देता है कि महाराज भेंट

मुलाकात तो हुई नहीं, देखा तो है नहीं, जानते तो हैं नहीं तो कैसे मानें? तो कहते कि- मैं तेरी छाती पर चढ़कर कह तो रहा हूँ कि परमात्मा है। (श्रोता-हास्य) तू नहीं जानता है तो मेरे कहने से मान ले। आज इस क्षण में, इस पुण्य अवसर पर, उस महामानव की वाणी को हृदय में आदर दें। जिस नेत्रहीन की लाठी भी छूट गई, साथी भी कोई नहीं था। बाह्य दृष्टि से ऐसी घोर असमर्थता की घड़ी में, संकट की घड़ी में जिसने उनको हाथ से उठाकर खुश्की पर रख दिया, वही परमात्मा, वही आपका परम हितैषी, परम-प्रेमी, हम लोगों को भवसागर की लहरों से उठाकर अपने साम्राज्य में पहुँचा दें।

(24)

मानव सेवा संघ की प्रणाली में बुराई रहित होना साधन बताया गया है। साधन क्या है ? बुराई रहित होना। उपासना क्या है ? परमात्मा से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना। भजन क्या है ? आत्मीयता के फलस्वरूप परमात्मा के प्रति प्रियता का उदित होना। प्रिय की मधुर स्मृति का जाग्रत होना भजन है और प्रेम के आदान-प्रदान में प्रेमी के अस्तित्व का खो जाना भगवत मिलन है। यह संघ की पद्धति है। अब आप साकार उपासक बनेंगे, कि निराकार उपासक बनेंगे, कि दो भुजावाले की आराधना करेंगे, कि चार भुजा वाले की, अष्ट भुजा वाले की, कि सहस्त्र भुजा वाले की, कि शंख, चक्र, गदा, पद्म धारण करने वाले की, कि वंशी वाले की या धनुषधारी की। ऐसे कोई भेदभाव मानव सेवा संघ नहीं मानता। परमात्मा तत्त्व है। वह श्रद्धा विश्वास का विषय है और बाकी जितनी बातें, उसके सम्बन्ध में अलग-अलग रूप, अलग-अलग नाम, अलग-अलग गुण इत्यादि की हैं, ये तो व्यक्तिगत विचार और रुचि की भिन्नता का विषय है। इसलिए मानव सेवा संघ अपनी ओर से, किसी विशेषरूप, किसी विशेष नाम का न आग्रह करता है, न विरोध करता है।

मूल बात क्या है ? बुराई रहित हो जाओ तो साधक बन गये। अब आप हिन्दू हैं कि मुसलमान हैं, ईसाई हैं कि बौद्ध हैं, जैन हैं कि सिक्ख, पारसी हैं ? दुनिया के कौन से मतावलम्बी हैं, इससे मानव सेवा संघ को कोई सम्बन्ध नहीं है। तुम किसी मत को मानो, तुम किसी देश में रहो, तुम्हारा कोई विधि-विधान हो, तुम्हारी कोई वेश-भूषा हो, तुम्हारी कोई भाषा हो, सभी मानव सेवा संघ की दृष्टि में मानव हैं, साधक हैं और इस एक मंत्र को मानकर सबका विकास हो सकता है, कि भाई ! जीवन में कोई साधना करनी है तो केवल इतनी कि बुराई रहित हो जाओ। बुराई को रखकर के, किसी विधि-विधान से मनुष्य को शान्ति मिल जाती हो, मुक्ति मिल जाती हो, भक्ति मिल जाती हो, तो यह बिल्कुल कोरी झूठी बात है। मन बहलाव है, भ्रम है, प्रमाद है, और कुछ नहीं है।

यह मानव सेवा संघ की शोध है। बुराई रहित हो जाओ, साधना हो गई। बुराई रहित कैसे हो जाओ ? उसके सम्बन्ध में भी सुन लीजिए, बड़ी बढ़िया बात है। बड़ी आशाजनक बात है। आप सभी मानव सेवा संघ के प्रेमी हैं और बहुत से भाई यहाँ ऐसे बैठे हैं, जो विभिन्न शाखाओं में, मानव सेवा संघ के तत्त्वावधान में विचारगोष्ठी करते हैं, शाखाओं में सभा चलाते हैं, सत्संग का कार्यक्रम चलाते हैं, जिन्होंने अपना कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माण में भाग लेना पसन्द किया है। बुराई रहित हो जाना तो पहली बात हो गई। बुराई रहित किस तरह से हो जाएँ ? अपनी दुर्बलता को प्रकाशित करके। उसका भी एक अभिमान हम लोग रखते हैं, कि हम तो बड़े बहादुर हैं। अपनी दुर्बलता, अपनी गलती सबके सामने कह देते हैं, तो इतने से काम नहीं बनेगा।

यह कह देना कि क्या बताऊँ, क्रोध मुझको पसन्द तो नहीं है, क्रोध रहित जीवन मैं चाहता जरूर हूँ लेकिन हमारे से क्रोध छोड़ा ही नहीं जाता, मिटता ही नहीं है। न चाहने पर भी आ जाता है। तो ऐसा कह देने से माफी नहीं हो जाएगी। साथ के रहने वाले तो माफ कर देंगे। अरे भाई, जाने दो। लाचार है, क्या करे ! इससे रुकता नहीं है।

सह लो। साथ वाले तो सह लेंगे लेकिन आप सोचकर देखिए, कि क्रोध के आवेश में, हृदय का जो रस सूख जाता है, क्षोभ के कारण से जीवनी शक्ति का जो ह्रास हो जाता है, प्रकृति के विधान से इसका परिणाम आपको भोगना ही पड़ेगा, उससे कैसे बचिएगा।

जीवन में माँग है रस की, और यह कैसा Vicious Circle है, दुश्चक्र है, देखिए। रस की कमी से व्यक्ति क्षुब्ध और क्रुद्ध होता है और क्रोधित, क्षुभित होने से जीवन का रस सूखता है। इस चक्र से परित्राण कहाँ है भाई ? कैसे बनेगा ? तो आप मानव सुलभ दुर्बलता को प्रश्रय मत दीजिए। हमारे युग के शरीर विज्ञान, मनोविज्ञान के जानने वाले अपने को विद्वान समझने वाले लोग खुद भी भ्रम में रहते हैं और दूसरों को भी भ्रम में डालते हैं। क्या कहते हैं ? यह तो मनुष्य का स्वभाव है, कैसे मिटेगा, काम, क्रोध लोभ, मोह। मैंने भी साहित्यिक भाषा में खूब लिखा है। मानव सुलभ दुर्बलता, लोभ, मोह, काम, क्रोध को मानव सुलभ कह देने का एक राग मैंने भी खूब अलापा है और बड़ा गौरव प्राप्त किया है कि बड़ी अच्छी साहित्य रचना करती हूँ। लेकिन यह भूल है।

मानव सेवा संघ ने क्या कहा, कि तुम्हारा स्वरूप अविनाशी है, और परम प्रेम तुम्हारे जीवन की माँग है। तुम अपने को लोभी मोही, कामी, क्रोधी स्वीकार ही क्यों करते हो ? तुम स्वीकार करोगे तो यह विकार तुम्हारे सिर पर चढ़े रहेंगे। तुम अस्वीकार करोगे, तो तुम्हारी हस्ती से अलग हो जाने पर इनका स्वतन्त्र अस्तित्व नहीं होने से ये समाप्त हो जावेंगे। भूल को भूल जानते हुए भी अपनी जिन्दगी की सत्ता देकर भूलों को सत्तावान बनाए रखना और फिर उन्हीं से आक्रान्त होकर दु:खी होना और दूसरों को दु:खी करना, यह साधक का काम नहीं है। यह साधक का लक्षण नहीं है।

स्वामीजी महाराज बढ़िया-बढ़िया बातें बताते थे। एक दिन मैं जयपुर में सत्संग की सभा में बोल रही थी, तो महाराज की एक-एक बात बोलती जाऊँ और नई-नई बात सूझती जाए, तो एकदम मुझको याद आ गया। मैथिलीशरण गुप्त ने लिखा है न भगवान राम के चरित्र

के बारे में- "राम तुम्हारा वृत्त स्वयं ही काव्य है, कोई कवि बन जाए सहज सम्भाव्य है।" मुझे लगा कि स्वामीजी की बातों को लेकर के सहज ही वक्ता बना जा सकता है। इतनी बातें हैं कि जिसका कोई अन्त नहीं। महाराज ने बुराई रहित होने के सम्बन्ध में क्या कहा कि देखो, भलाई की स्वतन्त्र सत्ता होती है। ठीक है न। सत्य की स्वतन्त्र सत्ता है। उदारता, स्वाधीनता, परम-प्रेम इनकी स्वतन्त्र सत्ता है। पर-पीड़ा से पीड़ित होना आदि मानवता के जो उदात्त लक्षण हैं, इनकी तो स्वतन्त्र सत्ता है, इनका कभी नाश नहीं होता। लेकिन उदारता के विपरीत अनुदारता, दयालुता के विपरीत कठोरता, त्याग संयम सेवा के विपरीत व्यसन विलास। ये सब आदमी की भूल से उत्पन्न होते हैं। तो जिसकी उत्पत्ति हुई है, उसका नाश हो जाना बहुत स्वाभाविक बात है।

यह सोचना कि लोभ, मोह, काम, क्रोध आदि प्रकृति के दोष हैं, इनका नाश नहीं होगा, यह भूल है। सच्चाई, अच्छाई और भलाई जो है वह अविनाशी परमात्मा में से प्रकट हुई है, इसलिए ये गुण अविनाशी हैं और अपने विवेक के अनादर से भूल हम करते हैं, वह भूल नाशवान है। मानव सेवा संघ ने कहा कि तुमने भूल स्वीकार की है इसलिए कि तुम्हारे में विकार है। तुम अपनी की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत ले लो तो सभी भूलें निर्मूल हो जाएँगी। यह है मानव सेवा संघ के बुराई रहित होने का साधन। हम इसे कर सकते हैं कि नहीं ? कर सकते हैं। कोई कहे कि गोवर्धन की परिक्रमा बड़ा बढ़िया साधन है, तो जिसको पैर से चला न जाता हो वह कैसे करे ? नहीं कर सकता है। कोई कहे कि निर्जला एकादशी बहुत अच्छा व्रत है, तो जिसका स्वास्थ्य ठीक न हो, जिसके पेट में Acidity हो, २४ घण्टे निर्जल कैसे रहेगा ? उतने में तो शरीर जल-भुन जाएगा, वह एकादशी व्रत नहीं कर सकता है।

मानव सेवा संघ व्यक्तिगत भिन्नता के आधार पर अर्थात् व्यक्तिगत रुचि, योग्यता, परिस्थिति, बनावट के आधार पर जितने विभिन्न प्रकार के साधन हैं, उनका समर्थक और विरोधी नहीं है। समर्थन भी नहीं

करता और विरोध भी नहीं करता है। क्यों ? क्योंकि यह तो व्यक्तिगत भिन्नता की बात है। जो करने योग्य साधन है, जिसकी रुचि, जिसकी सामर्थ्य, जिसकी जैसी परिस्थिति हो अपना लो। हम हाँ भी नहीं करते, हम ना भी नहीं करते, लेकिन जो नहीं करना चाहिए, वह किसी को नहीं करना होगा। बुराई नहीं करनी चाहिए, तो बुराई सब किसी को छोड़नी होगी, और बुराई छोड़कर के फिर चाहे निर्जला एकादशी कर सको चाहे न कर सको, तुम्हें सिद्धि मिलेगी। बुराई छोड़ देने पर परिक्रमा दे सको अथवा न दे सको, तुम्हें सिद्धि मिलेगी।

ऐसे सर्वमान्य सत्य का समर्थक मानव सेवा संघ है। बुराई रहित होने का मंत्र बताया स्वामीजी महाराज ने- रात्रि को सोते समय, एक बार अपने सम्बन्ध में विचार कर लो और अपनी दृष्टि से कोई भूल दिखाई देती हो तो उसको छोड़ने का व्रत ले लो और उसको छोड़ने का निश्चय करने के बाद, फिर अपने को कभी भी बुरा मत समझो। बुराई छोड़ने के बाद भी, हम लोग अपने को भीतर-भीतर बुरा समझते रहते हैं और बड़े गौरव से स्वीकार करते रहते हैं कि मैं क्या बताऊँ, मुझमें तो बड़ी दुर्बलताएँ हैं। तो वर्तमान में कोई बुराई आप कर नहीं रहे हैं तो भूतकाल की बुराई को आप स्वीकृति के द्वारा क्यों सजीव बना रहे हैं। यह भूल छोड़ दीजिए तो बुराई रहित हो सकते हैं और आपके अहंरूपी अणु में इतनी सामर्थ्य है, इतनी सामर्थ्य है कि एकबार आपने अपने को निर्दोष स्वीकार कर लिया, तो फिर उस दोष की उत्पत्ति आपके जीवन में नहीं होगी।

अहंरूपी अणु में बड़ी सामर्थ्य है। अब आप देखिए-गोस्वामी तुलसीदास जी के जीवन की कथा है। वे गृहस्थ थे और पत्नी पीहर गई और पत्नी की आसक्ति में उसके पीछे जल्दी ही पहुँच गये ससुराल, अभी वह महिला माता-पिता से, सखी-सहेलियों से मिल ही रही थी। तुलसीदास जी के पहुँच जाने से, उसको बड़ी खीझ लगी कि अभी-अभी तो मैं आई हूँ इनके पास से, और यह भले आदमी तुरन्त यहाँ पहुँच गये। सो उसने डाँट दिया। कह दिया कि, इस हाड़-मांस-चाम के शरीर में आपको इतनी आसक्ति है कि आप दो-चार दिन भी

इसके बिना नहीं रह सके, अभी-अभी मैं आई हूँ, सगे-सम्बन्धियों से मिलना भी नहीं हुआ और आप पहुँच गये। इतनी प्रीति आप परमात्मा में करते तो आपका उद्धार हो जाता। अब आप सोचकर देखिए मुझको बड़ी सहानुभूति होती है, उस महापुरुष के प्रति। बचपन में तो माँ-बाप का प्यार नहीं मिला। दासी ने पाला। वह दासी भी उनको छः साल की छोटी उमर में छोड़कर मर गई। भटक-भटक कर, बिलखते-बिलखते पाले गये। शादी होने पर अच्छी सुशीला पतिव्रता प्रेम करने वाली स्त्री मिली तो उनका सारा Emotion, सारा संवेग उसी पर उमड़ पड़ा।

अब आप देखिए, इतनी गहरी आसक्ति थी जिस पर एकबार उनको ठेस लगी और उन्होंने सोच लिया कि अच्छी बात ! तुमने जो कहा है सो ही करके रहूँगा, तो सारी आसक्ति उस महापुरुष ने एक झटके में तोड़ दी, कि नहीं तोड़ दी ? तुलसीदासजी के मुख से कभी यह रोना गाना किसी ने नहीं सुना, कि क्या बताएँ स्त्री की ओर से मन हटाना चाहता हूँ पर हटता नहीं है। सुना है किसी ने। उनके जीवन में, ऐसा हुआ ही नहीं। हमारे आपके अहंरूपी अणु में भी इतनी सामर्थ्य है, कि जिस समय, जिस जगह पर हम विकार पर विजय पाना चाहें, पा सकते हैं। जिस बुराई का नाश करना चाहें, कर सकते हैं। इसमें अनन्त परमात्मा का, प्रभु का मंगलकारी विधान बड़ा सहायक होता है।

एक साधक थे, वे गुरु के पास जाते थे। चाय पीने के बड़े शौकीन थे। उनको नुकसान करती होगी या कुछ बात होगी, गुरु ने कह दिया, भाई ! क्या गन्दा-गन्दा पानी पीते रहते हो। पहले दो-चार बार और टोका होगा, छूटी नहीं थी आदत। वह साधक खुद ही कह रहे थे कि स्वामीजी महाराज ! उसके बाद चाय की ओर मुझसे देखा भी नहीं जाता है। तो यह भी बात है। बुराई को बुराई जानकर छोड़ने की चेष्टा करने पर, आपके अहंरूपी अणु में जो इतनी सामर्थ्य है वह सहायक हो जाती है। शरीर दुर्बल हो सकता है, आप बे पढ़े-लिखे हो सकते हैं। आप धनहीन हो सकते हैं। आपके कुटुम्बियों ने विरोध

करके आपको त्याग दिया हो, ऐसा हो सकता है, लेकिन शरीर के दुर्बल होने से, धन के कम होने से, साथियों के छोड़ देने से, आपके अहंरूपी अणु की शक्ति नहीं घटती है। ऐसी असहाय अवस्था में भी जब एक पैसा भी साथ में नहीं, एक साथी भी साथ में नहीं और शरीर भी रोगग्रस्त होकर साथ नहीं दे रहा है, तब भी आप बुराई का त्याग करना चाहते हैं तो कर सकते हैं, क्योंकि शरीर का बल घटता है, बढ़ता है परन्तु अहंरूपी अणु में जो अविनाशी तत्त्व विद्यमान है उसके आधार पर उसकी शक्ति नहीं घटती है। तो हम असत्य को अस्वीकार करना चाहें तो कर सकते हैं। सत्य को स्वीकार करना चाहें तो कर सकते हैं और बुराई रहित होने की आवश्यकता आप अनुभव कर रहे हैं और आपको लगता है कि क्या बताऊँ, मुझसे छोड़ा नहीं जाता। तो यदि आप सचमुच ईमानदारी से Sincerely, बुराई रहित होना पसन्द कर रहे हैं और आपकी सामर्थ्य से बुराई नहीं छूट रही है तो अनन्त की अहैतुकी कृपा से वह बुराई आपके जीवन में से चली जाएगी, ऐसा होता है।

एक साधक की कथा सुनाई स्वामीजी ने। उन साधक ने खुद ही बताया था स्वामीजी महाराज को। उनके गुरु ने कहा कि मांस खाना छोड़ दो। अच्छी बात छोड़ दिया। बड़े ऑफिसर थे Class one post पर। वहाँ उसका श्रृंगार यह भी माना जाता है कि खूब खाया-पिया जाये। जब चार-छः महीने छोड़े हुए हो गये थे, किसी दिन किसी मण्डली के फेर में पड़ गये और मांस खा लिया, उसके बाद उनके ध्यान में आया कि गुरु महाराज ने तो मना किया था। तो वे सज्जन अकेले में बालक की तरह रोए, दरवाजा बन्द करके, हाय री जुबान तूने गुरुजी की बात नहीं मानने दी, हाय री जुबान तूने गुरुजी की आज्ञा की अवहेलना करा दी। उसके बाद फिर कभी उनको मांस खाने की रुचि ही नहीं हुई। रोकना पड़ा हो सो नहीं। रुचि ही जड़ से खत्म हो गई।

दो बातें महाराजजी ने कही हैं ? पहली यह कि जीवन का बड़ा भारी पुरुषार्थ है बुराई रहित होना और उस बुराई रहित होने में दो

बातें Basic-truth अर्थात्, मौलिक सत्य है कि आपके अहंरूपी अणु में, अपार शक्ति भरी पड़ी है। आप तय कर लेंगे कि इस बुराई को जीवन में नहीं रखना है, तो वह नहीं रह सकती है और दूसरी यह कि फिर भी किसी समय आपको दुर्बलता मालूम होती हो और आप बुराई रहित होने के लिए व्याकुल हो जाएँ, तो आपका जो परम हितैषी सामर्थ्यवान है वह आपकी बुराई को उसी समय मिटा देगा, फिर आपको कोई प्रयास नहीं करना पड़ेगा। तो यह साधन का पहला कदम है।

दूसरी बात क्या है ? दूसरी बात यह है कि मानव सेवा संघ ने प्रत्येक व्यक्ति की बनावट के अनुसार उसकी व्यक्तिगत साधना में, उसको सर्वदा स्वाधीन माना है। व्यक्ति को अपनी व्यक्तिगत-साधना में पूरी स्वाधीनता से आगे बढ़ना चाहिए। व्यक्तिगत साधना क्या है ? बुराई रहित होना तो सर्वमान्य सत्य है और व्यक्तिगत रुचि क्या है ? तो किसी की साकार उपासना में रुचि है। आकार में भी किसी को रामरूप पसन्द है, किसी को कृष्णरूप पसन्द है, किसी को शक्तिरूप पसन्द है। किसी को निराकार पसन्द है। मानव सेवा संघ ने कहा कि प्रत्येक भाई को, प्रत्येक बहिन को अपनी व्यक्तिगत साधना में पूर्ण स्वाधीनता है। नाम लेना चाहते हैं, कि जप करना चाहते हैं, कि ध्यान करना चाहते हैं, कि समाधि लगाना चाहते हैं, कि भजन करना चाहते हैं, कि कीर्तन करना चाहते हैं, कि नमाज पढ़ना चाहते हैं, कि गिरजाघर जाना पसन्द करते हैं, कि गुरुद्वारा आपको अच्छा लगता है। व्यक्तिगत साधना में हर भाई-बहिन को पूर्ण स्वाधीनता है। लेकिन जब व्यक्तिगत साधना में व्यक्ति स्वयं गहराई में उतरता है, और व्यक्तिगत साधना के द्वारा, अन्दर के अन्धकार को मिटाकर, नीरसता को मिटाकर अपने में ही विद्यमान जो सत्य है, उसकी अभिव्यक्ति के द्वारा जब अन्तर में बल प्रकट होने लग जाए, अन्तर में रस प्रकट होने लग जाए तब ऐसा साधक अपनी साधना का प्रचार करने की कभी नहीं सोचता।

भीतर-भीतर सन्तुष्टि आने लगती है, रस आने लगता है। किसी के पूछने पर भी वह सहज से बताना नहीं चाहता। अरे कुछ नहीं, मैं

तो ऐसे ही। लेकिन व्यक्तिगत साधना के द्वारा आपने जीवन की सुन्दरता को बढ़ाया नहीं, विश्वप्रेम की भावना जीवन में आई नहीं, प्राणीमात्र का हित आपके हृदय में बसा नहीं, ईश्वर की उपस्थिति का आभास आपके अन्तर में मिलता नहीं, तब क्या होता है। बाहर के विधिविधान के प्रति इतनी आसक्ति हो जाती है व्यक्ति की, कि वह उसी का आग्रह लेकर जिसको-तिसको जो पकड़ में आ जाये उसी को समझाना चाहता है कि यह साधना बड़ी बढ़िया है। मानव सेवा संघ ने इस बात के लिए मना किया है, महाराजजी ने क्या कहा ? अपने मत, अपने विचार, अपनी साम्प्रदायिकता, अपनी रुचि, अपनी बनावट के अनुसार तुम व्यक्तिगत साधना में स्वाधीनता-पूर्वक आगे बढ़ो, अपनी साधना का अनुसरण खुद करो, परन्तु दूसरों की साधना का विरोध मत करो, हँसी मत उड़ाओ, अपनी साधना के द्वारा अपने जीवन को ऊँचा उठाओ लेकिन अपनी साधना को दूसरों पर आरोपित करने की चेष्टा मत करो। यह बताया।

यह क्या है ? यह मानव सेवा संघ की धार्मिक क्रान्ति है। आप सोचकर के देख लीजिए। मानव समाज में युगों-युगों से मानव समाज के धार्मिक सम्प्रदायों में बड़ा संघर्ष चलता रहा है, क्यों ? विभिन्न प्रकार के मजहब क्यों ? इसलिए कि विभिन्न प्रकार के मनुष्यों की रचना ऐसी ही है। तो व्यक्तिगत भिन्नता तो प्राकृतिक तथ्य है। इसको जो स्वीकार करता है वह कभी भी अपने व्यक्तिगत मत को दूसरों पर आरोपित करने की चेष्टा नहीं करता है। लेकिन मैं क्या बताऊँ यह Sense of Inferiority हीनता की भावना जो है अपने में, उसके कारण अपना जीवन भरपूर नहीं होता। भीतर-भीतर तो सूना-सूना लगता है। ऊपर से, मेरा मत बड़ा बढ़िया है, मेरा सम्प्रदाय बहुत बढ़िया है, मेरी साधना बड़ी बढ़िया है, ऐसा कह कर दूसरों पर प्रकाशित करके, एक प्रकार से व्यक्ति अपनी Inferiority हीनता की भावना को घटाना चाहता है। इसी भावना से वह कहता है कि मैं बहुत जानता हूँ, मैं तो उत्तम साधना करता हूँ, आप सब लोग इसको सुन लीजिए। आप सब लोग इसको मान लीजिए। यह बड़ी अच्छी चीज है। यदि उसको पूछा जाए

कि बड़ी अच्छी चीज तो है पर तुम्हारी बीमारी गई या नहीं गई ? सो मत पूछना। साधना तो मेरी बड़ी बढ़िया है, सब लोग इसी को मानो, और इसी को मानो तो तुम्हारा उद्धार होगा। कोई पूछे कि जिस साधना के लिए आप ऐसे कह रही हैं उस साधना से आपका उद्धार हुआ या नहीं ? सो मत पूछो।

मानव सेवा संघ इस प्रकार के आग्रह को मना करता है, अपने मत का अनुसरण करके, अपने जीवन को उन्नत बना लो। लेकिन क्या होता है। देखिए इसमें बड़ा रहस्य है। साधक जब व्यक्तिगत साधना के पथ पर चलने लगता है तो थोड़ी-थोड़ी प्रगति होने लगती है, और उसकी बनावट के अनुसार थोड़ा-थोड़ा अनुभव भी होने लगता है तो व्यक्तिगत साधना के फलस्वरूप उत्पन्न होने वाली, जो मार्ग की थोड़ी बहुत उपलब्धियाँ और अनुभव हैं, उनको जब व्यक्ति सबके ऊपर लगाना शुरू कर देता है तो वह साधना न रहकर असाधना बन जाती है। उपलब्धि न रहकर आग्रह बन जाता है। मानव सेवा संघ ने इस आग्रह को मना किया है। सत्य को स्वीकार करके तुम अपने ढंग से आगे बढ़ो, तुम्हारा जीवन अगर सफल हो जाएगा, तुम्हारा हृदय अगर ईश्वरीय प्रेम से भर जायेगा, तो वह कल्याणमय जीवन दूसरों के लिए बहुत आराम देने वाला होगा। लेकिन तुम्हारी साधना से, तुम्हारे जीवन का विकास नहीं हुआ और उस साधना का आग्रह लेकर के तुमने मानव समाज के बीच में विरोध की दीवार खड़ी कर दी, वर्गीकरण कर दिया, विभाजन कर दिया, संघर्ष पैदा कर दिया, तो भोजपुरी में हमारे यहाँ एक कहावत कहते हैं, "आये थे हरि भजन को, ओटन लगे कपास।" चले थे साधना करने, फँस गए घोर असाधन में।

मानव सेवा संघ इस बात के लिए हम लोगों को बहुत सावधान करता है कि भाई ! तुम्हारा इज्म, तुम्हारा मत, तुम्हारा सम्प्रदाय, तुम्हारी साधना तुम्हारे काम आयेगी। तो अपनी व्यक्तिगत साधना में तुम पूर्ण स्वाधीन रहो। और दूसरों को उनकी व्यक्तिगत साधना में स्वाधीन रहने दो। तो इस विधि से संसार में से धर्म के नाम पर होने वाले, धर्म विभाजन को मिटाया जा सकता है। मजहब के नाम पर होने

वाली गैर मजहबी कुरीतियों का नाश किया जा सकता है। स्वामीजी महाराज की यह एक बड़ी भारी देन है मानव समाज को, कि हम सब लोग धर्म के वास्तविक स्वरूप पर विचार करलें और प्राणी मात्र के साथ आत्मीयता रखते हुए, सबका कल्याण हो, सबका भला हो, सबको मार्ग मिले, सबका सुधार हो, यह भाव रखते हुए किसी के मत का, किसी के मजहब का, किसी के विधि-विधान का, न हमें खण्डन करना चाहिए, न हमें विरोध करना चाहिए, न हँसी उड़ानी चाहिए, न उसे हेय समझना चाहिए। ऐसा नहीं करना चाहिए।

यह एक खास बात है जो मानव सेवा संघ के प्रेमियों को जाननी चाहिए। दूसरे मजहब का आदमी भी, दूसरे मत-सम्प्रदाय का आदमी भी, आदमी है, और जीवनदाता को समान रूप से प्रिय है। उनको तो सृष्टि की विविधता में मजा आता है, तो कहीं कुछ कर देते हैं, कहीं कुछ कर देते हैं। कहीं किसी भाषा में, कहीं किसी ढंग में बना देते हैं। तो मानव होने का अर्थ क्या है ? मानवीय गुणों का विकास करो। कैसे करो ? जैसे तुमको पसन्द आए वैसे करो। जैसे तुमसे बने वैसे तुम करो और जैसे दूसरे करना चाहते हैं उन्हें करने दो। तो अपने मत का अनुसरण करो, और सभी के मत का आदर करो। अपने मत का अनुसरण करो, दूसरे के मत का विरोध मत करो। प्रभु के नाते, जगत के नाते, आत्मा के नाते, सभी को अपना आत्मीय जानकर उनका भला मनाओ। तो अपने मत के अनुसरण से मैं स्वयं सुन्दर हो जाऊँ और दूसरे अपने-अपने रास्ते चलते रहें, किसी का मैं आग्रह नहीं करूँ, किसी का मैं विरोध न करूँ। अगर यह दृष्टिकोण आज मानव समाज स्वीकार कर ले तो मत के आधार पर, मजहब के आधार पर, समाज में से संघर्ष खतम हो जाए।

मानव सेवा संघ के लोगों को इस बात को जानना चाहिए। और इसी आधार पर विचार-गोष्ठी चलानी चाहिए कि भई, बुराई रहित होना साधन है और ईश्वर से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना उपासना है। अब ईश्वर की कल्पना तुम्हारे जी में कैसी है सो तुम जानो। तत्त्व एक ही है और उसके प्रेम से ही मानव हृदय की पूर्णता होती है। इसमें

कोई भेद नहीं है। ईश्वरीय प्रेम से ही मनुष्य का जीवन परिपूर्ण होता है। इसमें हिन्दू, मुसलमान, ईसाई का भेद नहीं है। ईश्वर का प्रेम मूल बात है। गिरजाघर में मिला कि, मस्जिद में मिला कि मन्दिर में मिला यह खास बात नहीं है। मानव सेवा संघ की सूझ है, मानव सेवा संघ की खोज है, मानव सेवा संघ का सन्देश है कि ईश्वरीय प्रेम आपको चाहिए। कैसे मिलेगा ? कि बिना देखे, बिना जाने परमात्मा में विश्वास करो, उसको अपना मानो, उसको प्यार करो, उसके आश्रित हो जाओ, उसके शरणागत हो जाओ। फिर तुम चाहो, मन्दिर में जाओ, चाहे मस्जिद में जाओ, चाहे गिरजाघर में जाओ, चाहे गुरुद्वारे में जाओ। कोई फरक नहीं पड़ता।

तो मानव सेवा संघ ने मानव जीवन के मूल तत्त्वों को लेकर जन समाज के सामने रखना पसन्द किया। जिसके आधार पर हर व्यक्ति, अपने-अपने मजहब के अनुसार अपने जीवन के लक्ष्य को प्राप्त करते हुए भी, सभी मजहब के लोगों के साथ प्रेमपूर्वक व्यवहार कर सकता है और कहीं-कहीं तो महाराज यहाँ तक कह जाते हैं कि भई वह ईश्वरवादी कैसा है जिसको अनीश्वरवादी अपने प्यारे का प्यारा नहीं दिखाई देता ? यहाँ तो बड़ा भारी संघर्ष हो जाता है। कुछ लोग अपने को नास्तिक कहते हैं, कुछ लोग अपने को आस्तिक कहते हैं और सचमुच अपने को आस्तिक कहने वाले आस्तिक भी नहीं हैं और नास्तिक कहने वाले नास्तिक भी नहीं हैं। व्यर्थ ही आपस में लड़ मरते हैं, तो मानव समाज पर धर्म के नाम पर कलंक लग जाता है।

व्यक्तियों के व्यक्तिगत आग्रह से लगे उस कलंक को मिटाना स्वामीजी महाराज का उद्देश्य रहा। इसलिए हमारे यहाँ क्या होता है? हमारे यहाँ दो तरह की बातें चलती हैं एक बात तो यह चलती है कि हर भाई हर बहिन अपनी व्यक्तिगत साधना में स्वाधीन है। जैसा चाहे वैसा करे और हर प्रकार के साधकों को मानव सेवा संघ के आश्रम में समान रूप से आत्मीयता और सम्मान के साथ रखे जाने का नियम है लेकिन हर प्रकार का साधक अपनी साधना अपने तक सीमित रखता है और जो सामूहिक विचार-विनिमय की बैठक होती है उसमें किसी

एकदेशीय साधना का प्रतिपादन और अन्य साधनाओं का खण्डन नहीं किया जाता। मुझको कभी बड़ी कठिनाई पड़ती है। व्यक्तिगत साधना मे रुचि रखने वाले साधक किसी न किसी रूप में सामूहिक कार्यक्रम के भीतर अपनी व्यक्तिगत रुचि घुसाते रहते हैं कोई कुछ घुसाना पसन्द करता है कोई कुछ करना पसन्द करता है। मैं हाथ जोड़ती रहती हूँ, प्रार्थना करती रहती हूँ कि भाई मानव सेवा संघ के मंच को ऐसा रहने दो कि जहाँ बैठकर व्यक्ति सार्वभौम सत्य का विवेचन कर सके और जहाँ विभिन्न प्रकार के मतावलम्बी एक साथ बैठकर मूल सत्य पर विचार कर सकें।

स्वामीजी महाराज ने बारम्बार इस बात को कहा है उनके मुख से निकली हुई यह वाणी मेरी Note Book में लिखी हुई है। बीस-इक्कीस वर्ष स्वामीजी के साथ में मैंने जब-जब मौका मिला सत्संग किया और जहाँ-जहाँ वे जिस तरह की बातें कहते रहे अपनी क्षमता के अनुसार मैं लिखती रही। आपने उनके मुख से कहा हुआ भी सुना होगा और मेरे पास लिखा हुआ भी रखा है कि "मैं तो मानव सेवा संघ के मंच को ऐसा मानता हूँ कि जहाँ पर एक अंग्रेज, एक अमेरिकन, एक रशियन, एक हिन्दू, एक मुस्लिम, एक ईसाई, एक बौद्ध, विभिन्न देशों, विभिन्न मतों के लोग एक साथ बैठें और जीवन के शुद्ध सत्य पर विचार कर सकें।" इस मंच को ऐसा सुरक्षित रखना है। इस मंच के माध्यम से किसी एक देशीय साधना की चर्चा कभी नहीं की जाएगी और अगर ऐसा करना हम शुरू कर देंगे कि मैं तो आस्तिक हूँ और मैं ईश्वर की उपासना करती हूँ। मेरी उपासना की चर्चा लोग सुनें। अगर मैं इस प्रकार अपनी रुचि की पूर्ति करने लग जाऊँगी तो मानव सेवा संघ की सर्वव्यापकता खत्म हो जाएगी। शाखा सभाओं के सज्जन भी यहाँ बैठे हैं और शाखा सभा के संचालक, मंत्री और दूसरे सज्जन जो सत्संग का आयोजन करते हैं, उनके सामने बड़ी कठिनाई आ जाती है समय-समय पर। सत्सग में भाग लेने वाले कुछ भाई जो थोड़ा बोल सकते हैं वे बोल-बोल कर अपनी व्यक्तिगत बात को सार्वजनिक बात के रूप में सबसे मनवाने के लिए उतारू हो जाते हैं।

स्वामी जी महाराज ने कहा कि अगर सगीत और नृत्य के द्वारा अपने प्रीतम को रिझाना तुमको पसन्द है तो मानव सेवा संघ में इसकी भी स्वाधीनता है। लेकिन कैसे ? अकेले में तुम अपना कमरा बन्द कर लो और जिस रूप में अपने परमात्मा को मानते हो, उस रूप में उनको अपने सामने रखकर और खूब तन्मय होकर, खूब लीन हो करके, भजन गाओ, कीर्तन करो और नाचो। कोई मना नहीं कर सकता। मानव सेवा संघ सभी साधकों को अपनी-अपनी साधना के द्वारा आगे बढ़ने में सहायता देने के लिए है।

मानव सेवा संघ की रजत-जयन्ती है। इस अवसर पर हम लोगों को व्यक्तिगत साधना में भी आगे बढ़ना है और ऐसी सर्व हितकारी क्रान्तिकारी विचारधारा को जो धार्मिक संघर्षों को मिटा सके, जो सामाजिक विषमता को दूर कर सके, जो भक्त और भगवान की दूरी को मिटा सके, जो जिज्ञासु और तत्त्व के बीच की दूरी को मिटा सके इस प्रकार के सत्य पर भी विचार करना है। इसको ग्रहण भी करना है और इसका अनुसरण भी करना है।

मानव सेवा संघ की जो सामूहिक बैठक है, उसमें शुद्ध सत्य का विवेचन होना चाहिए और जैसा बताया कि साधन क्या है ? बुराई रहित होना साधन है। बुराई रहित होने की चर्चा करो। ईश्वर से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना उपासना है। तो दुनिया भर के जितने ईश्वर के उपासक हैं, सब किसी को यह बात Fit बैठेगी। और इसको जो नहीं मानेगा, उसके जीवन में उपासना प्रकट ही नहीं होगी, सफल ही नहीं होगा। तो इस तरह की बात करो। योग पर चर्चा हो रही है, तो योग कैसे होता है भाई ? तो भोग की रुचि का नाश करो तो योग होगा। अब कौन आसन करोगे, कैसे प्राणायाम करोगे ? तुम जानो तुम्हारे गुरु जानें। लेकिन सर्वमान्य सत्य क्या है ? भोग की रुचि का नाश किये बिना योग हो नहीं सकता है। कौन आसन लगाओगे, क्या ध्यान करोगे, कौन मंत्र जपोगे, क्या अभ्यास करोगे, तुम जानो। मानव सेवा सघ क्या कहेगा ? योगवित् होने के लिए मूल मंत्र है भोग की

रुचि का नाश। कौन इनकार कर सकता है इसको। कोई नहीं, कर सकता है।

मैं मानव सेवा संघ की प्रणाली के सम्बन्ध में, अपने सभी भाई-बहिनों का दृष्किोण स्पष्ट कर देना चाहती हूँ। जितना मुझको मालूम है, जितना मैं ग्रहण कर सकी, महाराज के मुख से सुन करके, उनके साहित्य को लिख करके, पढ़ करके, वह मैं बड़ी सच्चाई के साथ और बड़ी दृढ़ता के साथ आपकी सेवा में निवेदन करती हूँ कि इस सत्य को अगर हम लोग स्वीकार कर सकें तो अपनी साधना में कभी कोई Confusion अर्थात् वैचारिक उलझन नहीं होगी और जो सामूहिक कार्यक्रम हम लोग चलाते हैं उसमें भी किसी प्रकार का कोई मतभेद और संघर्ष नहीं हो सकेगा। क्या बात है ? हाथ जोड़कर निवेदन कर दीजिए, प्रार्थना कर दीजिए कि भाई, व्यक्तिगत साधना को व्यक्तिगत सीमा में रखो। मानव सेवा संघ को कोई एतराज नहीं हैं। बहुत खुशी है कि आप अपनी साधना के आधार पर आगे बढ़ जाएँ और सामूहिक बैठक जब होती है तो उसमें सर्वमान्य सत्य की ही चर्चा होगी।

सर्वमान्य सत्य क्या है ? सर्वमान्य सत्य यह है कि बल का दुरुपयोग मत करो। विवेक का अनादर मत करो, ईश्वर विश्वास में विकल्प मत करो। ममता और कामना का त्याग करो तो शान्ति मिल जाएगी। भोग की रुचि का नाश करोगे तो योगवित् हो जाओगे। परमात्मा से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करोगे तो प्रेमी हो जाओगे। इन विचारों को देश, काल, मत, वर्ग, सम्प्रदाय, मजहब का भेद छू नहीं सकता है। तो एकदेशीय साधना अपने लिए रखना चाहिए और सर्वदेशीय सत्य का ही सामूहिक सत्संग में विवेचन करना चाहिए।

(25)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

अध्यात्म जीवन हमें चाहिए, अर्थात् अविनाशी जीवन हमें चाहिए। पहली बात जो हम सब लोगों के लिए आवश्यक है, वह यह है कि हम सभी भाई-बहिनों को अविनाशी जीवन में आस्था रखनी चाहिए। सबसे पहली बात है कि जो अविनाशी जीवन हम चाहते हैं, वह है। ऐसा नहीं है कि हमें तो मृत्यु से, अभाव से और नीरसता से परे अविनाशी जीवन की आवश्यकता है, परन्तु पता नहीं ऐसा जीवन है कि नहीं। मानव सेवा संघ ने मानव जीवन की आवश्यकताओं पर विशेष ध्यान देने की बात कही और अब ऐसा मालूम होता है कि शान्ति, स्वाधीनता, परम प्रेम, योग-बोध और सरस जीवन की माँग जो मनुष्य में बिना किसी के सिखाए-पढ़ाए अपने आप महसूस होती है यही मानव जीवन की विशेषता है। नहीं तो आप शरीर विज्ञान की दृष्टि से देखें तो, वृक्ष में, पौधे में, पत्ते में और पशु-पक्षियों के शरीर में और मनुष्यों के शरीर में भौतिक विज्ञान की दृष्टि से कोई अन्तर नहीं है मनुष्य में कोई खास बात नहीं है। जिन पांच भौतिक तत्त्वों से मनुष्य का शरीर बनता है उन्हीं पांच भौतिक तत्त्वों से कोई भी आकृति संसार की बनती है उस दृष्टि से तो कोई फर्क है नहीं लेकिन आप की बड़ी भारी विशेषता यह है कि आप पंच भौतिक तत्त्वों से बने हुए शरीरधारी होते हुए भी अलौकिक जीवन की माँग अनुभव करते हैं।

स्वामीजी महाराज ने इसके बारे में यह बताया कि मानव जीवन की मौलिक माँग जो है उसकी पूर्ति अवश्य होती है। और यदि हमारे जीवन में जो माँग है उसकी पूर्ति अनिवार्य है तो इसका अर्थ यह है कि जिसकी हम माँग अनुभव करते हैं, उसका अस्तित्व भी है। अगर अस्तित्त्व नहीं होता तो पूर्त्ति कैसे सम्भव होती। पूर्ति हो नहीं सकती थी। तो उसका अस्तित्व है। अमरत्व की आवश्यकता मैं अनुभव करती हूँ। अमर जीवन है। निर्भय, निश्चिन्त, अभाव से रहित परम प्रेम से भरा हुआ। इस जीवन की आवश्यकता आप अनुभव करते हैं तो

विश्वास करिए कि ऐसा जीवन है। महाराजजी ने कहा- माँग उसको नहीं कहते कि जिसकी पूर्ति न हो। पूर्ति होती है और हम लोगों ने कई सन्त महापुरुषों के सम्बन्ध में सुना भी है और विश्वास भी करते हैं कि उनको अमर जीवन मिल गया था। उनको जीवन मुक्ति मिल गई थी, उनको भगवद्-भक्ति मिल गई थी, वे भगवान के प्रेम के पात्र बन गये थे। भगवान और भक्त का मिलन होता है, ऐसा हम लोगों ने सुना भी है और विश्वास भी करते हैं, लेकिन आज इस प्रातःकाल की घड़ी में अपने-अपने को सामने रखकर हम लोग सोंचे, कि जैसे आपने मीराँजी के सम्बन्ध में विश्वास कर लिया कि उनको भगवान मिल गये थे, जैसे प्रह्लादजी के सम्बन्ध में हम लोगों ने विश्वास कर लिया है कि उनको भगवान मिल गये थे, जैसा गोस्वामी तुलसीदासजी के सम्बन्ध में हम लोगों का विश्वास है कि उनको भगवान मिल गये थे, जैसे भगवान बुद्ध के सम्बन्ध में हमारा यह विश्वास है कि उनको अविनाशी जीवन मिल गया था। हम लोग ऐसा मानते हैं कि नहीं ? मानते हैं। तो जैसे भगवान बुद्ध के सम्बन्ध में हमको विश्वास है कि उनको अविनाशी जीवन मिल गया था, उनके सर्व दुःखों की निवृत्ति हो गई थी, जैसे मीराँजी के सम्बन्ध में विश्वास है कि वे भगवान की भक्ति से भरपूर थीं, इसीलिए जब भगवान का चरणामृत कह करके उनको विष का प्याला दिया गया तो प्रभु का प्रसाद मानकर उसमें उनको इतना रस मालूम हुआ, इतना महत्त्व मालूम हुआ कि जहर का प्याला पी गईं और उसने अमृत का काम किया। तो हम लोगों ने इन बातों में विश्वास किया है-बुद्ध को निर्वाण मिला था और मीराँजी को भगवान मिले थे।

मानव सेवा संघ हम लोगों से यह निवेदन करता है कि तुम अपने सम्बन्ध में विचार करो और जिस तरह से सरस जीवन की माँग मीराँजी को थी, जिस तरह से सर्वदुःखों की निवृत्ति की माँग भगवान बुद्ध के जीवन में थी, ऐसे ही दुःख रहित जीवन की माँग तुम्हारे में है कि नहीं ? क्या कहेंगे हम ? है। यह बिल्कुल अपने को सामने रखकर देखने की बात है। मानव सेवा संघ के सत्संग में एक विशेषता है। महाराजजी के जो प्रवचन होते थे, वे माया, ब्रह्म, जीव, इस प्रकार की

धारणाओं को लेकर आरम्भ नहीं होते थे। हम सब लोग मानव हैं, सुख-दुःख झेल रहे हैं और इसी सुख-दुःख झेलने की दशा में, सब आशाओं से अतीत के जीवन की आवश्यकता अनुभव कर रहे हैं। तो आप देखिए कि महात्मा बुद्ध की तरह सब दुःखों से छूटे हुए, दुःख रहित, अभाव रहित, जीवन की माँग हम लोगों को भी है। और जिस परमात्मा की चर्चा हम करते रहते हैं, उस परमात्मा के प्रेमी होकर, अत्यन्त निकटतम सम्बन्ध उनके साथ अनुभव करने की अभिलाषा भी हम लोगों की है तो हम मीराँजी के समान और भगवान बुद्ध के समान ही हो गये। माँग अनुभव करने में हर व्यक्ति, राजकुमार सिद्धार्थ और राजकुमारी मीराँ है। यह बात आप स्वीकार करेंगे कि नहीं ? करेंगे।

तो महाराजजी कहते हैं अथवा महाराज के विचारों का प्रतिरूप मानव सेवा संघ कहता है कि उनके समान तुम भी यह विश्वास करो कि मुझे दुःख रहित जीवन मिल सकता है, मुझे परमात्मा मिल सकता है। अब आप देखिए, अगर मैं अपने को सामने रखकर देखूँ, अगर आप बिल्कुल अकेले बैठकर अपने सम्बन्ध में विचार करना प्रारम्भ करें, तो क्या पता चलेगा ? पता चलेगा कि दुःख रहित जीवन की आवश्यकता तो है, परन्तु मुझे इसी वर्तमान में इसी जीवन में दुःख रहित देहातीत जीवन मिल जाएगा इसकी पूरी आशा, पूरा विश्वास नहीं है। यह बड़ी भारी कमी है। हम लोग क्या कर रहे हैं ? सत्संग में आते हैं। बड़े चाव से आते हैं और इस तरह का कोई सद्ग्रन्थ मिल जाए, उसे पढ़ने, समझने की क्षमता है तो बड़े चाव से उसको पढ़ते और समझते हैं, अगर इस प्रकार की विचारगोष्ठी होने लगे तो बड़े उत्साह से उसमें भाग लेते हैं। यह सब करते हैं, परन्त अपना दिल टटोलकर देखें कि इन सब प्रवृत्तियों में लगने के समय, क्या यह भी मेरी पक्की धारणा है कि शरीर का नाश होगा पीछे और मुक्ति मिलेगी पहले। शरीर का नाश होगा पीछे और परमात्मा मिलेगा पहले ? मेरे जानते, जिन भाई-बहिनों का विश्वास होगा, उनको तो संशय होगा नहीं। मेरा ऐसा अनुमान है कि इसमें हमारी जैसी निष्ठा होनी चाहिए, जितना पक्का विश्वास होना चाहिए, उतना नहीं है। क्या बात है ? अरे भाई ! हम

तो बड़े प्रपंची हैं, लोभ, मोह में फँसे हुए हैं, हम तो गृह-जंजाल में फँसे हुए हैं, कैसे इससे निकलेंगे, कैसे मेरे द्वारा पुरुषार्थ किया जाएगा, कैसे मेरे द्वारा त्याग किया जायेगा, कैसे मेरे द्वारा मेरे विकारों का नाश किया जायेगा ? ऐसा सोचकर व्यक्ति पछताकर रह जाता है, पिछड़ के रह जाता है, यह कितने आश्चर्य की बात है।

महाराजजी के दो वाक्य एक जगह लिखे हुए मिले हैं। मुझे बड़ा आनन्द आया उनको पढ़कर के। उनमें यह लिखा, "जिसको तुम देखते हो अर्थात् हम और आप जिसको देखते हैं वह तुमको नहीं देखता है अर्थात् संसार और मेरे प्यारे, भगवान जो तुम्हें देख रहे हैं उन्हें तुम नहीं देखते हो।" ऐसे मार्मिक वाक्य पढ़कर मुझे एकदम आनन्द आ गया। कितनी सच्ची बात है। जिसको तुम देख रहे हो वह तुमको नहीं देख रहा है और फिर भी हम उसके पीछे पड़े हुए हैं। मेरी ओर देखो, मेरे पास आओ, मेरा आदर करो, मेरा सत्कार करो, मेरी जरूरत पूरी करो, मेरे पास रहो। ऐसा हम किसको कहते हैं ? हम लोग इसको (संसार को) कहते हैं जिसमें मेरी ओर देखने की सामर्थ्य नहीं है। इसके विपरीत जो नित्य निरन्तर मुझे देख रहा है, जो सर्वज्ञ है, सर्वान्तर्यामी है, सर्वत्र है, सभी का है, सभी में है, और सभी को निरन्तर देख रहा है उसकी ओर हम नहीं देखते। क्या हो गया ? और कुछ नहीं हो गया, अपने को प्रपंची मान लेना, अपने को भटका हुआ मान लेना, अपने को दुनिया में फँसा हुआ मान लेना, और उस फँसावट से छूट जाने की बात को हम लोगों ने इतना कठिन इतना भारी भरकम बना लिया कि इस तथ्य की कल्पना ही नहीं करते हैं कि भाई, मैंने अपने द्वारा संसार से सम्बन्ध स्वीकार किया है। मैं अपने द्वारा इस सम्बन्ध को अस्वीकार करके सदा-सदा के लिए दुःख रहित जीवन में प्रवेश कर सकता हूँ। इस बात में आप विश्वास ही नहीं करते। डर लगता रहता है। संकोच बना रहता है। अपने को बहुत दूर, बहुत छोटा समझते रहते हैं। स्वामीजी महाराज ने एक बार, सन्तों की एक वार्ता सुनाई थी। हम लोगों को तो यह कहा था कि एक वयोवृद्ध महापुरुष थे और स्वामीजी महाराज नये-नये संन्यासी हुए थे। तो प्यार पूर्वक

नाम लेकर पुकारा और कहा कि शरणानन्द जानते हो, सबसे बड़ा अज्ञान क्या है ? तो महाराज जी उत्तर तो दे सकते थे, लेकिन उन्होंने कहा- महाराज मैं क्या जानूँ ? आप बताइए। तो उन सन्त ने कहा कि अगर कोई आदमी ऐसा सोचता है कि भागवतकार वेदव्यास में जो ज्ञान था वह ज्ञान मुझमें नहीं है तो यही सबसे बड़ा अज्ञान है। यह उत्तर दिया। जब मैं अपने व्यक्तित्व के अन्धकार से, उलझन से, परेशान होती तो स्वामीजी महाराज को कहती कि महाराज मैंने तो यही समझा था कि सन्त कबीर को, जिसने प्रचण्ड विवेक दिया, राजकुमार सिद्धार्थ को जिसने ऐसा तीव्र वैराग्य दे दिया, उसने मुझको तो दिया ही नहीं, मेरा काम कैसे होगा ? ऐसा मैं सोचती थी, लेकिन बात ऐसी नहीं है। स्वामीजी महाराज ने खूब स्पष्ट रूप से मुक्तकण्ठ से यह बात मानव समाज, साधक समाज को सुनाई है कि भाई, ज्ञान छोटा-बड़ा नहीं होता है। ज्ञान कम-बेशी नहीं होता है। मानव होने के नाते मानव मात्र में जिस ज्ञान का प्रकाश विद्यमान है, उसी प्रकाश से उस व्यक्ति का उद्धार होगा। मूल रूप से अविनाशी जीवन प्राप्त करने की जो सामग्री हम लोगों को चाहिए वह सामग्री जीवनदाता ने, हर भाई को हर बहिन को प्रारम्भ से ही दी हुई है। तो एक तो इसे हम लोग स्वीकार करें। तो पहली बात क्या हो गई कि दुनिया के किसी भी महापुरुष ने जिस जीवन की आवश्यकता अनुभव की होगी, उस जीवन की आवश्यकता हम और आप इस समय, इस वर्तमान में अनुभव करें।

दूसरी बात क्या है ? कि जिसकी आवश्यकता हम अनुभव कर रहे हैं वह सदा सर्वदा सर्वत्र समान रूप से विद्यमान है, इसमें विश्वास करें और तीसरी बात क्या है ? कि जिसकी आवश्यकता आप अनुभव करते हैं और जो सदा-सदा से सत्तारूप से विद्यमान ही है, वह विद्यमान सत्य, वह विद्यमान परमात्मा, वह विद्यमान जीवन, हम सब लोगों को इसी वर्तमान में मिल सकता है। ये तीन Basic बातें हैं, मौलिक बातें हैं, जिनको मैं मानव सेवा संघ की विशिष्टता मानती हूँ। यह मानव सेवा संघ का रजत-जयन्ती समारोह है और हम लोगों के सामने दो

प्रकार का पुरुषार्थ है। एक पुरुषार्थ तो यह करना है कि जिन सार्वभौम सत्य, सर्वमान्य सत्य सिद्धान्तों का प्रतिपादन महाराजजी ने किया है उन सिद्धान्तों के आधार पर हम सभी भाई-बहिन, इस वर्तमान में अपनी समस्याओं का समाधान कर लें। पहला पुरुषार्थ हम लोगों को यह करना है। और दूसरा पुरुषार्थ हम लोगों को क्या करना है कि ऐसे जीवनदायी सन्देश का प्रतीक जो यह मानव सेवा संघ है, उस मानव सेवा संघ के इस जीवनदायी सन्देश को सब जिज्ञासुओं, जीवन के सब पिपासुओं, सब भक्तों, प्रभु के विश्वासियों को सुना दें।

यह दो तरह का पुरुषार्थ हम लोगों को करना है। पहली बात क्या है ? कि इस जीवनदायी सन्देश के अनुसार, हम अपनी समस्याओं का समाधान कर लें। दूसरी बात क्या है ? इस जीवनदायी सन्देश देने वाली संस्था की विचार-प्रणाली के प्रतीक के रूप में मानव सेवा संघ की जो स्थापना स्वामीजी महाराज ने की, अनन्त की अहैतुकी कृपा से इस संस्था को, इस प्रतीक को बनाए रखने में हम अपना योग दे दें। तो एक दिन मैंने सोचा कि मानव सेवा संघ की रजत-जयन्ती का क्या अर्थ है ? तो मुझे मालूम हुआ कि इस संघ के नाम से, जीवन के जिस सत्य को स्वामीजी महाराज ने प्रकाशित किया है उस सत्य के अनुरूप मेरा जीवन बन जाए। इस संस्था को सजीव बनाने का यही उपाय होगा। इसमें ज्यादा कठिनाई नहीं है। कुछ मुश्किल काम नहीं है। जिन तीन विशिष्टताओं का उल्लेख मैं अभी कर रही हूँ, इनको स्वीकार करना, इस दिशा में हमारा पहला कदम होगा। किस दिशा में ? अपने कल्याण में और संस्था को सजीव बनाए रखने में। इन तीन बातों को, अपने द्वारा हम लोग स्वीकार करें। कौन सी तीन बातें ? अमर-जीवन की आवश्यकता अनुभव करके, जो महापुरुष अब तक भगवद्-भक्त हो चुके हैं, उन्हीं के समान, अमर-जीवन की आवश्यकता और परम-प्रेम की आवश्यकता, हम सभी भाई-बहिन इस वर्तमान क्षण में अनुभव कर रहे हैं, एक बात तो यह हो गई। और जिस जीवन की आवश्यकता हम अनुभव कर रहे हैं, वह है, यह दूसरी बात हो गई। और तीसरी बात यह कि जो जीवन सदा-सर्वदा से है, वह जीवन

मुझको इसी जन्म में इस शरीर के नाश होने से पहले मिल सकता है।

इन तीन बातों को आज इस पवित्र बेला में, महामानव की पुण्य-तिथि के अवसर पर, सर्वहितकारी, क्रान्तिकारी विचारधारा के प्रति मानव सेवा संघ की जयन्ती की तिथि पर हम सबने अपने द्वारा दृढ़तापूर्वक स्वीकार कर सीखा। अब शान्त हो जाएँ एक-दो मिनट के लिए, और जिन बातों को हमने जीवन के लिए आवश्यक माना, उनको भीतर-भीतर दुहरा लें और अपने द्वारा स्वीकार कर लें। वस्तुतः हमारे विकास में प्रगति आयेगी और व्यक्ति के अहंरूपी अणु में विकास की प्रगति आरम्भ हो जायेगी, तो यही मानव सेवा संघ की सेवा है और यही मानव सेवा संघ का विकास है।

देखिए, हमारा आपका जो अहंरूपी अणु है, सचमुच उसमें बड़ी शक्ति है, उसमें बड़ी सरसता है, उसमें बड़ा प्रकाश है। जिस समय आप उसकी ओर देखना बंद कर देंगे जो आपकी ओर नहीं देख सकता है, उसी समय आपके अहंरूपी अणु में कितना Force है कितनी शक्ति है, कितनी सरसता है, कितनी चेतना है यह बात तत्काल आपके अनुभव में आने लग जाएगी। ऐसा किसी भी समय अनुभव करके देखिए। बड़ा अच्छा लगेगा आपको। सारी सृष्टि में मनुष्य के व्यक्तित्व के समान महत्त्वपूर्ण और कोई अणु नहीं है। ऐसे तो अणु परमाणु बहुत हैं। ऐसे-ऐसे भी अणु-परमाणु हैं कि जिनको संगठित करके अस्त्र बना लिया जाए तो आज के विज्ञान वेत्ता यह कह रहे हैं कि सारी सृष्टि को भस्म करने के लिए केवल छः मिनट का समय चाहिए। रूस के पास और अमेरिका के पास, ऐसे-ऐसे आणविक बम्ब तैयार हैं, इतने संहारकारी, इतने शक्तिशाली अस्त्र दुनिया में तैयार रखे हुए हैं। लेकिन महाराजजी ने कहा कि तुम्हारे इस अहं में इतनी शक्ति है कि वह छः मिनट में भस्म करने वाले अस्त्रों में भी नहीं हो सकती। और आपका यह अहंरूपी अणु जिसको कि हम लोग, "मैं" कह कर सम्बोधित करते हैं इतना बड़ा है, इतना बड़ा है कि आपका देखा हुआ सारा दृश्य जगत् इसकी सीमा में समा सकता है।

स्वामीजी महाराज ने कहा है, उनकी वाणी है, उनके ग्रन्थों में लिखा हुआ है। मैं आपको याद दिला रही हूँ, दो ही बातें महाराजजी ने कहीं। पहली यह कि सारी सृष्टि की जितनी शक्ति है उससे भी अधिक शक्ति आपमें है और दूसरी बात, आपका जो अहंरूपी अणु है जिसको कि हम लोग 'मैं' कहकर सम्बोधित करते हैं, इस आपके अहं की जो सीमा है वह सारी सृष्टि से बड़ी है। और सब देखा हुआ दृश्य जगत, कितना भी विस्तृत दिखाई देता हो, लेकिन द्रष्टा से छोटा होता है दृश्य। तो सृष्टि के लिए आप द्रष्टा हैं कि दृश्य ? द्रष्टा हैं। इसलिए सारी सृष्टि आप द्रष्टा की सीमा में आ गई। कभी-कभी मैं अकेले में बैठकर ऐसा सोचने लगती हूँ। महाराज की वाणी को याद करके अपने लक्ष्य को सामने रखकर, धीरज से, तो ऐसा लगता है कि सोचते ही सोचते, सोचना तो खत्म हो जाता है और सीमा का इतना विस्तार हो जाता है, इतना विस्तार हो जाता है कि पता नहीं वह कितना होता है। महाराज की प्रेरणा, महाराज की सद्भावना या सत्य की महिमा कहें, भगवत्-महिमा कहें।

इसलिए मैं, आप भाई-बहिनों को बहुत ही आत्मीयता के साथ, और बड़ी दृढ़ता और बड़े प्रेम के साथ यह निवेदन कर रही हूँ कि सन्त की जो वाणी है, वह बिल्कुल आपका जीवन ही है। तो इतना महत्त्व हम लोगों को इस जीवन को देना चाहिए। इतनी विशेषता आपको अहं की माननी चाहिए। तो इस विशेषता को मानने का प्रत्यक्ष परिणाम क्या होगा ? प्रत्यक्ष परिणाम यह होगा कि जो भूल-जनित विकारों को हम लोगों ने अब तक अपने में रहने दिया है, ऐसा ही कहूँगी मैं, यह नहीं कहूँगी कि विकार मेरे सिर पर चढ़े हुए हैं क्योंकि विकारों में व्यक्ति के सिर पर चढ़ने की सामर्थ्य नहीं है। लोभ, मोह, क्रोध, अभिमान और सुख-सम्मान और सुविधा का लालच, इन सब विकारों को जो मैंने अब तक अपने में रहने दिया है, यह बहुत मामूली बात है कि इनको हम इन्कार कर दें, इनको हम अपने में न रहने दें, बहुत मामूली बात है, और आपने देखा ही है कि दुनिया में कितने ऐसे व्यक्तित्व हुए जो संसार की दृष्टि में बहुत ही निम्न परिस्थिति में थे

और उनके अहं में चेतना जग गई, तो सारी प्रतिकूलताओं के सिर पर पाँव रखकर के वे संसार को पार कर गये। ऐसा हुआ है कि नहीं ? हुआ है। तो इसी आधार पर मैं आप भाई-बहिनों की सेवा में निवेदन कर रही हूँ कि अपनी बुराइयों का नाश हम लोग स्वयं कर सकते हैं। इसमें जरा भी सन्देह मत रखिए।

महाराज जी ने क्रम बताया था। यह बताया था कि पहले सत्संग के प्रकाश में, अपनी बुराई को छोड़ने से व्यक्ति के व्यक्तित्व में जो अहं रूपी अणु है, वह शुद्ध होता है। तो जब वह शुद्ध हो जाएगा तो उसमें अविनाशी जीवन की सब विभूतियाँ अपने आप प्रकाशित हो जायेंगी। तो हमारा आपका पुरुषार्थ कितना रहा ? सत्य को अभिव्यक्त करने का पुरुषार्थ हमको नहीं करना है, कि परमात्मा का प्रेम कैसे प्रकट हो जायेगा, और योग की विशेषताएँ कैसे आ जाएँगी, और स्वाधीन जीवन का आनन्द कैसे आ जाएगा ? इसका पुरुषार्थ हम लोगों को नहीं करना है। अहं में जिन अशुद्धियों को, अब तक हम बर्दाश्त करते आये। कर रहे हैं कि नहीं ? लोभ है और उसको पाल भी रहे हैं। क्रोध भी है उसको सहन भी कर रहे हैं। मलमूत्र की थैली 'शरीर' में आसक्ति भी है, और उस आसक्ति का भार हम लोग ढो भी रहे हैं। तो जिन अशुद्धियों के कारण अलौकिक जीवन की विभूतियाँ अभिव्यक्त नहीं होती हैं, उन अशुद्धियों को, अपने में रखे रहने की भूल हमने की है।

मानव सेवा संघ के सिद्धान्त के अनुसार, सत्य को बाहर कहीं से पकड़ लाने का पुरुषार्थ हमें नहीं करना है। जिन अशुद्धियों को अपने में रखकर हम सहन करते आये हैं उन अशुद्धियों को मिटा देने का पुरुषार्थ करना है। इसी पुरुषार्थ से अहं की अशुद्धि मिट जायेगी और जब शुद्ध अहं रह जायेगा तो उसको योगवित् होने में, तत्त्ववित् होने में, भक्तियुक्त होने में, कोई समय नहीं लगता है। कुछ भी नहीं। महाराजजी ने जगह-जगह पर ऐसा बताया कि भाई ! "फूल को तोड़ने में देर लगती है, सत्य से अभिन्न होने में समय नहीं लगता।" दूसरा उदाहरण दिया है। "घोड़े की रकाब में पैर डालने में देर लग सकती है, तत्त्ववित् होने में, भगवान से मिलने में देर नहीं लगती है।" काल अपेक्षित है ही

नहीं। जो अभी है, अपने में है, सभी का है, सभी में है, उससे अभिन्न होने में, काल अपेक्षित नहीं है। यह जो समय हम लोगों को लग रहा है, जितने भाई-बहिन यहाँ बैठे हैं अथवा जो यहाँ नहीं बैठे हैं उन सबको जो समय लग रहा है, इस दिशा में। कोई कहेगा कि मुझे २० वर्ष हो गये दीक्षा लिए हुए, कोई कहेगा कि मुझे बहुत वर्ष बीत गये सत्संग करते हुए, कोइ कहेगा कि मुझे बहुत समय बीत गया पाठ करते हुए। एक भाई आये, पिछले सावन महीने का सत्संग चल रहा था, उस समय की बात है। तो वह भाई आये, कहने लगे कि मुझको किसी सन्त ने सलाह दी थी इतने लाख नाम का जप इतने दिनों तक करो तो तुमको सत्य मिल जायेगा। तो उन्होंने जितनी संख्या बताई थी, उतनी संख्या में जप करते-करते मैंने छः महीने बिता दिए। ऐसा उन्होंने बताया। तो हम सभी भाई-बहिनों का जो समय इस दिशा में लग रहा है, क्यों लग रहा है ? वह समय परमात्मा के प्रेम के अभिव्यक्त होने में नहीं लग रहा है, वह समय सत्य के अभिन्न होने में नहीं लग रहा है, वह समय अशुद्धि को बनाए रखने के कारण लग रहा है।

बड़ा अच्छा अवसर मिला है हम लोगों को, जिस अनन्त ने अपनी अहैतुकी कृपा से प्रेरित होकर ज्ञान युक्त, भावयुक्त, कर्म के उपादान, इस शरीर सहित, हम लोगों को बनाया है, उन्हीं की अहैतुकी कृपा से इस जीवन में यह अवसर आया है कि अपनी-अपनी बनाई हुई अशुद्धियों को नाश करने के लिए हम तत्पर हो जाएँ और जो वास्तविक जीवन है, जो अभी है, अपने ही में विद्यमान है उसकी अभिव्यक्ति के लिए हम तैयार हो जाएँ तो कोई कारण नहीं है कि शरीर के नाश होने के पहिले हम लोगों को अविनाशी जीवन न मिल जाए। परमात्मा का प्रेम न मिले। ईश्वर विश्वासी ईश्वर से न मिले। योगी योगवित् न हो जाए। जिज्ञासु तत्त्ववित् न हो जाए। प्रभु विश्वासी भक्त न हो जाए। ऐसा कोई कारण नहीं है। ऐसा अवश्य हो सकता है। और आप ऐसा मत सोचियेगा कि यह तो कलिकाल है, अल्पआयु है, अल्पसामर्थ्य है। ऐसा मत सोचियेगा। एक दिन बातचीत हो रही थी तो पार्वतीजी की तपस्या की बात याद आ गई। तो कितने-

कितने हजार वर्ष उन्होंने निराहार बिताये और पत्ते खाकर बिताये और कुछ दिनों बाद तो उन्होंने वृक्ष के पत्ते खाना भी छोड़ दिया और केवल हवा के आधार पर समय बिताया।

हम लोगों की दशा क्या हो गई है ? २४ घण्टे एकबार निर्जला एकादशी करनी हो तो जमीन-आसमान सब उलटने लग जाता है। संभाल में नहीं आता है। भूखे रहने के लिए, प्यासे रहने के लिए अब कहाँ सामर्थ्य है। तो ऐसा मत सोचिए कि शारीरिक सामर्थ्य घट जाने से, उस सत्य की सामर्थ्य भी घट गई, परमात्मा की सामर्थ्य भी घट गई, ऐसा मत सोचिए। इस पांच भौतिक तत्त्वों से बने हुए शरीर की सामर्थ्य घट गई है, लेकिन आप ही में जो वह अविनाशी तत्त्व विद्यमान है, परमात्मा की परम करुणामयी जो शक्ति विद्यमान है, वह सतयुग में जैसी थी, इस कलियुग में भी वैसी ही है। उसमें से कुछ नहीं घटा है। न उसका प्रेम घटा है आपके प्रति, न उसकी करुणा घटी है आपके प्रति, न उसकी महिमा घटी है, न उस सत्य का प्रकाश घटा है, न उस सत्य का अस्तित्त्व घटा है। वह जो चीज है, वह ज्योंकि त्यों आरम्भ से लेकर आज तक वैसी ही है। आगे भी अनन्त काल तक वैसी ही रहेगी। तो अल्प सामर्थ्य होने के कारण हम लोगों का बेड़ा पार नहीं होगा, ऐसा नहीं सोचना चाहिए। अल्प सामर्थ्य वालों के लिए अल्प सामर्थ्य की साधना है। विशेष सामर्थ्य वालों के लिए विशेष प्रकार की साधना है और सब साधनाओं का फल क्या है ? कि हम अहंकार शून्य हो जाएँ और हम अहंकार शून्य हुए नहीं कि उस अनन्त की अहैतुकी कृपा से इस जीवन का विधान इतना सुन्दर बना है कि मेरे अहंकार का नाश हुआ नहीं कि सत्य की अभिव्यक्ति, उसकी विभूतियों से भरपूर होना, ये तत्काल हो जाते हैं। एक साथ हो जाता है। ऐसा अनुभवीजनों का अनुभव है। और इस सत्य को आज हम सब भाई-बहिनों के लिए स्वीकार कर लेना अनिवार्य है।

(26)

पूज्य सन्त महानुभाव, सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

मानव सेवा संघ के तत्त्वावधान में, संघ की रजत-जयन्ती के अवसर पर, हम सब लोग सत्संग समारोह में सम्मिलित हुए हैं। मानव सेवा संघ क्या है ? एक विचार प्रणाली है। और जिस सन्त ने अपने व्यक्तित्व के नाम पर एक शब्द भी कहना पसन्द नहीं किया, जिस सन्त ने अपनी कृति, अपनी लिखवाई पुस्तकों पर अपना नाम लगाना पसन्द नहीं किया, उस सन्त ने मानव सेवा संघ क्यों बनाया ? संघ के सब प्रेमियों, समर्थकों, हित-चिन्तकों, साधकों को इस बात पर थोड़ा विचार कर लेना चाहिए। क्यों बनाया उन्होंने ? अपना नाम देना, अपने नाम से अपने अनुभूत सत्य को प्रकाशित करना उन्होंने पसन्द नहीं किया और जब सत्य की चर्चा करने लग जाते थे, तब कहते थे कि मुँह मत देखना, बात सुनना। किस मुँह से यह बात निकल रही है, सो मत देखो, बात पर विचार करो। बात तुम्हारी अपनी लगे, तो मान लो।

ईश्वर विश्वास के सम्बन्ध में उन्होंने कई बार यह विचार प्रकट किया कि मैं ईश्वर-विश्वासी हूँ, परन्तु ईश्वर विश्वास का प्रचारक नहीं हूँ। कभी-कभी कोई-कोई व्यक्ति कहता कि भाई, मानव सेवा संघ में भगवान के नाम जपने के बारे में तो कुछ कहा ही नहीं जाता है, तो स्वामीजी महाराज ने एक बार एक साधक से पूछा कि यह बताओ भाई, कि मैंने मना किया है ? नाम जप करने से नुकसान होगा, ऐसा कह कर मैंने मना तो नहीं किया है। तो क्या अर्थ है ? कि यह साधकों का संघ है, यह एक विचार प्रणाली है। यह कोई नया पंथ, मत या सम्प्रदाय नहीं है। यह कोई ऐसा संगठन नहीं है कि जिसमें बहुत से लोग संगठित होकर अपनी किसी तकलीफ को मिटाने के लिए किसी प्रतिपक्षी के विरुद्ध आवाज उठाते हों, इस प्रकार का संगठन भी नहीं है। तो महाराज जी ने कहा कि मानव सेवा संघ प्रचार संघ नहीं है, विचार संघ है। और विचार किस बात का ? अपने जीवन पर विचार

करो। परदोष दर्शन, परचर्चा, पर के कर्त्तव्य पर विचार नहीं करना है। अपने जीवन पर विचार करो, अपने दोषों पर विचार करो, अपने कर्त्तव्यों पर विचार करो, अपने उत्थान पर विचार करो, जीवन के सत्य पर विचार करो। और कभी-कभी जब कोई आग्रह करता भगवान की महिमा के बारे में, और नाम के बारे में कुछ सुनाने के लिए, तो कहते कि अरे भाई, जब कहीं सत्संग में या कहीं किसी सामूहिक बैठक में जाते हो शामिल होने के लिए तो दरवाजे पर जूता या चप्पल बाहर उतार कर बैठते हो। तब बैठने पर तुमको जूते या चप्पल की याद आती है और भगवान मेरे इतने घटिया हो गये कि उनको याद करने के लिए मैं कहूँ तुमसे। चप्पल की याद आ सकती है, जूते की याद आ सकती है और भगवान को याद करने के लिए मुझे कहना पड़ेगा कि याद करो।

अद्भुत प्रकार के क्रान्तिकारी विचार थे स्वामीजी महाराज के, और ये विचार महाराजजी ने कई बार प्रकट किए। उन्होंने बताया कि मैंने संघ क्यों बनाया ? स्वामीजी महाराज के पुराने मित्र साथी जो लोग थे, अच्छे-अच्छे जो सन्त-महानुभाव थे, जब स्वामीजी महाराज ने संघ बनाया तो उन्होंने स्वामीजी महाराज के लिए यह कहना शुरू किया कि आजाद पंछी पिंजड़े में बन्द हो गया। महाराज जी ने कहा कि मैं बिल्कुल बन्द नहीं हुआ हूँ। बन्धन की कोई बात ही नहीं है। बात क्या है ? मानव सेवा संघ के प्रेमीजन विचार कर लें। बात यह है कि स्वामीजी महाराज ने देखा कि मानव समाज में बड़ा भारी भ्रम फैला है, आधुनिक युग के पढ़े-लिखे हमारे वर्ग के लोगों ने ही यह भ्रम फैलाया है कि मनुष्य परिस्थितियों का दास है। आपने ऐसा कभी सुना है कि नहीं ? स्वामीजी महाराज को यह बात बिल्कुल गलत मालूम हुई।

अभी आपने सुना न सन्तवाणी में। क्या कहा उन्होंने- कि "मैं" और 'है'। 'मैं' तत्त्व जो है, जिसको हम लोग अभी इस वर्तमान में महसूस कर रहे हैं कि 'मैं' हूँ, यह 'मैं' तत्त्व है, और जिसको 'है' कहते हैं- 'परमात्मा'। 'मैं' तत्त्व और 'परमात्मा' तत्त्व, ये दोनों तत्त्व सृष्टि की

धातु से बने हुए नहीं हैं। यह उनकी खोज है, कि यह 'मैं' तत्त्व और 'है' तत्त्व उस धातु से नहीं बने हैं जिससे सृष्टि बनती है। तो सृष्टि की जो गतिविधि है जिसके कारण विभिन्न प्रकार की परिस्थितियाँ पैदा होती हैं, जो सृष्टि के परे की धातु से बना हुआ है, वह परिस्थितियों का दास कैसे हो सकता है ? और जो व्यक्ति अपने को परिस्थितियों का दास मान ले और अनुकूलता को बनाए रखना चाहे और प्रतिकूलता को हटाए रखना चाहे तो क्या उसकी यह चाह कभी पूरी होने वाली है ? जी ! नहीं है। जो अपने को परिस्थितियों का दास मान लेगा उसकी क्या दशा होगी ? तो मानव सेवा संघ कहेगा- भैया ! उसकी मानव संज्ञा समाप्त हो गई। फिर वह मानव नहीं रहा। जिसने स्वीकार कर लिया कि भाई, अपने आप जो सुखद परिस्थिति आ जायेगी तो हम सुखी हो जायेंगे और अपने आप जो दुःखद परिस्थिति आ जाएगी तो हम दुःखी हो जायेंगे। इस प्रकार जिसने अपने को परिस्थितियों की दासता में आबद्ध कर लिया उसकी मानव संज्ञा खत्म हो गई। वह तो पशु श्रेणी में आ गया, जहाँ जन्म लेने की बाध्यता भी है और शरीर के माध्यम से मिलने वाले सुख-दुःख भोगने की बाध्यता भी है।

स्वामीजी महाराज ने मानव जीवन के इस सत्य को मानव सेवा संघ के माध्यम से संसार को सुनाना पसन्द किया कि देखो भाई ! मनुष्य संसार में सुख-दुःख का दास बनने के लिए नहीं आया है। परिस्थितियों का उपयोग करके सभी परिस्थितियों से अतीत आनन्द और अनन्त प्रेम का पात्र बनने के लिए आया है। तो मानव सेवा संघ क्यों बना ? इसलिए बना कि मानव मात्र को मानव के जीवन का यह सत्य सुना दिया जाए। मानव सेवा संघ की रजत-जयन्ती की सफलता क्या है ? २५ वर्ष जो इसके बीते, मानव समाज में सेवा करते हुए, इसकी सफलता का मापदण्ड क्या है ? क्या हुआ इससे ? तो यदि व्यक्ति-व्यक्ति के जीवन में, यह चेतना जग गई कि मैं परिस्थितियों का दास नहीं हूँ, सुखद परिस्थिति आयेगी तो सेवा करके उससे ऊपर उठ जाऊँगा, दुःखद परिस्थिति आयेगी तो त्याग करके उससे ऊपर उठ जाऊँगा। सेवा और त्याग के आधार पर सभी परिस्थितियों से अतीत

के जीवन में पहुँच जाऊँगा। यह सत्य अगर किसी भाई, किसी बहिन ने स्वीकार कर परिस्थितियों की दासता से अपने को मुक्त कर लिया, तो मानव सेवा संघ सफल हो गया। मानव सेवा संघ के विचारों पर व्याख्यान देने से मानव सेवा संघ सफल नहीं हुआ। फर्क मालूम होता है ? जी- मैं एक बात और सुनाना चाहती हूँ, अपने मानव सेवा संघ परिवार के प्रिय साधकों को, कि हम लोग अपने व्यक्तिगत जीवन के उत्थान के लिए सन्त के प्रेम और प्रेरणा से प्रेरित होकर, ऐसी उन्मुक्त विचारधारा को, मानव समाज में बनाए रखने के लिए तत्पर रहें। दो बातें हुईं। एक तो संघ के विचार को अपना कर अपनी समस्या हल कर लो। और दूसरी यह कि यह तो बड़ी अच्छी चीज है, यह समाज में बनी रहे तो हमारी तरह बहुतों का कल्याण होगा। इन दिनों दृष्टियों से हम लोगों को काम करना है। यदि मैंने अपने जीवन में से परिस्थितियों की दासता को मिटा लिया तो मेरा यह कहना कि मनुष्य परिस्थितियों का दास नहीं है दूसरों को प्रभावित कर सकेगा।

कल अपने प्रवचन में बाबूजी ने कहा कि मोहम्मद साहब के पास बच्चा लेकर एक माँ आई कि यह बहुत गुड़ खाता है, इसको गुड़ खिलाना कैसे बन्द करें। तो मोहम्मद साहब ने कहा कि १५ दिन बाद आना। क्यों ? इस १५ दिन के समय मोहम्मद साहब ने खुद भी गुड़ खाना छोड़ा। इसके लिए ही उन्होंने १५ दिन का समय माँगा और १५ दिन बाद बच्चा लेकर वह माँ आई, तो उन्होंने बच्चे को समझा दिया कि इतना गुड़ खाने से तुम्हारी तबियत खराब होती है तो मत खाना। तो संघ की कथा जो है, वह जीवन की कथा है और हम लोगों को दोनों तरह से, हर समय प्रयास करना है।

स्वामीजी महाराज के एक बड़े पुराने प्रेमी, बड़ा प्रेम था उनका स्वामीजी महाराज के प्रति। कहाँ उठायें, कहाँ बैठायें, हृदय में रखें, आँख में रखें, ऐसा। जब संघ बनाया तो बार-बार उनसे कहा कि ऐ दोस्त ! अब आ जाओ मेरे साथ। तो कहें-''स्वामीजी महाराज, मेरे में तो बहुत अवगुण भरे हैं। मैं कैसे मानव सेवा संघ का आजीवन कार्यकर्ता बनूं ?'' बार-बार यही उत्तर दें कि मेरे में तो बहुत से दोष

भरे हैं। तो स्वामीजी महाराज हँस कर बोले कि अरे भैया ! क्या बीमार आदमी को कहना चाहिए कि अभी तो मुझमें रोग बहुत हैं, अस्पताल कैसे जाऊँ ? महाराज जी की युक्तियाँ देखिये। क्या बात करते हो यार! अरे, जिसमें कोई दोष नहीं रह जायेगा, वह काहे के लिए किसी विचार-प्रणाली, काहे के लिए किसी संस्था, काहे के लिए किसी सन्त के पास जायेगा। जिसमें कोई दोष नहीं रह जायेगा, जो सब प्रकार से शुद्ध, पवित्र हो जायेगा, सिद्ध हो जायेगा, उसको साधकों की सूची में नाम लिखवाने की जरूरत ही क्या है ? सो तो है नहीं। यह उदाहरण देकर अपने सभी भाई-बहिनों को मैं याद दिलाना चाहती हूँ कि आप अपने को प्यार करें। आप सन्त को प्यार करें। आप सृष्टि को प्यार करें। आप संस्था को प्यार करें। आप परमात्मा को प्यार करें। तो ऐसा कभी न सोचें कि जब हम सब प्रकार से पवित्र हो जाएँगे तब इसमें शामिल होंगे, यह मतलब नहीं है। मतलब क्या है ?

मानव सेवा संघ का उद्देश्य इतनी सरल भाषा में है- व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज का निर्माण। दोनों एक साथ। तो प्रातःकाल सोकर जागते ही अकेले शान्त होकर बैठो। व्यक्तिगत रूप से सत्संग करो। यह निश्चय करो कि मैं परिस्थितियों का दास नहीं हूँ। परिस्थितियाँ मेरी साधन-सामग्री हैं। परिस्थितियों का दास तो वह है, जिसमें चेतना नहीं है। हम लोगों के लिए परिस्थितियाँ क्या हैं ? परिस्थितियाँ हम लोगों के लिए साधन-सामग्री हैं। तो जो साधन-सामग्री का उपयोग करने लग जायेगा, उसके जीवन में से, सुख का लोभ और दुःख का भय चला जायेगा। यह विकास हो गया आपका। ऐसी विचार धारा, ऐसी विचार-प्रणाली, ऐसी जीवन-शैली, को मैं जीवन-शैली कहती हूँ। पहले-पहल जब इसका दर्शन हुआ मुझे तो Art of living जीने की कला करके मैंने मानव सेवा संघ के बारे में एक लेख लिखा। ऐसी जीवन-शैली, कि जिसके आधार पर किसी भी मत, वर्ग, सम्प्रदाय, इज्म, देशकाल के मानव को जीवन की राह दिखाई दे जाए। ऐसी जीवन-शैली, ऐसी विचार-प्रणाली, मानव समाज में जीवित रहे, प्रचलित रहे, इसके लिए प्रयत्नशील होना। यह सुन्दर समाज के

निर्माण का उपाय हो गया। इन दोनों बातों को साथ-साथ लेकर हम लोगों को चलना है।

जहाँ तक हो सके निकटवर्ती जन-समाज की क्रियात्मक सेवा करते चलो। जहाँ तक हो सके आत्मीयता के नाते, किसी के साथ किसी प्रकार की बुराई न करने का व्रत लेकर चलो। जहाँ तक हो सके, जीवन के सम्बन्ध में जिज्ञासुओं के सामने जीवन के इस सत्य को रखते हुए चलो। भाई, मैंने तो सुना है, मैंने तो ऐसा विचार किया है, मुझे तो यह बात सत्य मालूम होती है, अगर आपको भी अच्छी लगे तो आप स्वीकार कर लीजिए। "आप मान ही लीजिए।" मानव सेवा संघ ऐसी बात कभी नहीं कहता और "यही सत्य है।" ऐसी बात भी कभी नहीं कहता। यह सत्य है और मुझे इससे लाभ हुआ है। यह मानव जीवन की वैज्ञानिकता है। यह मानव जीवन की दार्शनिकता है। यह मानव जीवन की आस्तिकता है। इसको आप स्वीकार करें, इसका अनुसरण करें तो आपको लाभ होगा। लेकिन मेरे कहने से स्वीकार न करें। आप सोच-विचार कर देख लें, आपको जँच जाये तो स्वीकार कर लें। यह मानव सेवा संघ की प्रणाली है। तो मनुष्य परिस्थितियों का दास नहीं है, यह सबसे प्रमुख बात है। यह संघ का सबसे प्रमुख सन्देश है। जहाँ से साधनकर्ता का उत्थान आरम्भ हो सकता है। नहीं तो आप देखिये, इतने दिन का समय जो हम लोगों ने संसार में बिताया, सिर के काले बाल अब सफेद हो चले, तो यह सारा समय और सारी शक्ति (Energy) एनर्जी क्या इसी बात में नहीं खप गई कि अनुकूल परिस्थिति बनी रहे और प्रतिकूलता आ न जाए। खप गई कि नहीं। इसी प्रयत्न में पूरी हो गई। सुख-सुविधा, सम्मान कैसे बना रहे, और दुःख, असुविधा और अपमान कैसे दूर रहे। इसी चेष्टा में अनमोल जीवन के बहुत से भाग को हम लोगों ने खपा दिया।

अब मानव सेवा संघ क्या कहता है कि ध्यान करना पीछे, मंत्र जपना पीछे, आसन लगाना पीछे, ये सब जब होंवे तुमसे तब करना। आज अगर जीवन की यात्रा आरम्भ करते हो तो सबसे पहली बात यह है कि अपने द्वारा इस बात को स्वीकार करो कि मैं परिस्थितियों का

दास नहीं हूँ। दूसरी बात जो मानव सेवा संघ की विशेषता मुझे मालूम होती है और हम सब लोगों के लिए जानना बहुत आवश्यक भी है वह स्वामीजी महाराज ने अपनी सूझ-बूझ के आधार पर और इन्द्रियों को विषय-विमुख करके, मन और चित्त को शुद्ध और शान्त करके, मन को निर्विकल्प बनाकर, बुद्धि को सम करके, बुद्धि की समता के काल में, मानव जीवन का जो सत्य, प्रकृति के और प्रकृति से परे के ईश्वरीय विधान, जिसका दर्शन उन्हें अपने में हुआ, उसके आधार पर उन्होंने हम लोगों को जीवन की राह दिखाई। क्या कहा ? यह कहा कि भाई, इस भ्रम को जीवन में से निकाल दो कि सदगुरु मिलेंगे तो उद्धार होगा। सुनते जाइए। आप सब लोग संघ के प्रेमी हैं। इस भ्रम को निकाल दो कि संस्कार अच्छे होंगे तो साधन बनेगा। इस भ्रम को निकाल दो कि प्रभु कृपा करेंगे तो उद्धार होगा। मानव सेवा संघ ने इनको भ्रम कहा। डरियेगा मत, धीरज रखियेगा। इन सबका justification युक्ति संगत होना आपके सामने आ जावेगा। इस उपदेश का औचित्य क्या है ? स्वामीजी महाराज ने कहा कि मानव मात्र को जो जीवन चाहिए, सो उसी में विद्यमान है और जो अपने में विद्यमान है, उसको अभिव्यक्त होने देने में किसी भी भाई को, किसी बहिन को, अपने को पराधीन कभी नहीं मानना चाहिए।

जब इस विचार में कठिनाई की बात होने लग जाती तो स्वामीजी महाराज कहते- देवकीजी ! साधक के रास्ते में पत्थर मत रखो। तुम पढ़े-लिखे लोगों की यह बात हमको पसन्द नहीं आती है। कहाँ-कहाँ फँसा देते हो, तुम लोग रास्ते में पत्थर मत रखो। free याने स्वतन्त्र हो करके आदमी को सोचने दो। क्या कहा उन्होंने ? कि अगर कोई साधक यह सोच करके बैठ जाए कि सद्गुरु मिलेंगे, तो उनकी सलाह से मैं काम करूँगा, सोचूँगा, तो भाई ! अनेक प्रकार की विकृतियों से भ्रमित हुई तुम्हारी बुद्धि, विषयों के आकर्षण से भ्रमित हुई तुम्हारी बुद्धि सद्गुरु को पहिचानेगी कैसे ? कब तक तुम प्रतीक्षा करोगे ? तब तक प्राण पँखेरू उड़ गये तो ? अब अपनी बुद्धि से सद्गुरु की जाँच करने तुम चल रहे हो, तो क्या ठिकाना है कि

सद्गुरु को तुम ठीक से पहिचानोगे। क्या जाने किसके पंजे में फँसोगे। तो "ज्ञान गुरु मम हृदय बिहारी", मानव सेवा संघ ने गुरु का खण्डन नहीं किया है। बड़ा भारी समर्थन किया है इस रूप में कि कोई शरीर गुरु नहीं होता है। गुरु तत्त्व होता है और परमात्मा ने आपको पराधीन बनने के लिए दुनिया में नहीं भेजा। इसलिए जिस गुरु तत्त्व की हर भाई को, हर बहिन को जरूरत है, उस गुरु तत्त्व को परमात्मा ने आप ही में दे करके भेजा है। यह मानव सेवा संघ का विचार है। लीजिये, अब इस झंझट से भी आप स्वतन्त्र (free) हो जाइये और आप बिल्कुल परवाह मत कीजिए कि किसी सद्गुरु से हमारी भेंट हुई कि नहीं हई। कब होगी ? इस बात की चिन्ता मत कीजिए।

मानव सेवा संघ आपको स्वाधीन बनने के लिए सलाह देता है कि निज विवेक का आदर करो। जैसे-जैसे उसका आदर करते जाओगे, उसका प्रकाश बढ़ता जायेगा और मान लो कि किसी समय तुम्हारे भीतर के ज्ञान को, बाहर से समर्थन की जरूरत होगी, तो तुम्हारे बिना बुलाए, तुम्हारे बिना खोजे, अनन्त के मंगलमय विधान से कोई सत्पुरुष तुम्हारे पास आयेगा और तुमको सलाह देके चला जायेगा। अपने आप जो आयेगा वह ठीक आयेगा और आप खोजते फिरेंगे तो बहुत बार गलत व्यक्ति के पंजे में फँसेंगे। तो यह बात भी खत्म हो गई।

एक कथा सुनाई महाराजजी ने- जंगल में कहीं कोई साधक बैठे थे, कहीं दूर रास्ते से एक महापुरुष घोड़े पर बैठे जा रहे थे, पहाड़ पर उत्तरकाशी में कहीं। तो एक जगह पर जाकर घोड़ा अड़ गया, आगे चले ही नहीं, तो महापुरुष तो मस्त होते ही हैं, उनको परिस्थिति की कोई चिन्ता होती ही नहीं है, तो उन्होंने घोड़े की रास ढीली कर दी कि जा भैया, ठीक रास्ते नहीं जाता है तो जहाँ जाना है ले जा, ऐसा करके उन्होंने रस्सी ढीली कर दी तो घोड़ा जंगल के भीतर एक अनजान रास्ते में घुस गया, और चलते-चलते एक वृक्ष के नीचे जाकर खड़ा हो गया। उस वृक्ष के नीचे एक साधक बैठा था। उसको देखकर महापुरुष घोड़े पर से उतर गये, और कहने लगे, अच्छा ! तू यहाँ बैठा

है, इसी के कारण मेरा घोड़ा कुटिया की तरफ नहीं गया। अच्छा भाई! घोड़े पर से उतर कर उस साधक के पास बैठ गये, उससे बातचीत कर ली। उसकी जो जिज्ञासा थी वह शान्त हो गई। उठ करके खड़े हो गये, फिर घोड़े पर बैठ गये और चलते समय साधक से बोले, जरूरत हो तो भैया, फिर बुला लेना, मिल लेना। वह साधक गुरु महाराज से भी ज्यादा मस्त। वह कहने लगा कि महाराज आज आपको कौन बुलाकर लाया ? मैं कहाँ जाऊँगा आपको बुलाने। मुझे जरूरत पड़ेगी तो आप स्वयं आइयेगा। गुरु-चेले दोनों मस्त हो गये, चले गये।

स्वामीजी महाराज की बातें जो हैं, वह कोरी सिद्धान्त पर आधारित नहीं हैं। इतनी सत्य है यह बात कि, स्वामीजी महाराज को इतना भी सहन नहीं होता था कि किसी साधक के दिल में सत्य की जिज्ञासा जगे, और वह, कोई सद्‌गुरु मिलेगा तो मार्ग बतायेगा इसकी प्रतीक्षा में एक दिन भी बिताये। यह बात स्वामीजी से सही नहीं जाती थी। क्यों (Wait) इन्तजार करते हो भाई ? तुम्हारा बनाने वाला तुमको प्रति क्षण देख रहा है। तुम्हारी हर जरूरत को पूरी करने के लिये तैयार है, तुम किसी अप्राप्त परिस्थिति की प्रतीक्षा में इन अनमोल घड़ियों को क्यों खो रहे हो ? यह मानव सेवा संघ की गुरु की प्रतीक्षा की बात हो गई। अब संस्कारों की बात लीजिए। बहुत लोग कह देते हैं कि अरे भाई ! उनके संस्कार बड़े अच्छे थे। अब हमारे भी कभी शुभ संस्कार उदित होंगे, तब हमारा भी विकास होगा। तो मानव सेवा संघ ने इसको भी स्वीकार नहीं किया। किसी व्यक्ति को अच्छें संस्कारों के उदित होने तक प्रतीक्षा करने में, सत्य से विच्छिन्न रहना, मानव सेवा संघ को सहन नहीं होता।

स्वामीजी महाराज ने क्या कहा, कि अरे भाई, संस्कार का अर्थ क्या है ? भुक्त-अभुक्त इच्छाओं का प्रभाव। तो जब तुम्हारे तीनों शरीर ही, सत्य की शोध में सहायक और बाधक नहीं हो सकते हैं तो सूक्ष्म शरीर का व्यापार ही न संस्कार है, और क्या है ? वह तुमको बाधा कैसे पहुँचा सकता है ? इसलिए संस्कारों की दुहाई दे करके जिस जीवन

की अभिव्यक्ति आज हो सकती है, इसी क्षण में हो सकती है उसको भविष्य पर टालो मत। संस्कारों के विषय में दूसरी बात यह बताई कि देखो भाई, संस्कारों के प्रभाव से रुचि, अरुचि बनती है। likes and dislikes पसन्दगी और नापसन्दगी हर व्यक्ति की अलग-अलग होती है न। मुझे दही खाना बहुत पसन्द है और मेरी एक लड़की है, जो दही की गन्ध भी नहीं सह सकती। यह क्या है ? संस्कारों का फल है। किसी को कुछ अच्छा लगता है, किसी को कुछ अच्छा लगता है। तो स्वामीजी महाराज ने कहा कि मनुष्य के जीवन में likes and dislikes रुचि और अरुचि, पसन्दगी-नापसन्दगी यह संस्कार का फल हो सकता है, लेकिन जो सत्य का जिज्ञासु है, उसे सत्य से मिलने में संस्कार कैसे बाधा पहुँचायेगा ? likes and dislikes दोनों को आपको भाड़ में डालना है। पसन्दगी और नापसन्दगी दोनों को छोड़कर आगे बढ़ना है। तो संस्कार आपके मार्ग में बाधक कैसे हो सकते हैं ? नहीं हो सकते हैं। इसलिए यह शंका भी छोड़ दो। अब तीसरी बात सबसे बड़ी है जिसकी आड़ में हम लोग बहुत दिनों तक अपनी दुर्बलताओं को छिपाकर ढोते जाते हैं, वह भी सुन लीजिए। कहते हैं भाई, अपने करने से कुछ नहीं होता है, वो तो जब परमात्मा कभी कृपा करेंगे तो हो जायेगा। वाह ! यह तो खूब मजा रहा। परमात्मा की कृपा से काम बनने वाला होता तो उन कृपालु ने क्या कभी अपनी कृपा का दरवाजा बन्द किया है ? जी- बन्द नहीं किया। अगर उन्हीं को करना होता तो क्या वे हम लोगों से पूछते कि तुम्हारा उद्धार कब करें।

मानव सेवा संघ ने ऐसा नहीं माना। परमात्मा कृपालु हैं, यह सत्य है। उनकी कृपा निरन्तर बरस रही है। यह सत्य है। उद्धार किसका हुआ ? उस कृपा का दर्शन किसने किया ? उनके और हमारे बीच में जो दूरी रह गई है, सत्य और परमात्मा की उपस्थिति का अपने को जो कोई आनन्द नहीं आ रहा है, साधक और साध्य में, भक्त और भगवान में, जिज्ञासु और तत्त्व में जो भेद प्रतीत हो रहा है वह भेद है नहीं। केवल प्रतीत हो रहा है इसमें एक ही बात है और वह यह है कि जो आप ही में विद्यमान है, उसके विकास का प्रारम्भ कब होता है। जब

आप उसकी आवश्यकता अनुभव करें तब होता है। तो परमात्मा की कृपा कहीं दूर नहीं है। किसी पर हो गई और किसी पर नहीं हो गई, कभी हो गई और कभी नहीं हुई, ऐसी बात भी नहीं है। जीवन के विकास के लिए, परमात्मा ने आपको स्वाधीनता देना पसन्द किया है। इसलिए पहले आपका पुरुषार्थ प्रारम्भ होता है, और पुरुषार्थ के प्रारम्भ के पहले से आपका अहंरूपी अणु में परिवर्तन होता है। उस परिवर्तन से, परमकृपालु की कृपा का दर्शन होता है। तो आप इस आधार पर भी अपने को गलत-सलत रास्ते पर नहीं छोड़ सकते हैं। किस आधार पर, कि जब प्रभु कृपा करेंगे तो मेरा सुधार होगा। अगर उन्हीं को करना होता तो आपको बिगड़ने ही क्यों देते ? पशुओं की भाँति आपको प्रकृति के नियमों में बाँध देते। भूख लगने पर हरी-हरी घास को खा लेना और पेट भर जाने पर एक तिनका भी अधिक मुँह में नहीं डालना। प्रकृति का जैसा नियम है, उनका जैसा विधान है खाने का, सोने का, मलमूत्र त्याग करने का, बाल-बच्चे पैदा करने का। हर क्रिया पर पशु के जीवन में जबर्दस्त प्राकृतिक विधान है। लेकिन हम लोगों को परमात्मा ने प्रकृति के विधान में बाँध कर पशुओं की श्रेणी में रखना नहीं चाहा, इसलिए उन्होंने स्वाधीनता दी। किस बात की स्वाधीनता दी ? कि प्राप्त परिस्थिति का सुख भोग करके, परिस्थितियों की दासता में आप स्वयं ही बँधना चाहते हैं तो बँध जाते हैं। और विवेक के प्रकाश का अनुसरण करके, प्राप्त परिस्थिति के सुख को बाँट करके, जगत की पीड़ा को अपने लिए खरीद करके, विकृत चित्त को शुद्ध भी आप ही चाहें तो कर सकते हैं। यह स्वाधीनता उन्होंने दी। यह स्वाधीनता हमारी-आपकी आज भी परमात्मा की ओर से सुरक्षित है। ऐसा नहीं है कि सतयुग में तो स्वाधीनता थी और कलियुग में नहीं है। सो नहीं है। परमात्मा ने जो स्वाधीनता मनुष्य को देना पसन्द किया वह प्रत्येक युग में, प्रत्येक काल में, प्रत्येक देश में, प्रत्येक व्यक्ति के साथ आज भी समान रूप से सुरक्षित है।

मानव सेवा संघ का संदेश क्या है ? मानव सेवा संघ अपने को इस आधार पर सफल मानता है कि हम और आप जो उसके प्रेमी

भाई-बहिन साधक हैं वे अपनी इस स्वाधीनता को realise करें, अनुभव करें। प्रभु की दी हुई स्वाधीनता और विधान का अनादर किये जाओ, समय का अवसर का लाभ न उठाओ, जो नहीं करना चाहिए वह किये जाओ, और शान्ति की जरूरत मालूम पड़े तब कह दो कि परमात्मा की दया होगी तो मिलेगी। सो नहीं चल सकता। जो ईश्वर के विधान को मानकर चलता है उसका विकास होता है। जो विधान की अवहेलना करेगा, उसका विकास नहीं होगा। तो पुरुषार्थ को प्रारम्भ करने का दायित्व मुझ पर क्यों आया ? क्योंकि मेरे जीवनदाता ने मुझको स्वाधीनता देना पसन्द किया। महाराजजी को मैंने एक बार कहा कि स्वामीजी महाराज, अगर ऐसा ही नियम बना दिया गया होता तो प्रारम्भ से ही मैंने कोई भूल नहीं की होती तो मेरे सामने दुःख नहीं आता। माता-पिता ने, निकटवर्तियों ने तो यही सिखाया था। जिन्दगी में दुःख क्यों आया ? तो तुम्हारी भूल से आया। स्वामीजी से जब भेंट हुई तो मैंने कहा- महाराजजी ! शुरू से ही बता दिया गया होता, मैं भूल नहीं करती, तो दुःख नहीं आता। प्रारम्भ से ही ऐसा किया जाता। अब इतना दुःख भोगने के बाद, इतनी विकृतियों को पैदा करने के बाद, लोभ, मोह, काम, क्रोध में फँसने के बाद, अब मेरे सिर पर भार आ गया कि इनसे छुट्टी पाओ। मैं बहुत नाराज थी। प्रारम्भ से ही ऐसा कर दिया जाता तो महाराजजी ने कहा कि देखो, देवकीजी! अगर ईश्वरीय विधान इस प्रकार का बन जाए कि कोई जैसे सोचे कि मैं झूठ बोलकर काम निकाल लूँ, उसी समय उसकी वाणी की शक्ति भगवान छीन लें, बोलने ही न दें। अगर इस प्रकार की बनावट मनुष्य की हो जाए तो उसकी मनुष्य संज्ञा समाप्त हो जाएगी। पशु श्रेणी में चला जायेगा।

आपको परमात्मा ने स्वाधीन बनाया और आपकी स्वाधीनता को सुरक्षित रखना पसन्द किया। किसलिए, कि आप स्वेच्छा से यह कह सकें कि दिखाई देने वाला सुहावना-लुभावना संसार मुझे नहीं चाहिए। यह बनने-बिगड़ने वाली सृष्टि का सुख मुझे नहीं चाहिए। मुझको तो सदा-सदा तक रहने वाला, अजर-अमर अविनाशी परम प्रेमास्पद

परमात्मा चाहिए। तो आप सुहावने संसार को देखते हैं और आप इतने स्वाधीन हैं कि उसके सुख को कहते हैं कि ''जाओ तुम जाओ, मुझको यह सुख नहीं चाहिए। आप इतने स्वाधीन हैं कि परमात्मा को देखते भी नहीं हैं, जानते भी नहीं हैं, उससे कुछ माँगते भी नहीं हैं, और कहते हैं कि प्यारे तुम मौज में रहो, मैं तो तुम्हारे प्रेम में रहूँगा। तो इतनी स्वाधीनता आपको दे करके, परमात्मा ने भेज दिया, फिर भी अपने विकास के लिए, आप गलत-सलत काम किये जायें और विकास करने की बात आवे तो कहें कि परमात्मा कृपा करेंगे तब होगा, तो यह बड़ा भारी भ्रम होगा। इसलिए इस भ्रम को भी समाप्त करो। कृपालु सदैव कृपा कर ही रहे हैं। अपने पर जो दायित्व है उसको पूरा करके हम लोग आगे बढ़ जायें इसके लिए मानव सेवा संघ को बनाना आवश्यक हो गया।

अब हम शान्त हो जायें और संघ के सन्देश को अपने व्यक्तिगत जीवन के लिए धारण करने में तत्पर होकर उसे भीतर-भीतर अपने ही द्वारा, अपने आप दोहरा लें। यह सन्देश मेरा जीवन बन सका, एक भी व्यक्ति का जीवन इस सन्देश के अनुसार ढल सका तो मानव सेवा संघ अमर हो जायेगा। उसकी रजत जयन्ती सफल हो जायेगी।

(27)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयों !

हम लोगों ने मानव जीवन के उत्थान के लिए एक अचूक मंत्र सुना। यह स्वामीजी महाराज का अनुभूत सत्य है और मानव मात्र के जीवन का सत्य है। क्या है ? कुछ चाहोगे तो कुछ मिलेगा, कुछ नहीं मिलेगा और कुछ नहीं चाहोगे तो सब कुछ मिलेगा। यह मंत्र है।

चाह लेकर हम लोगों को शरीर धारण करना पड़ा है। यह चाह का ही परिणाम है। ऐसा नहीं है कि शरीर बन गया तो मुझको विवश होकर चाह रखना पड़ता है सो बात नहीं है। संकल्पों से प्रेरित होकर

अतृप्त इच्छाओं की तृप्ति के सुख की ओर आकर्षण होने के कारण शरीर धारण करना पड़ता है। प्रकृति का विधान ऐसा ही है कि शरीर की शक्ति का अन्त हो जाए; शरीर का नाश हो जाए और इच्छाएँ शेष रह जाएँ तो उन इच्छाओं की पूर्ति के सुख के आकर्षण के कारण फिर शरीर धारण करना पड़ता है। इच्छाओं से प्रेरित होकर हम जन्म लेने के लिए बाध्य होते हैं। इच्छाओं की पूर्ति-अपूर्ति के सुख-दुःख में इस जन्म का भी बहुत-भाग निकल गया। जब समझ नहीं थी तब इच्छाओं के फेर में पड़े रहते थे। बचपन में, छुटपन में जो उमंग उठती है, उस समय बालक संभव-असंभव कुछ नहीं समझता है, मन में कोई बात उठी तो वह मचल जाता है, अभी पूरा करो उसको। बचपन में जब समझ कम थी तो इच्छाओं की पूर्ति के लिए हम जीते रहे लेकिन प्रौढ़ होने पर जब जीवन की घटनाओं ने हमें यह बताया कि भाई, आज तक सृष्टि में एक भी व्यक्ति ऐसा नहीं हुआ जिसकी सब इच्छायें पूरी हो गई हों। ऐसा हम लोगों ने कभी सुना नहीं है, और अपने सम्बन्ध में भी अब तक का जो समय बीत गया है, अब तक के समय के भीतर जो कुछ भी घटनाएँ घटित हुई हैं, उनके आधार पर व्यक्तिगत रूप से भी हम सभी भाई-बहिन इस बात को जानते हैं कि जितनी इच्छायें उत्पन्न होती हैं सब पूरी नहीं होतीं। मालूम है कि नहीं ? जी ! सब पूरी नहीं होतीं। तो यह एक ऐसा कठोर सत्य है जीवन का, जिसे हम सभी लोग जानते ही हैं और जिसे हम सब लोगों को स्वीकार करना ही पड़ता है।

संत जन हमें सलाह देते हैं कि जब यह बात तुम्हारी अपनी जानी हुई है, किसी के सिखाने-समझाने से नहीं, किसी ग्रन्थ के पढ़ने से नहीं, अपने ही जीवन की घटनाओं को देख करके इस बात को हर भाई, हर बहिन अच्छी तरह जानते हैं कि सब इच्छाएँ किसी की भी पूरी नहीं होती हैं। मेरी भी अब तक पूरी नहीं हुई। यह भी पक्की बात हो गई। हमारी जानी हुई बात हो गई। अब इसमें एक मनोवैज्ञानिक रहस्य देखो। मान लीजिए कि बचपन से जवानी तक, प्रातःकाल से सन्ध्या तक, कई बार, कई प्रकार की इच्छाएँ पूरी हो गई हों। एक

ही दिन का मान लीजिये, सुबह से शाम तक। फिर भी अगर रात्रि में सोते समय कोई इच्छा रह गई है, जिसकी पूर्ति दिन भर में नहीं हुई तो इच्छा की अपूर्ति का tension अर्थात् तनाव जो है वह दिन भर में जो दो-चार बार इच्छायें पूरी हुईं, उस पूर्ति के सुख से कुछ घटता है कि ज्यों का त्यों रहता है ? कई बार इच्छा पूरी हुई, कई बार उसका सुख लिया लेकिन सन्ध्या समय या सोते समय एक भी बात अधूरी रह गई तो वह दिल में वैसे ही खटकती है जैसे कि कभी किसी इच्छा की पूर्ति नहीं हुई हो। ऐसा हो जाता है। और मैंने तो इसका इतना भंयकर परिणाम देखा है कि कई बार आपने सुना होगा कि जब-जब बड़ी-बड़ी परीक्षाओं का Result (परिणाम) निकलता है तो जहाँ-तहाँ सुनाई देता है कि एक विद्यार्थी रेल की पटरी पर लेट कर कट गया। II Class marks पाने वाले खुशी होकर मिठाई खाते हैं और खिलाते हैं। I Class में I Position पाने की आकांक्षा थी और 2nd-3rd Position हो गयी तो वह जाकर रेल की पटरी पर सोकर कट जाता है। सुना है, ऐसा होता रहता है। क्या हो गया ? जिसने उम्मीद नहीं की थी कि मैं पास हो जाऊँगा उसको अगर 2nd Class मिल गया तो उसके यहाँ खुशी मनाई जाती है, आनन्द करता है वह। मित्रों से मिलता है, जुलता है। मिठाई खाता है, खिलाता है और जिसने सोचा था कि मुझको 1st Class-1st Position मिलना चाहिए वह केवल पेज ब्से आने पर सन्तुष्ट नहीं होता कि चलो वहाँ तक तो पहुँच गया, पर जैसा मैंने चाहा था वैसा नहीं हुआ तो उतना ही बड़ा दुःख हो गया, उतना ही बड़ा अन्धकार आ गया सामने जो कि किसी भी इच्छा की अपूर्ति पर होता है, यह नहीं कि क्या बात है, कोई हर्ज नहीं, जाने दो इतना तो पहुँच गये, सो नहीं। बड़ी विचित्र बात है।

स्वामीजी महाराज को इन बातों का खूब अनुभव था और इस पर उन्होंने बहुत प्रकाश डाला कि भाई ! मन की एक बात पूरी नहीं हुई, चाहे सारे दिन में दस बार मन की बात पूरी हो गई हो और एक भी अधूरी रह गई तो एक भी इच्छा की अपूर्ति व्यक्ति को उतने ही दुःख में, उतनी ही बेचैनी में, उतनी ही नीरसता में डाल देती है,

जितनी कि कभी भी उसे रही हो।

आप सोचकर देखिए, अब क्या बताएँ ? जब समझ नहीं थी तो बचपना कहलाया, हम इच्छा पूरी न होने पर रोये, हाथ-पाँव पीटे, सामान उठाकर फेंका, माता-पिता को तंग किया, भाई-बहिनों को तंग किया। जो भी कुछ हुआ, सब समाज ने, उदार माता-पिता ने, भाई-बन्धुओं ने माफ कर दिया। बड़े होने पर जब जीवन का बड़ा चित्र सामने आता है तो उसके बाद भी अगर हम इच्छा पूर्ति के ही फेर में पड़े रहें तो मैं तो कहूँगी कि ऐसी हालत में मैं मानव कहलाने की अधिकारिणी नहीं हूँ। सोचिए, बेसमझी थी तो सबने माफ कर दिया। अब इतनी समझ होने के बाद भी इच्छा-पूर्ति के ही फेर में हम पड़े रहें तो मैंने क्या सत्संग किया ? क्या साधन किया ? मैंने समझदारी का क्या उपयोग किया ? सोचने की बात है। मानव सेवा संघ इस सिद्धान्त में विश्वास करता है कि हर व्यक्ति में अपनी आँखों देखने और अपने पैरों चलने की सामर्थ्य है। उसको याद दिला दो। भूल गया है, या जानते हुए भी पराधीनता-जनित सुख में डूबा हुआ उसकी याद करना नहीं चाहता है।

तो मेरे वश की बात नहीं है कि आप अपनी आँखों देखना न चाहें तो मैं आपको दिखा दूँ और आप अपने पैरों न चलना चाहें तो मैं चला दूँ। यह मेरे वश की बात नहीं है। तो महाराजजी ने क्या कहा ? महाराजजी ने कहा कि देखो, ईंट पत्थर जोड़कर बहुत से महल बना लेना और बहुत बड़ी जनसंख्या का संगठन कर लेना, यह मानव सेवा संघ का उद्देश्य ही नहीं है। मानव सेवा संघ का उद्देश्य तो केवल इतना है कि व्यक्ति के जीवन में उसकी एक अपनी Insight अर्थात् अन्तर्दृष्टि जग जाये। एक अन्तर्दृष्टि उत्पन्न हो जाये कि वह स्वयं अपने जीवन को अपनी आँखों देखना आरम्भ कर दे, और उसे जीवन के लिए जो बात उपयोगी मालूम हो उस उपयोगी बात को मानकर उस पर चलना आरम्भ कर दे। यही मानव सेवा संघ का उद्देश्य है। हम अपनी आँखों देखें और अपने पैरों चलें। अपनी आँखों देखने से क्या पता चला ? यह पता चला-एक बात बड़ी जबरदस्त यह मालूम

हुई कि सब इच्छायें मनुष्य की कभी पूरी होती ही नहीं हैं, इसको प्रकृति के विधान का दोष मत मानिए। इसको परमात्मा की कृति में दोष मत मानिए। मनुष्य की सब इच्छायें पूरी नहीं होती हैं तो इसमें प्राकृतिक विधान का दोष नहीं है। परमात्मा का दोष नहीं है क्योंकि इसमें मनुष्य का हित है कि उसकी सब इच्छायें पूरी नहीं हों। मानव-जीवन के लिये बड़ी भारी हितकारी बात है।

संत के पास बैठकर जीवन के अध्ययन का क्रम जब जारी हुआ तब यह रहस्य मेरी समझ में आया। विश्वविद्यालय में जाकर मनोविज्ञान के अध्ययन की गहराई में उतरना पड़ा। तब यह रहस्य मुझे मालूम हुआ। आप सोचिए कि जिन वस्तुओं, व्यक्तियों और परिस्थितियों के संयोग में हम सदा के लिए ठहर नहीं सकते हैं, उनकी इच्छा करके कहाँ तक आदमी शान्ति और सन्तोष पा सकता है ? पा ही नहीं सकता है। और क्या है ? इसमें भी एक बड़ा भारी रहस्य है। वह क्या है ? जैसे-जैसे आपके भीतर कोई संकल्प उठे, कोई इच्छा उठे और यदि वह तत्काल ही पूरी होती चली जाये तो जल्दी-जल्दी से आपमें बड़ी मानसिक दुर्बलता आ जायेगी, क्योंकि इच्छाओं की पूर्ति के बिना जो कष्ट होता है वही कष्ट जल्दी-जल्दी इच्छाओं की पूर्ति के सुख से भी हो जाता है, और हो रहा है। जल्दी-जल्दी इच्छा पूरी होने लगती है तो इच्छाओं की उत्पत्ति का प्रवाह बढ़ने लगता है। आप अपना अध्ययन करके देखियेगा कि अगर किसी संकल्प की पूर्ति की सामग्री और सहयोगी अपने पास दिखाई दें तो संकल्पों के उठने पर खुशी होती है या विचार का उदय होता है। विचार का उदय नहीं होता है। हो सकता है कि पैसा तो है, सहयोग देने वाले तो हैं, शरीरिक स्वास्थ्य तो अच्छा है, इतना खेल सकते हैं इतना घूम सकते हैं, इतना खर्च कर सकते हैं, इतना खा सकते हैं। उस समय व्यक्ति अपने वास्तविक स्वरूप पर विचार करने की नहीं सोचता है। उस समय परमात्मा की याद नहीं आती है। इच्छाओं की पूर्ति की अगर सामग्री अपने पास हो तो आदमी अधिक से अधिक, जल्दी से जल्दी इच्छा पूर्ति के सुख को भोगने की सोचता है।

मैंने खुद अपना अध्ययन करके देखा है अनेक बार कि अगर सुविधा हो और उस सुविधा के बीच कोई संकल्प उठे तो आदमी उसको पूरा करने की सोचता है, उसको रोकने की, मारने की नहीं सोचता। और मनोवैज्ञानिक सत्य क्या है ? कि जितनी अधिक गतिशीलता आप अपने मन में और तन में रखेंगे उतनी ही अधिक शक्तिहीनता आप में आयेगी। इच्छा पूरी नहीं हुई तो उसके दुःख के कारण क्षुब्ध हो गये। क्षुब्ध होने से भी व्यक्ति दुर्बल हो जाता है। मानसिक शक्ति हा ह्रास होता है। और जल्दी-जल्दी इच्छापूर्ति हो जाने के कारण भी प्राण शक्ति खर्च हो गई तो उसमें भी आप दुर्बल हो गये तो वह दुर्बलता भी आपके लिए असमर्थता और नीरसता का कारण बनकर उसी मानसिक विकृति में आपको डाल देगी जिस मानसिक विकृति में इच्छा की अपूर्ति डालती है।

स्वामीजी महाराज ने बड़ी रहस्य की बात बताई कि भाई, मनुष्यके जीवन में भौतिकता है तो दार्शनिकता भी है। दार्शनिकता है तो आस्तिकता भी है। जिन लोगों ने भौतिक शक्तियों को इच्छा-पूर्ति के साधन जुटाने में खर्च करना पसन्द किया, वैज्ञानिक खोज की उपलब्धियों (साइन्टिफिक रिसर्च) को जिन्होंने मनुष्य की सुखद प्रवृत्तियों का सहयोगी बनाया, उसके जीवन में आज बड़ी विक्षिप्तता है। ड्राइंग-रूम में बैठे हैं, तो एक रेडियो वहाँ बज रहा है, बाथरूम में स्नान करने गये तो एक वहाँ बज रहा है। हमारे यहाँ छात्रावास में लड़कियाँ पढ़ने बैठती थीं तो हमको तो बड़ा आश्चर्य होता था कि कौन सा ध्यान रेडियो सुनने में लग रहा है। आदत आज ऐसी हो गई है कि रेडियो खोलकर रख देंगी, उसमें से आवाज आती रहेगी और बैठकर पढ़ेंगी। यह क्या हो रहा है भाई ? पढ़ने का अर्थ, मनोयोग से अध्ययन करने का अर्थ तो मैं यह समझती हूँ कि दूसरी कोई भी उत्तेजना तुम्हारे मस्तिष्क को आघात न पहुँचावे। एक ही ध्यान रखकर पढ़ो। सो नहीं। अब दिनभर क्लास में पढ़ने जायेंगी तो रेडियो सुनने का मौका नहीं है, छात्रावास में बैठेंगी तो Study hours में पढ़ने के समय भी सुनने का मौका नहीं है और सुनने का सुख इतना जरूरी

है कि चलो दोनों काम एक साथ करें। सोचिए, कि कितना मानसिक भार (Mental Strain) है। लेकिन इच्छापूर्ति के सुख का नशा ऐसा चढ़ा हुआ है कि उसके मारे जो मानसिक शक्ति डबल-डबल खर्च हो रही है, इतनी शक्ति का ह्रास हो रहा है उस पर ध्यान ही नहीं है। इच्छाओं की पूर्ति के उपादान का बहुत ज्यादा उपयोग करने पर भी मानसिक विकृति होती है। इच्छा की अपूर्ति के दुःख के आघात से आदमी पागल होता है तो निर्बाध रूप से जल्दी-जल्दी संकल्प-पूर्ति करने से भी आदमी पागल होता है और आज हो रहा है।

संत महापुरुषों ने, हमारे ऋषियों-मनीषियों ने हमारे जीवन के इस विज्ञान को जाना। मानव-जीवन के दर्शन को जाना और उन्होंने हमारे रहन-सहन में प्रातःकाल से सन्ध्या तक, जब से होश सम्हाला तब से मरने के समय तक सारी सांस्कृतिक व्यवस्था और हम लोगों के नैतिक आचरण की सब व्यवस्था इस प्रकार से की कि व्यक्ति चाहपूर्ति के सुख से विमुख होकर सब प्रकार से अचाह होने की ओर चला जाये। आप देख लीजिये- पहले तो होश आते ही प्रकृति की गोद में रहकर गुरु के घर में जाकर गुरुकुल में पढ़ो, और धन कमाने लगे तो कमाये हुए धन को अकेले ही खाने की मत सोचो। बालक को खिलाओ, वृद्ध की सेवा करो, रोगियों की सेवा करो, अतिथियों की सेवा करो, सन्तों की सेवा करो और जितने प्राणी घर में हैं, सब खा-पी लें, सब तृप्त हो जायें, तब धन कमाने वाले आदमी को खाने का अधिकार बताया। सबसे अन्त में तुम ग्रहण करो। फिर पैदा किए हुए बच्चे समर्थ हो गये तो अब जल्दी-जल्दी पारिवारिक दायरे को तोड़कर, ममता के घेरे को छोड़कर, जिन बच्चों से, जिन वृद्धों से, समाज के जिन प्राणियों से तुम्हारा मोह का सम्बन्ध नहीं है उनकी सेवा करो और सेवा करने की शक्ति जब खत्म हो जाये, घट जाये, इन्द्रियाँ शिथिल होने लगें, उसके पहिले, प्राणशक्ति के रहते-रहते जल्दी से जल्दी संन्यासी हो जाओ। अर्थात् मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, मैं कुछ नहीं हूँ। इस व्रत को लेकर, सारे संसार से, शरीर से सम्बन्ध तोड़कर पार हो जाओ। तो आप देखिए-सारी व्यवस्था किस प्रकार की है कि

चाहपूर्ति के सुख की ओर से हट कर अचाह होने की दिशा में चलो।

एक बार एक ट्रिप में मैं दार्जिलिंग गई थी। पढ़ाई के दिनों की बात है। Psychology की चर्चा चल रही थी। दो-चार वृद्ध रिटायर्ड टीचर लोग मिल गये थे। ऐसे ही टहलने में भेंट हो जाती थी। कहने लगे कि आधुनिक मनोविज्ञान ने मानव जीवन को ऊँचा उठाने को इतना काम किया है। मेरी बड़ी लालसा है मैं जानना चाहता हूँ कि हमारे पुराने मनीषियों ने मनोविज्ञान पर क्या लिखा है और भारतीय मनोविज्ञान के सम्बन्ध में मुझको कुछ जानकारी चाहिए, आप बताइये। तो मैं तो पढ़ रही थी उस समय वही आधुनिक मनोविज्ञान। बाहर के लोगों ने रिसर्च करके दे दिया, हम लोग बैठकर पढ़ते थे। तो अब हमें बताया गया और सोचने से मुझको पता चला कि भारत में जो बड़े-बड़े विद्वान हुए, जिन्होंने मानव जीवन के उत्थान के लिये बहुत सोच-विचार किया, उन्होंने मनोविज्ञान पर अलग से ग्रन्थ नहीं लिखा। मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन में, पैदा होने के पहिले से और मरने के बाद तक इतना मनोविज्ञान संस्कारों में, व्यवहार में, आचार में भर दिया, कि आप उसके अनुसार चलना आरम्भ करें तो अपने आप मनोवैज्ञानिक स्तर से ऊपर उठकर दार्शनिकता में पहुँच सकते हैं। भारतीय मनीषियों ने मनुष्य के जीवन के किसी भी विज्ञान को जीवन से विच्छिन्न करके केवल अध्ययन का विषय बनाकर नहीं रखा है। जीवन के साथ मिला दिया। इतना मिलाया है, इतना मिलाया है कि स्वामीजी महाराज के पास आकर मुझे हमारे जीवन पर उसका प्रभाव स्पष्ट दिखाई देने लगा और उसी आधार पर आज मैं आपकी सेवा में यह निवेदन कर रही हूँ कि संकल्पों की अपूर्ति से जीवन में जो विकृति आती है, संकल्पों की अत्यधिक पूर्ति से भी वही विकृति आती है।

इसलिए प्रकृति का जो विधान है, परमात्मा का जो विधान है कि मनुष्य के जीवन की सब इच्छायें पूरी नहीं होंगी, यह विधान हमारे आपके जीवन के लिए परम कल्याणकारी है। सोचकर रख लो। कभी मत क्षुब्ध होना, कभी मत दुःखी होना। जब कोई इच्छा पूरी न हो तो एकदम शान्त हो जाना। सोचना कि इसमें मेरा बड़ा कल्याण है।

इसलिए यह इच्छा पूरी नहीं हुई। ऐसा सोच लोगे तो चित्त में बड़ी शान्ति आ जायेगी। बड़ी चेतना आ जायेगी। इच्छाओं की पूर्ति-अपूर्ति के द्वन्द्व से ऊपर उठने की सामर्थ्य आ जायेगी। तब अपने पर क्रोध नहीं आयेगा। तब परिवार के लोगों पर क्षोभ नहीं पैदा होगा। तब वस्तु और व्यक्ति के स्तर पर जलभुन कर खाक होने की जरूरत नहीं पड़ेगी। तब वस्तु और व्यक्ति की पराधीनता से ऊपर उठकर परम आनन्द में प्रवेश करने की जिज्ञासा आरम्भ हो जायेगी। इसलिए मनुष्य के जीवन में इच्छाओं की अपूर्ति की घड़ी जो आती है, वह बहुत ही शुभ घड़ी है। एक बात हो गई।

अब इसके बाद देखो- दूसरा इसमें से कल्याणकारी तथ्य क्या निकलता है कि जब-जब व्यक्ति की इच्छापूर्ति में बाधा पड़ती है तो सजग व्यक्ति उससे ऊपर उठने की चेष्टा करता है। उस दुःख से मुक्त होने की चेष्टा करता है। और उसमें उसका बड़ा विकास होता है। महाराजजी ने जो कहा कि कुछ चाहोगे तो कुछ मिलेगा, कुछ नहीं मिलेगा और कुछ नहीं चाहोगे तो सब कुछ मिलेगा। यह बड़ा सत्य है। पहली बात तो यही आ गई कि कुछ चाहने को हम स्थान ही न दें अपने जीवन में। तो फिर आप कहेंगे कि काम कैसे चलेगा ? कौन सा काम हमारा चल रहा है ? इतने दिन इच्छाओं की पूर्ति के फेर में पड़े रहे तो आप सोचकर देखिए कि कौन सा काम मेरा चल गया। मकान नहीं था, मकान बन गया। काम चल गया ? अगर मकान की ममता मुझमें बैठ गई तो काम चल गया कि काम बिगड़ गया। एक बड़ी पढ़ी-लिखी शिक्षिता बहिन मुझसे बड़ा प्रेम रखने वाली-उसके पति ने मकान बनाया था और उनका Transfer हो गया। दूसरी जगह चली गयी तब घबराकर उसने पत्र लिखा कि दीदी, जल्दी कोई उपाय बताओ, मेरा दिमाग खराब हो जायेगा, नींद की गोली लेकर सो रही हूँ। क्या हो गया तुमको ? पति बड़े ऑफीसर हैं। बाल-बच्चे हैं। Transfer होकर गए वहाँ भी बढ़िया मकान मिला रहने के लिये। तब क्या हो गया ? हो क्या गया ? मकान बनवाया था, पति और बच्चों के साथ उसमें आनन्द से रहती थी। पति महाशय का ट्रान्सफर हो

गया। दूसरी जगह आ गई हूँ। दिन-रात मेरे दिल में बेचैनी हो रही है। ऐसा लगता है कि कोई परमप्रिय कुटुम्बीजन छूट गया हो। मकान बनाने की इच्छा थी, बनाया तो ठीक किया लेकिन उसकी ममता दिल में बैठ गई तो सुख मिला कि दुःख मिला। ममता छोड़ने से देहातीत जीवन मिलेगा उसे तो रहने दो एक तरफ। उसकी चर्चा पीछे करेंगे। यहाँ दुनिया में रहकर तो देखो कि जो चाहो सो हो गया और उसको मैंने पकड़ लिया, उसी को मैंने अपने सुख का आश्रय बना लिया तो उससे इस दुनिया में रहने में भी तकलीफ पैदा हो गई। दुनिया छोड़ने की तकलीफ तो दूर है। ऐसी हालत है। आप कहेंगे कि मकान नहीं बनाना चाहिए। ऐसी बात नहीं है। प्रकृति ने यह बिल्डिंग (शरीर) बना दिया है तो इसको रखने को घर तो बनाना ही होगा। मकान बनाने में दोष नहीं है लेकिन उस मकान की कामना में, उसकी ममता में, फँस जाने में दोष है। बन जाये तो बन जाए। पुरुषार्थ करो, परिश्रम करो, व्यवसाय करो। हो गया तो हो गया, नहीं हुआ तो नहीं हुआ। इस तरह से यह बड़े गहन अध्ययन की बात है। अगर हम कुछ चाहते रहेंगे तो दुनिया में चैन से रहना भी नहीं होगा, मरना भी चैन से नहीं होगा। और जीवन सार्थक नहीं हो पायेगा।

महाराजजी ने कहा कि आदमी कुछ चाहता है तो कुछ मिलता भी है, लेकिन उससे गम्भीर बात यह है कि जब हम कुछ करने के लायक नहीं थे तब भी तो शरीर की जरूरी बातें पूरी हो रही थीं और एक शरीर की चिन्ता छोड़कर अनेक शरीरों की चिन्ता में आप लग जाते हैं, अनेक शरीरों की सेवा का दायित्व आप ले लेते हैं, तो एक शरीर के भरण-पोषण की सोचना पड़ता है क्या ? नहीं सोचना पड़ता है। बहुत सोचने की बात है कि व्यक्ति एक जीवन के बारे में सोच-सोचकर कितना सीमित हो जाता है। कितना नीरस हो जाता है, कितना कठोर हो जाता है। कितनी चिन्ता के भार से दब जाता है। महाराजजी ने क्या कहा ? एक के बारे में क्यों सोचते हो ? सारी सृष्टि में इतने शरीर हैं, पशु-पक्षी, कीड़े-मकोड़े सहित इतने शरीर हैं। वह विराट प्रकृति, वह जगज्जननी इतने सारे शरीरों की चिन्ता कर रही

है। सबको पाल रही है। तुम एक शरीर का भार लिये फिरते हो। क्यों सोचते हो भाई ? अगर दुनिया में रहते हो तो अनेक श्ररीरों के साथ इस शरीर की जरूरतों को भी मिला दो। पूरी हो जाये तो बढ़िया, नहीं हो जाये तो बड़ी खुशी की बात। तुम तो free रहो, आजाद रहो।

महाराज जी ने क्या कहा ? हम साधकों को संकल्पों से छुट्टी पाने का एक बड़ा सुन्दर उपाय बताया। परेशान मत हो जाओ। क्या बतायें हमारे तो संकल्प खत्म नहीं हो रहे हैं। क्या करो, कि जब कोई संकल्प उठे, जब कोई इच्छा उत्पन्न हो जाये, यह आज की बात मैं कह रही हूँ। हम और आप अचाह हो नहीं पाये। चाह रहित जीवन का दर्शन नहीं किया। तो हमारे और आपके लिये महाराज जी ने उपाय बताया। कहा कि तुम थोड़ा सावधान रहना और जब कोई इच्छा उत्पन्न हो तो इस इच्छा को सामने रखकर देख लो कि परिवार भर के हित में यह उपयोगी है कि नहीं। समाज के लिये यह इच्छा हितकारी है कि नहीं। भाई-बन्धुओं के लिए, माता-पिता के लिए, पति-पुत्र के लिए, सन्तान के लिए यह इच्छा हितकारी है कि नहीं ? अगर ऐसी कोई इच्छा तुम्हारे मन में उठी जो परिवार भर के लिए हितकारी हो या समाज के लिए हितकारी हो तो उसको दिल खोल कर पूरी करो। कोई दोष नहीं लगेगा। कोई नया राग उत्पन्न नहीं होगा और अगर इच्छा ऐसी है जो तुम्हारे व्यक्तिगत सुख-सम्पादन के लिये है तो उसको वहीं पर समाप्त कर दो। यह बड़ा भारी साधन है। अब देखिए- यह जो जीवन का एक वैज्ञानिक सत्य है, इसको हम लोग अपने सामने न रखें और सुबह-शाम, आधी रात को और समय-समय पर आसन मारकर समाधि लगाने की चेष्टा करें तो कभी लग सकती है ? नहीं लगती। जब पूरे समाज के लिये, पूरे राष्ट्र के लिये, कोई संकल्प उठे तो उसको टाल दिया जाये कि अरे भाई ! यह तो बड़े-बड़े नेताओं का काम है। मुझको खूब याद है- स्व० जवाहरलालजी जितने दिन प्राइमनिस्टर थे, हम लोगों का ऐसा रवैया हो गया था कि छोटी कोई बात की तकलीफ होती तो जल्दी से जवाहरलालजी की याद आती। जवाहरलालजी ने यह नहीं किया, जवाहरलाल ने वह नहीं किया।

आप देखिए कि हम लोग जीवन को चलाने में कितना गलत रवैया रखते हैं। और सत्संग करने बैठते हैं। तो सोचते हैं कि बस आँखें बन्द करो तो समाधि लग जाये। सो तो हो नहीं सकता। तो भाई ! जब पूरे समाज के लिए, पूरे परिवार के लिए, पूरे आश्रम के लिए काम करने की घड़ी आवे तब तो हम सोचें कि यह तो सामर्थ्यवानों का काम है, जिनमें सामर्थ्य है वे लोग करेंगे। हमको क्या सोचना है ? जब अपने सुख का कोई संकल्प उठे तो उसको हम येन-केन-प्रकारेण पूरा कर लेना चाहें। ऐसा तो रवैया रखें जीने का, और आँखें बन्द करके सोचें कि भगवान का दर्शन हो जाये-तो वह कोई हमारा नौकर है कि हमारे पुकारने से आकर हमारे सामने खड़ा हो जाये। लो मैं हाजिर हूँ। थोड़ी देर आँखें बन्द करने से मन नहीं लग सकता। समाधि नहीं हो सकती। योगवित् होना सम्भव नहीं है, तत्त्ववित् होना सम्भव नहीं है। भगवत् मिलन सम्भव नहीं है। सम्भव ही नहीं है। इसलिए स्वामीजी महाराज ने मानव सेवा संघ के प्रेमियों को यह जीवन-शैली सीखने को कहा। तुम्हारे जीवन का जो सत्य है, उसको स्वीकार करो तो तुम्हारा विकास होगा। अब आप देखिये। अगर आसन लगाकर आँख बन्द करके अभ्यास के बल पर संकल्पों का नाश आप अब तक नहीं कर सके तो उसी को पकड़े मत रहिए।

मानव सेवा संघ ने जो यह प्रैक्टिकल साधना बताई हम लोगों को कि कोई बात नहीं, डरो मत, चिन्ता मत करो। संकल्प उठते हैं तो उठने दो, उनको देख लो। उनका अध्ययन कर लो और ऐसा कोई संकल्प जिसकी पूर्ति से निकटवर्ती जन-समुदाय का भी काम बन जाता हो तो इसमें खूब शक्ति लगा दो, और ऐसा संकल्प जो केवल तुम्हारे सुख-सम्पादन के लिये हो तो उसको तो अपने अधःपतन का कारण समझ कर, उसी समय इन्कार कर दो, क्योंकि अब तक के भोगे हुए सुख के प्रभाव से ही हमारी प्राणशक्ति दुर्बल हो गई है, हमारा चित्त चंचल हो गया है, हमारे अविनाशी जीवन पर पर्दा पड़ गया है। हम अपने परमात्मा से दूर हो गये हैं तो अब तक जितने सुख हम भोग चुके, उसी के प्रभाव ने हमको जीवन से वंचित कर दिया है तो अब

कोई व्यक्तिगत सुखवाले संकल्प को मुझे पूरा नहीं करना है। अगर इतना भी व्रत लेने के लिये हम लोग राजी नहीं हैं तो किसी अभ्यास से समाधि का आनन्द आयेगा, वह आज तक हुआ नहीं, कभी हो सकता नहीं। किसी के लिए संभव नहीं। किसी समर्थ गुरु के पास वह जादू-मन्तर नहीं है।

हमारे परिवार के पुराने सम्बन्ध से माने हुए परिवार में भी एक घटना ऐसी हो गई कि कोई सामर्थ्यवान गुरु-कोटि के महापुरुष गाँव में आ गये थे। ऐसे महापुरुष के पास जाने के लिए तो आदमी दौड़ता ही है। संत जो बतायेगा, सो मानेंगे कि नहीं, सो हमारी free choice याने मर्जी है, लेकिन आयेगा तो उसे घेरेंगे जरूर। सब लोग दौड़ पड़े। स्त्रियाँ भी, पुरुष भी। सब लोग दौड़ पड़े कि बड़े भारी महात्मा आये हैं। परिवार की एक प्रौढ़ महिला, उम्र में मुझसे कुछ बड़ी ही हैं वह भी पहुँच गईं। क्या है भाई, क्या चाहिए ? क्यों आई हो ? तुमको क्या चाहिए ? उन्होंने कहा कि मैं तो समाधि का आनन्द चाहती हूँ। सामर्थ्यवान पुरुष थे, उन्होंने अपनी शक्ति के बल से उनकी समाधि लगवा दी। बैठकर लोग बात ही कर रहे थे कि इतने में उस महिला को शरीर और संसार का भास छूटने में इतनी घबराहट पैदा हुई कि वे कई महीनों तक बीमार रहीं। क्या हो गया ? विचार में से शरीर और संसार की ममता टूटी नहीं- जीवन में से अपने सुख के प्रलोभन का त्याग नहीं किया और महापुरुष ने अपनी सामर्थ्य के बल से शरीर और संसार का भास थोड़ी देर के लिए छुड़वाया उसी से उस महिला के ऐसी Nervous Complication संवेदनात्मक उलझन पैदा हुई कि छः माह तक परिवार के लोग उनकी चिकित्सा कराते रहे। मैं साइकोलोजी पढ़ती थी। मेरे पास सूचना आई कि परिवार में ऐसा-ऐसा हुआ है। फिर जब उन महिला से मेरी भेंट हुई तो मैंने उनसे पूछा कि जीजी आपको हुआ क्या ? उन्होंने सब हाल बताया।

पूज्य स्वामीजी महाराज ने तो किसी भी साधक को अपनी शक्ति से कुछ भी करवाना पसन्द नहीं किया। कभी नहीं करवाया। चाहते तो बड़े-बड़े चमत्कार दिखा सकते थे। बड़ी सिद्धियाँ उनके पास थीं।

सिद्धियों के ऊपर तो वे पाँव रखकर चर्चा करते थे। यह रहस्य मुझे कब मालूम हुआ कि एक सिद्धि वाले साधु आ गये स्वामी जी के पास। सन्तों से बातचीत होती थी तो बड़ा मजा आता था। बैठकर जब चर्चा होने लगी तो वह कुछ सुना रहे होंगे, अपनी विशेषता बता रहे होंगे। स्वामीजी ने उनकी जाँघ को खूब थपथपाया और प्यार-दुलार से कहा-अरे यार ! समाधि के ऊपर आसन लगाकर बैठ जा। आसन मारकर समाधि मत कर। प्राप्त समाधि के ऊपर आसन लगाकर बैठ जा। यहाँ तो समाधि लगाने ही में जिन्दगी खपी जा रही है। परन्तु स्वामीजी ने समाधि के ऊपर बैठ जाओ अर्थात् समाधि अवस्था से भी ऊपर उठने की सलाह दी।

तीन बातें फिर याद कर लो --

मुझे कुछ नहीं चाहिए, मेरा कुछ नहीं है, मैं कुछ नहीं हूँ। यह अन्तिम बात है, मैं कुछ नहीं हूँ। अहं का नाश। किसी अनुभवीजन ने हम लोगों को सुनाया--

"जब हम हैं तब हरि नहीं, अब हरि हैं हम नाँहि।
प्रेम गली अति साँकरी, ता में दो न समाहिं।।

—कबीर

(28)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

भक्त होना सबसे ऊँची बात है मानव-जीवन की। मानव-जीवन का आरम्भ होता है कर्त्तव्यनिष्ठा से। स्थूल स्तर से हम आरम्भ करते हैं। जो लोग ऊँचा जीवन पसन्द करते हैं, वे सब प्रकार से परिवार और समाज के काम आना पसन्द करते हैं और ऐसा मैंने कई सज्जनों के साथ देखा है कि आरम्भ से ही अपने व्यक्तिगत सुख के प्रति ज्यादा आकर्षित नहीं थे। परिवार को सुख कैसे मिले ? समाज का हित कैसे हो ? पड़ौसी को अगर कोई जरूरत है तो अपनी सुख-सुविधा को बाँट

सकें, ऐसा स्वभाव जिनका था वे आगे चलकर बहुत सहजभाव से संत के सम्पर्क में आने पर जल्दी-जल्दी कई सीढ़ियाँ पार कर गये। बन्धन कम था। खिंचाव कम था। शान्ति अधिक थी। कोमलता अधिक थी। इससे वे बहुत अधिक प्रगति में आ गये। ऐसा मैंने महसूस किया। ऐसे भक्तों के उदाहरण हैं कि सचमुच न मुझे संसार से कुछ चाहिए अपने लिए, न मुझे स्वाधीनता के आनन्द में अकेले रहना है। तो संसार का सुख भोग, मोक्ष की स्वाधीनता, यह सब कुछ उस परम प्रेमास्पद परमात्मा पर न्यौछावर करने वाले वीर भी हुये हैं। बड़ी महिमा है उनके भक्तों की।

सामान्य दृष्टि से ईश्वर-विश्वासी भक्ति पंथ को आसान बताते हैं। आसान तो इसलिए लगता होगा कि विश्वासी स्वभाव है उनका। कोमल चित्त है उनका तो परमात्मा को अपना मान लेने में उन्हें कठिनाई नहीं मालूम होती होगी। इसलिए उनको लगता होगा कि सहज है। लेकिन महाराजजी ने ऐसा बताया कि जो किसी भी वस्तु पर अपना अधिकार मानता है, जो अकिंचन नहीं हो गया है वह भक्त नहीं हो सकता। जो अचाह नहीं हो गया, वह भक्त नहीं हो सकता। तो अकिंचन हो जाना अर्थात् ममता रहित हो जाना। मेरा करके, इस सारी सृष्टि में कुछ भी नहीं है। इस बात को सच्चाई से अपने लिये मान लेना, यह तो दोनों ही पन्थों के साधकों के लिए अनिवार्य है, चाहे भक्ति पंथ के साधक बनो, चाहे ज्ञान पंथ के साधक बनो। जिसको अनुत्पन्न अविनाशी जीवन चाहिए उसको उत्पत्ति, विनाशयुक्त की ममता और कामना को छोड़ना ही पड़ेगा। ठीक है ? जी। निजस्वरूप से अभिन्न होना चाहते हैं कि नित्यतत्त्व से नित्ययोग चाहते हैं। आपकी माँग में क्या है ? आपके लक्ष्य में क्या है ? कौन-सा शब्द आपने पसन्द किया ? यह तो आपकी अपनी बनावट की बात है। तो किसी ने उसे नित्यतत्त्व कहा, किसी ने उसे परमतत्त्व कहा, किसी ने उसको निजस्वरूप कहा और किसी ने परमात्मा कहा, भगवान कहा। उनके भी अनेकों नाम और रूप हैं। अलग-अलग साधकों ने अलग-अलग ढंग से परमात्मा को माना। किसी ने उनको साकार माना, किसी ने उनको

निराकार माना। साकार में भी बहुत से नाम और बहुत से रूप माने। उन सारी बातों के होते हुए भी आप देखिये कि चाहे साकार के उपासक बनो, चाहे निराकार के उपासक बनो, चाहे साकार में भी किसी रूप के पसन्द करने वाले भक्त बनो। इन सब बातों से कोई अन्तर नहीं आता।

आपको यदि उत्पत्ति विनाश युक्त कोई भी वस्तु चाहिए और किसी भी वस्तु में आपकी ममता है तो जिसको बनने-बिगड़ने वाला संसार चाहिए, उसकी कभी न मिटने वाले अविनाशी परमात्मा में भक्ति नहीं जम पायेगी। जितने भी ईश्वर-विश्वासी साधक अपने में भगवद्-भक्ति बढ़ाना पसन्द करते हैं, उनके जीवन में कहाँ-कहाँ रुकावट आ गई है, इस पर उनकी दृष्टि पड़ जाये तो अच्छी बात है। वे सँभाल लेंगे अपने को। अपने ही को सँभालना है। अपने ही द्वारा रास्ते की बाधाओं को दूर करने में हम लोगों को अपने ही आप पुरुषार्थ करना पड़ेगा। और अगर कोई बाधा ऐसी दिखती है जिसके मिटाने में अपना कोई पुरुषार्थ चल नहीं रहा है, निर्बलता मालूम होती है तो उस अपनी असमर्थता की वेदना भी अपने ही भीतर उपजेगी। तभी तो काम बनेगा। जहाँ तक अपना वश चलता है, उतना चला लेना है और जहाँ से असमर्थता आरम्भ हो गई, उस घोर असमर्थता के point पर पहुँच जाना मुझे साधक मात्र के लिए बहुत ही शुभ मालूम होता है। जो कुछ अपने द्वारा किया जा सकता है, वह जल्दी-जल्दी करके पूरा नहीं किया, थोड़ा-थोड़ा करते भी हैं, थोड़ा-थोड़ा अपनी सामर्थ्य का भरोसा भी रहता है, और थोड़ी-थोड़ी असमर्थता में फँसे भी रहते हैं, इस द्वन्द्व में बहुत-सा समय निकल जाता है। कुछ देर अगर मन लग गया साधन में, तो मालूम होता है मैं तो बहुत अच्छा साधक हूँ, मेरा मन लगता तो है। पूरा नहीं लगा और भटक गया, तो अखण्ड तो हुआ नहीं, फिर भी कुछ-कुछ अपने को सहारा मिल गया, थोड़ा भरोसा हो गया, बस इस द्वन्द्व में समय निकलता चला जाता है। इसलिये इन दोनों बातों को अच्छी तरह समझ लीजिए- और अकेले बैठकर के स्वयं अपने साथ हम लोग सत्संग करें। किस रूप में, कि भगवत् अनुरागी संत ने जो बातें

बताई हैं उनका अनुसरण करें, देखें कि वे बातें पूरी हो गई हैं या नहीं? अगर नहीं हुई हैं तो उनको पूरी करने का प्रयास करें। सफलता मिल गई तो वह भी उनकी कृपा है। विचार का पक्ष उन्होंने जीवन में दिया तो यह भी उनकी कृपालुता है। आस्था श्रद्धा का तत्त्व उन्होंने मुझे दिया है, यह भी उनकी कृपालुता है। सफलता मिल गई तो यह भी उनकी कृपालुता है। अभिमान की कोई बात नहीं है और सफलता अगर नहीं मिली तो भीतर से एक बहुत गहरी अन्तर्वेदना आरम्भ हो जानी चाहिए।

आपने पहले भी सुना होगा और अब भी सुन रहे हैं। स्वामीजी महाराज के साहित्य में पढ़ा होगा, अन्य भगवत्-अनुरागी भक्तों और संतों की वाणी में भी पढ़ा होगा, सुना होगा कि उस नित्य तत्त्व से अभिन्न होने के लिए, परम-प्रेमास्पद प्रभु से, उनके प्रेमरस से, अभिन्न होने के लिए परम व्याकुलता चाहिए। यह आखिरी बात है। अपने द्वारा कुछ करने के लायक बाकी रहा नहीं और उनसे अभिन्न हुए बिना अब वियोग सहन होता नहीं। दूरी और भिन्नता सही जाती नहीं। तो दूरी सही नहीं जाती और कुछ करने से यह बात पूरी हुई नहीं, तो करना कुछ शेष नहीं और मिले बिना रहा नहीं जाता। तो ऐसी घड़ी जल्दी से जल्दी हमारे, आपके जीवन में आ जाये, इस पर मैं ध्यान देना चाहती हूँ। अपने लिए भी और आपके लिए भी। कोई कारण नहीं है कि दूरी बनी रह जाये। कैसे दूरी रह सकती है ? जिससे दूरी है ही नहीं, मुझे दूरी का केवल भ्रम ही हो गया है। जिससे भिन्नता है ही नहीं, भिन्नता का भ्रम हो गया है मुझे, तो उसका भ्रम नाश कैसे नहीं होगा? कल की चर्चा में जैसे बात आई कि अत्यन्त रहस्यमय और बहुत छिपे हुए लगते हैं, भगवान, तो संत की वाणी को याद किया, मैंने, और आपकी सेवा में उसको दोहराया। महाराजजी ने कहा कि वे कहाँ छिपेंगे ? भाई, क्या वे इतने छोटे से हैं जो कहीं छिप जायेंगे और उनसे बड़ा और क्या है जिसमें वे छिप जायेंगे ? तो उनसे बड़ा कुछ है नहीं। वे असीम हैं, अनन्त हैं, छिप नहीं सकते हैं। अपने को ऐसा लगता है कि क्या बतायें ? भीतर खोजो तो दिखाई नहीं देते हैं। बाहर देखो

तो दिखाई नहीं देते हैं। क्या होता है ? बाहर देखो तो विविध रूप संसार दिखाई देता है और आँखें बन्द कर लो तो भीतर अन्धकार हो जाता है। कहाँ है परमात्मा ? ऐसा लगता है अपने को। यह जड़ता का प्रभाव है। शरीरों से सम्बन्ध मान कर संसार का सुख लेना मैंने पसन्द किया, इसलिए जड़ जगत की जड़ता का प्रभाव अपने पर छा गया। जिन शारीरिक शक्तियों से मैंने अपना तादात्म्य कर लिया है, इन्द्रियों से अपना तादात्म्य कर लिया है, तो आँखों से जिनमें भौतिक प्रकाश की लहरियों को ग्रहण करने की शक्ति है, इनसे जब मैंने तादात्म्य ग्रहण कर लिया तो इनकी जो सामर्थ्य है उसी के अनुसार मुझे दिखाई देगा और क्या दीखेगा ? और भौतिक तत्त्व के पार जो अलौकिक अस्तित्व है, जिसमें आनन्द ही आनन्द है, जिसमें रस ही रस भरा है, जिसमें बनने-बिगड़ने वाला कुछ है ही नहीं, वह कैसे दीखेगा इन आँखों से ? इसलिए जब हम दृष्टि इन्द्रिय से अपने को मिला लेते हैं, तो आँखें खोलो तो विविधरूप दृश्य दिखाई देते हैं और उनसे तादात्म्य रखकर के आँखों को बन्द कर लो तो प्रकाश की लहरियाँ जब भीतर नहीं जायेंगी तो अन्धकार के अतिरिक्त और क्या दीखेगा जी ! अन्धकार ही रहेगा तो यह दशा हो जाती है।

ईश्वर में विश्वास करने वाले हम लोग हैं और जब-जब उनकी कृपालुता उनकी महिमा की वार्ता होने लगती है, बहुत अच्छा लगता है, बड़ा प्रिय लगता है। बड़ा सहज। भीतर से उस परम प्रेमास्पद की प्रेम रस की प्यास जो है वह कभी मिटेगी नहीं। दृश्य जगत के संयोग से जीवन को सरस बनाने की चेष्टा में कितनी भी उम्र बिता दो, कितनी भी शक्तियों का नाश कर दो, और कितने भी सुख-लोलुप बन जाओ, और कितनी भी शक्ति इन्द्रिय-लोलुपता में नष्ट कर दो, फिर भी भीतर की जो बनावट है, मौलिक तत्त्व है, जिसमें प्रभु प्रेम की प्यास है वह प्यास कभी भी मिटती नहीं है। वह रहती है। इसलिए जब बाहर चर्चा होने लगती है भक्त और भगवान की, प्रेमी और प्रेमास्पद की तो उस चर्चा के प्रभाव से हम सब भाई-बहिनों के भीतर वह तत्त्व फिर जाग्रत होने लगता है। उसका उद्‌भव होने लगता है। अपने को बड़ा

अच्छा लगने लगता है। यह बात मुझे बहुत पसन्द आ गई और कई अंशों में इसने मुझे निर्भय कर दिया। स्वामीजी महाराज ने इस पर मेरी दृष्टि दिलाई और कहा कि डरने की कोई बात नहीं है। चूंकि उसी अविनाशी से तुम बनाये गये हो इसलिए मौलिक रूप से उसकी सब बातें तो तुम्हारे भीतर विद्यमान हैं ही। कितने भी भूलो, भटको, कुछ भी करो। तो परम प्रेम की प्यास कभी मिटती नहीं है और पूरी होती है जरूर। जब बाहर की ओर देखना बन्द कर दोगे, जब उत्पत्ति और विनाशयुक्त को अपने लिये नापसन्द कर दोगे तो अनुत्पन्न अविनाशी की विद्यमानता का आनन्द तो आ ही जायेगा, प्रत्यक्ष हो जायेगा। सदा के लिये अनदेखा परमात्मा अनदेखा नहीं रहता है। सदा के लिए अनजाना, अनजाना नहीं रहता है। उसकी विद्यमानता है। और यह बात मुझको बहुत अच्छी लगती है कि वह परमात्मा स्वयं हमारे जैसे भूले-भटके को अपनी विद्यमानता का प्रमाण देने में बहुत कुशल हैं। कभी-कभी ऐसा अच्छा लगता है। कितनी बढ़िया बात है। विश्वास न कर सको, तब भी मत डरो। क्यों न डरो ? अगर विश्वासी होने की हम आवश्यकता अनुभव करेंगे तो वे परम उदार अपना विश्वास जमा देंगे हममें। कितनी बढ़िया बात है।

भक्त के हृदय में परमात्मा के अतिरिक्त और किसी के लिये स्थान नहीं होता है। इसको भी महाराज की वाणी में सुनाऊँ मैं आपको-बात होने लगी तो कहने लगे कि भाई देखो, वे बड़े प्रेमी हैं। प्रेम करना जानते हैं। प्रेम स्वरूप ही हैं। लेकिन एक बात है, वे तुम्हारे भीतर, बाहर सब प्रकार से भरपूर होकर तुम्हें जता देंगे, बता देंगे और तुम्हारे आपे को, यह जो अपना एक आपा होता है जिसका अपने को आभास होता है कि "मैं हूँ" इसको भी वे प्रेम की धातु में परिवर्तित करके अपने से मिला लेंगे। इन सब बातों में वे बड़े कुशल हैं। लेकिन एक बात जरूर है, अगर उनके अतिरिक्त इस संसार का एक छोटा से छोटा पदार्थ भी तुमको पसन्द है, तुम्हारे पास है कि नहीं गोली मारो, होगा कि नहीं होगा, यह तो विधान जाने। देगा, तब न तुम्हारे हाथ में आयेगा और नहीं तो क्या करोगे ? वस्तु का मिलना न मिलना यह

तो विधान की बात है। लेकिन अगर किसी छोटे से छोटे अन्य पदार्थ के लिये गुंजाइश है तुम्हारे भीतर, पसन्दगी है, तो उनको आना अच्छा नहीं लगता। वे तो तुम्हारे भीतर अपने लिए पूरा खाली स्थान चाहते हैं। पूरा रिक्त करो अपने को। कुछ मत रखो उसमें।

अब मैं क्या बताऊँ, संत की करुणा। जितना ही मेरे भीतर अविश्वास था उतनी ही उनकी करुणा उमड़ती। जितना ही मैं अपने पुरुषार्थ का अहं लेकर बैठी, उसमें मेरी कोई बनावटी बात नहीं थीं, मुझे ऐसा ही लगता था कि स्वामीजी महाराज बार-बार कह रहे हैं कि देवकीजी ! तुम एक बार कह दो कि हे प्रभु ! मैं तेरी ! हे प्रभु ! मैं तेरी शरण हूँ, हे प्रभु ! मैं तेरी शरण हूँ। इस बात को महाराजजी ने बहुत बार कहलवाना चाहा और मैं अपने स्वाभिमान में ऐंठी रही। तो मेरे भीतर ऐसा लगे- कि भाई, मैं अपनी ओर से कहती रहूँगी कि हे प्रभु! मैं तेरी, हे प्रभु ! मैं तेरी, और उन्होंने नहीं सुना और मुझे पसन्द नहीं किया, तो इस बेबसी को कौन बर्दाश्त करेगा। इसलिए जल्दी से मैं कहती ही नहीं थी। भीतर-भीतर संदेह रखो और ऊपर-ऊपर कहते रहो, यह बात मुझे सहन नहीं होती थी। एकदम नहीं सहन करती थी। महाराजजी से मैंने कहा कि महाराजजी ! इस प्रकार का One-sided relation (इकतरफा सम्बन्ध) मुझे अच्छा नहीं लगता। One-sided relation हुआ न ! उधर से भी कुछ आश्वासन मिले तब मैं जाऊँ कहने के लिये कि हे प्रभु ! मैं तेरी। तो वे कहें, हाँ भाई, मैंने सुन लिया।

गपशप नहीं कर रही हूँ, आपका दिल बहलाव नहीं कर रहीं हूँ। बिल्कुल सच्ची बात निवेदन कर रही हूँ। मेरे भीतर ऐसी ही दुविधा थी कि भाई, मैं कहूँ और वे मान लें। तो उससे अच्छी कोई बात हो ही नहीं सकती। लेकिन न जाने क्यों मेरे भीतर कठोरता भरी है, संसार की ओर से जो निराशायें मिलीं उनका क्षोभ भीतर भरा है, जड़ता भरी है, कठोरता भरी है, क्षोभ भरा है, उसमें उस अत्यन्त कोमल, नवनीत से भी अधिक कोमल परमात्मा की कोमलता का आभास कहाँ से हो ? मुझको तो कुछ पता ही नहीं था कि वे कितने कोमल हैं और हम लोगों के प्रति कोमलता का भाव रखते हैं। कितना

उनके हृदय में भटके हुए मनुष्य को आनन्दमय जीवन देने की उत्सुकता है, इसका तो हमको कुछ पता ही नहीं था। मैं क्या जानूँ ? तो मैंने दो-चार बार सन्देह भी किया, फिर अन्त में मुख खोलकर ऐसी कठोर बात का वर्णन भी किया कि महाराज यह एकतरफा सम्बन्ध जँचता नहीं है तो, ऐसे अधीर हो गये स्वामीजी महाराज, इतना व्यथित हो गये। भीतर से एकदम करुणा उमड़ पड़ी और कहने लगे कि ऐसी बात नहीं है देवकीजी, ऐसी बात मत कहो और कितना उनका विश्वास अपने प्रेमास्पद के प्रति, कितना उनको प्रत्यक्ष अनुभव था उस परममित्र की करुणा का, कोमलता का, मित्रता का। एकदम से हृदय थाम कर, मुट्ठी बाँधकर अपने को सँभालने लग जाते, मेरी कठोरता की वाणी को सुनकर, कभी-कभी कहते कि ऐसे कठोर वचन सुन सकता हूँ ? देवकीजी ! अगर कोई प्रेमी हृदय होता तो हृदय फट जाता ऐसी कठोर बात सुनकर। फिर अपने को सँभाल समेट कर मुझे बताया- नहीं, नहीं, नहीं ! ऐसी बात नहीं है। अरे लाली ! वे तो जानते ही हैं तुम उनकी अपनी हो। तुम भूल गई हो। मेरे कहने से तुम मान लो। पलड़ा तो उन्हीं का भारी निकला। भाई, अब क्या करें ? वे तो जानते ही हैं। जितने हम लोग यहाँ बैठे हैं अथवा यहाँ नहीं बैठे हैं अथवा कहीं भी हैं, वे सबके लिए जानते ही हैं कि वे उनके अपने हैं। उनकी तो पक्की जानकारी है। उन्होंने अपने में से ही हम लोगों को बनाया है, अपना-अपना कर के। विस्मृति का दोष उनमें नहीं है। अनन्त माधुर्यवान हैं वे। अपने प्रेम के साम्राज्य से वे हमें निकाल नहीं सकते। अनन्त माधुर्यवान होने का अर्थ ही यह है। अपने प्रेम के साम्राज्य में से वे निकाल ही नहीं सकते। तो भूल तो केवल मेरी ही है कि जड़ धातु से रचित-शरीर और संसार से अपना लगाव बनाकर जड़ता-कठोरता-नीरसता मैंने अपने भीतर भर ली जिससे उनकी करुणा और उनकी कोमलता का दर्शन ही नहीं हो रहा है। अविश्वास बन रहा है। विश्वास करती हूँ, हारकर के, तो बुद्धि अपना जोर लगाकर सन्देह पैदा कर देती है।

ऐसी हालत में भी सन्त की करुणा, प्रभु की कृपालुता साथ देती है। उस समय ये सब अनमोल वचन मुझे सुनने को मिले, जिनसे कि विश्वास बढ़ गया, सन्देह मिट गया। वह क्या ? कि भाई, उनको तो याद है, वे नहीं भूलते हैं। विस्मृति का दोष उनमें है ही नहीं। वे तो जानते ही हैं कि हम सब उनके अपने हैं। अपनी ओर से अपने को मान लेना है। तो यह एकतरफा सम्बन्ध नहीं है। जितना मेरी ओर से चाव है कि दुनिया की ठोकरें खा करके सुख और दुःख के द्वन्द्व में फँस कर के थका हुआ व्यक्ति उस परम विश्राम देने वाले में जाकर विश्राम पावे। यह जो मेरी आवश्यकता हुई, इसमें मेरा प्रयास बहुत थोड़ा है, बहुत दुर्बल है और संदेहास्पद है। लेकिन उनकी ओर से जो कोमलता का व्यवहार है, अपनेपन का व्यवहार है वह तो इससे बहुत अधिक है। यह बात पूरी तरह से बैठ जाये, विश्वासपंथ के साधकों में तो आँखों के सामने से जड़ता का प्रभाव मिटने में देर नहीं लगती। बाहर तो ज्यों का त्यों ही है। कोई नहीं जानता कैसा है ? लोभी को धन दिखाई देता है और संसार को पसन्द करने वाले को संसार सुखरूप दिखाई देता है। जड़ता में फँसे हुए को सत्य में जड़ता का भास होता रहता है, भ्रम होता रहता है। विवेकीजन को यहाँ निरन्तर परिवर्तन दिखाई देता है और जब वे इन्द्रिय-दृष्टि, बुद्धि-दृष्टि से पार पहुँच जाते हैं तो उनको दृश्य दिखता ही नहीं है। एक ही रह जाता है। जो प्रभु के प्रेम से भर जाते हैं। तो प्रीति भरी दुष्टि से देखो तो जित देखूँ उत श्याममयी है और कुछ है ही नहीं। तो बाहर कैसा है। कौन जाने। अपने व्यक्तित्व में परिवर्तन आता-जाता है। दृष्टि बदलती जाती है। सृष्टि बदलती जाती है। दृष्टि से पार कर जाओ तो सृष्टि लुप्त हो जाती है। बात खत्म हो गई। इस ना कुछ के पीछे सब कुछ गँवा देना बड़ी भारी भल है। समय हो गया। इस भूल को मिटाना भी वर्तमान का पुरुषार्थ है। अब शान्त हो जाओ।

(29)

पूज्य सन्त महानुभाव सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

जिस अनन्त की अहैतुकी कृपा से हम सभी भाई-बहिनों को मानव-जीवन मिला है, उन्हीं की अहैतुकी कृपा से इस जीवन में सत्संग का यह अवसर मिला है। स्वामीजी महाराज ने सत्संग को मानव-जीवन का स्वधर्म बताया। सत्संग हमारा स्वधर्म है। इसका अर्थ यह है कि सत्संग करने से, अर्थात् स्वधर्म के पालन से हमारी सभी मौलिक समस्याओं का समाधान हो जाता है। मौलिक समस्यायें क्या हैं ? मुझे व्यक्तिगत रूप से शान्ति, मुक्ति और भक्ति कैसे मिले ? सामूहिक रूप से पारस्परिक विश्वास और प्रेम कैसे बना रहे ? मानव-जीवन की समस्यायें हैं ये। इन समस्याओं का समाधान सत्संग से होता है।

सत्संग का अर्थ क्या होता है ? मानव सेवा संघ ने एक विशेष अर्थ हमारे सामने रखा कि सत्संग का अर्थ है, अपने जाने हुए असत् के संग का त्याग। ऐसा इसलिए कि जिसे सत् कहते हैं, वह हमसे दूर नहीं है, अलग नहीं है, वह सर्वत्र है, सदैव है, सभी में है। सत् की सत्ता के बिना हम लोगों में से किसी की भी अपनी कोई हस्ती नहीं है। जो सत् नित्य निरन्तर सभी में विद्यमान है उसका क्या संग करेंगे ? उसके संग के बिना तो एक क्षण की भी जिन्दगी नहीं है। तो उसके संग में तो हैं ही। परन्तु अपने जाने हुए असत् के संग के कारण सत्य की विद्यमानता का आनन्द हमें नहीं आता। अपने जाने हुए असत् के संग के त्याग से बड़ा भारी उत्थान होता है मानव के जीवन में। बुराई को बुराई जानकर त्याग देना। यह मानव-जीवन के विकास की सबसे पहली आवश्यकता है और ऐसा करने में हम सभी लोग सर्वदा स्वाधीन भी हैं।

स्वामीजी महाराज ने हमें यह सुझाया और मानव-जीवन के विकास के क्रम में क्या-क्या बातें हो सकती हैं इस पर उन्होंने जो साहित्य लिखवाया, उसमें भी इन बातों का खूब विस्तृत विवेचन करवा दिया है। उसमें एक जगह ऐसा प्रसंग आया है कि आप-अपने

ही द्वारा अपने जाने हुए असत् को जीवन में रखना पसन्द करें तो एक गुरु की तो कौन कहे सारे संसार के सब गुरुओं को इकट्ठा कर दिया जाये तो भी सब मिलकर आपका उद्धार नहीं कर सकते। और ठीक इसके विपरीत निज ज्ञान के प्रकाश में देखकर यदि आप अपने जाने हुए असत् के संग का त्याग कर दें, तो दुनिया की बड़ी से बड़ी शक्ति आपके विकास को रोक नहीं सकती। यह मानव-जीवन की महिमा है। यह आपके जीवन की विशेषता है और इस विशेषता को, जीवन की इस महिमा को, हम लोग अपने द्वारा स्वीकार नहीं करते हैं, उससे काम नहीं लेते हैं, इसलिए व्यक्तिगत जीवन की अशान्ति नहीं मिट सकती, सत्य और प्रेम की अभिव्यक्ति नहीं हो सकती और अपनी जानी हुई बुराई का त्याग हम लोग नहीं करेंगे तो सुन्दर समाज का निर्माण भी नहीं हो सकता। बलपूर्वक बुराई को रोकना, आन्दोलन कहलाता है। महाराजजी ने ऐसा अर्थ लिया है कि ''हम बलपूर्वक दूसरों को बुराई करने से रोक दें तो यह आन्दोलन है।'' बलपूर्वक बुराई रोकने से आज तक समाज बुराई रहित हो नहीं सका।

अपने निज विवेक के प्रकाश में देखकर मनुष्य जब स्वयं अपने आप में यह निश्चय कर ले कि मैं मानव हूँ, मैं साधक हूँ, मेरी माँग है, मेरे जीवन की समस्यायें हैं। उनको मुझे सुलझाना है तो व्यक्तिगत कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माण में पहला कदम है कि मैं अपने द्वारा यह निर्णय लूँ कि कभी भी किसी के साथ किसी प्रकार की बुराई नहीं करूँगा। तो जब व्यक्ति अपने द्वारा अपने जीवन में सुधार लाने के लिए तत्पर होता है, स्वेच्छा से जीवन को बुराई रहित बनाने के लिए जब तत्पर हो जाता है तो इसको महाराजजी ने 'क्रान्ति' कहा है। यह क्रान्ति है, अपने द्वारा बुराई न करने का व्रत क्रान्ति है और बलपूर्वक बुराई रोकने की क्रिया आन्दोलन है। तो मानव जीवन में जो स्थायी सुधार होता है, व्यक्ति का कल्याण और सुन्दर समाज के निर्माण में जो प्रगति होती है, वह जीवन में क्रान्ति के द्वारा होती है, आन्दोलन के द्वारा नहीं। दूसरों के दबाब से बुराई करने की बात को छोड़ने के द्वारा नहीं। भय से या प्रलोभन से कुछ देर के लिये बुराई

करना छोड़ने से स्थायी सुधार नहीं होता है। सत्संग के प्रकाश में अपने जाने हुए असत् के संग के त्याग से व्यक्ति का व्यक्तिगत कल्याण होता है और सुन्दर समाज का निर्माण भी होता है।

एक बात महाराजजी ने यह बताई जो मानव सेवा संघ के रूप में हम सभी भाई-बहिनों के सामने है और आप सोच करके देखिये, संत महापुरुषों के पास जब लोग आते हैं तो क्या प्रश्न लेकर आते हैं ? महाराज मुझे शान्ति चाहिए, बड़ी अशान्ति है। शान्ति कैसे मिलेगी ? बताइये मैं क्या करूँ ? कोई आकर कहता है, महाराज ! मुझे बहुत दिन हो गये अभ्यास करते हुए, अभी तक मेरा ध्यान नहीं लगता है। बताइये, मैं क्या करूँ ? संत के पास इस तरह के प्रश्न लोग लेकर आते ही हैं। महाराज ! भगवान का भजन करना चाहते हैं, मन नहीं लगता। बताइये क्या करें ? तो मैंने ऐसा सुना, महाराजजी के साथ सत्संग की मण्डली में विचरण करने का और वार्ता सुनने का जो अवसर मुझे मिला, उसमें मैंने ऐसा सुना है कि बहुत अधीर होकर जब कोई साधक पहुँचता और कहता, ध्यान नहीं लगता, क्या करें ? भजन नहीं बनता, क्या करें ? जीवन में परिवर्तन नहीं आता, क्या करें ? तब स्वामीजी महाराज बहुत ही मुक्त कण्ठ से कह देते। भैया ! कुछ मत करो। तब बड़ा आश्चर्य हो जाता, प्रश्नकर्त्ता अचकचा जाता। ये क्या बात हो गई। बहुत ही व्यथित होकर के एक बार मेरे प्रश्न करने पर महाराजजी ने यह उत्तर दिया, कहा कि- देवकीजी ! सारी जिन्दगी का थका हुआ आदमी, पैदा हुआ तो माता-पिता ने कहा कि ये करो, ये करो। पढ़ने-लिखने के लिये पाठशाला में गया, विद्यालय, महाविद्यालय में गया तो पढ़ाने वाले अध्यापकों ने कहा कि ये करो, ये करो। शादी-ब्याह करके गृहस्थ बना तो बीबी-बच्चों ने कहा कि ये करो, ये करो। अब सारी जिन्दगी का थका हुआ आदमी मेरे पास आया है, परित्राण के लिए तो मैं भी कह दूँ- ये करो, ये करो। इसलिए मैं कहता हूँ कि कुछ मत करो। यह बात बिल्कुल सत्य है। अपने जाने हुए असत् के संग का त्याग मैं न करूँ तो किसी उपदेशक का उपदेश मुझको शान्ति नहीं दे सकता और अपने जाने हुए असत् के संग का त्याग जो है, यह कोई क्रिया

नहीं है, इसमें श्रम नहीं है, इसमें पराधीनता नही है। यह तो केवल मानव-जीवन की चेतना में जागृति आने की बात है।

महाराजजी ने यह सलाह दी, और यह बात इतनी सत्य है, इतनी सत्य है कि बाद में मैंने जितना भी विवेचन किया इस प्रश्न को लेकर, तो प्रतीत हुआ कि यह वैज्ञानिक सत्य है, यह दार्शनिक सत्य भी है और यह आस्तिकता का सत्य भी है। वैज्ञानिक सत्य क्या है ? वैज्ञानिक सत्य यह है कि किसी प्रकार की क्रियाशीलता में शक्ति का ह्रास होता है। होता है कि नहीं ? चलना शुरू करो, बोलना शुरू करो, चिन्तन शुरू करो, पढ़ना शुरू करो, लिखना शुरू करो, तो शक्ति का ह्रास होता है।

क्रियाशीलता से शक्ति का ह्रास होता है और विश्राम से, कुछ नहीं करने से, अप्रयत्न होने से शक्ति संचित होती है। तो व्यक्ति के जीवन की समस्या शक्ति के ह्रास होने से खत्म होगी कि संचित होने से ? संचित होने से। शक्तिहीनता में नीरसता है। शक्तिहीनता में वृद्धावस्था है। शक्तिहीनता में मृत्यु है। शक्तिहीनता में सब तरह की असमर्थता है। तो भाई ! जीवन कैसे मिलेगा ? वैज्ञानिक सत्य यह है कि कुछ मत करो और जो नित्य निरन्तर अविनाशी तत्त्व है वह आप ही में विद्यमान है। उसके सम्बन्ध में हम लोगों ने तीन विशेषण बड़े जोर के सुने- वह सत्य है, वह आनन्दमय है और वह रस रूप है। सच्चिदानन्द स्वरूप हम लोगों ने सुना है ना। तो जो सत्य होता है वह आनन्दमय भी होता है। जो आनन्दमय होता है वह प्रेम स्वरूप भी होता है और वही सत्य हम सभी भाई-बहिनों में इस क्षण भी विद्यमान है।

जिस समय पांच भौतिक तत्त्वों से बने हुये असत् शरीर के संग में बैठकर वाणी का सहारा लेकर, असत् का सहारा लेकर, मैं बोल रही हूँ और असत् का माध्यम स्वीकार करके आप सुन रहे हैं, ये बोलने की और सुनने की क्रियाएँ जो सम्पन्न हो रही हैं, वे असत् के माध्यम से सम्पन्न हो रही हैं। शरीर का सहारा लेकर जिस समय हम लोग कहने

और सुनने की क्रिया का सम्पादन कर रहे हैं, उस समय भी वह सत्-चित्-आनन्द स्वरूप नित्य तत्त्व, अविनाशी तत्त्व हम लोगों के साथ विद्यमान है कि नहीं ? उसके नहीं होने से तो यह कहने और सुनने की क्रिया भी सम्भव नहीं हो सकती है। तो महाराजजी ने कहा, कि जो अपने ही में विद्यमान है, नित्य निरन्तर विद्यमान है, उसकी विद्यमानता का अपने को भास नहीं हो रहा है। मैं आनन्द स्वरूप हूँ, मैं अविनाशी हूँ, मैं परम प्रेम से भरपूर हूँ, इस बात का अनुभव हम लोगों को हो रहा है कि इस बात का अनुभव हो रहा है कि क्या कहूँ, जीवन बड़ा व्यस्त हो गया है, अमुक काम बाकी है, यह कठिनाई है, वह कठिनाई है, तबियत अच्छी नहीं है, मन उदास है, खिन्न है, या इस बात का अनुभव हो रहा है कि मैं आनन्दस्वरूप हूँ। क्या अनुभव हो रहा है ? दुःख, खिन्नता, असमर्थता, नीरसता, संयोग-वियोग का प्रभाव, यह अनुभव हो रहा है। स्वामीजी महाराज ने कहा कि तुम नित्य-निरन्तर सत्य के संग में हो, परन्तु अपने जाने हुए असत् के संग को तुमने पसन्द किया।

इसलिए जो सत्य की विभूतियाँ हैं उनका तुमको अनुभव नहीं हो रहा है और शरीर की आसक्ति का जो दुःख, द्वन्द्व है, उसका तुमको अनुभव हो रहा है, तो अपनी जानी हुई इस भूल को छोड़ने के लिए कुछ करना पड़ेगा कि केवल आपका निर्णय पर्याप्त है ? निर्णय पर्याप्त है। किसी श्रम से, परिश्रम से, दौड़ने से, उठा-बैठी करने से, दण्ड-बैठक करने से, लम्बी-गहरी साँस लेने से भूल मिटेगी ? जाने हुए असत् का त्याग अभ्यास से होगा कि विचार से होगा ? विचार से होगा। तो विचार में तो परिश्रम नहीं है। इसलिए लोग कहते हैं कि महाराज क्या करें ? भाई, कुछ मत करो। क्या करोगे ? कुछ करने के कारण तुम सत्य से दूर हो गये। अब आप देखिये, कैसी विडम्बना साधक समाज में फैलती है। सत्य से अभिन्न होना चाहते हैं और शरीर के सहारे अभ्यास किये जा रहे हैं। तो शरीर से अतीत होने पर सत्य की अनुभूति होती है और शरीर के माध्यम से अभ्यास करके हम ब्रह्मवित् होना चाहते हैं। कभी हो नहीं सकता। तो महाराज ने कहा कि कैसे

मिले जीवन ? क्या करें ? तो भाई, कुछ मत करो। शान्त हो जाओ। शरीर और संसार के सम्बन्ध के निर्वाह के लिये आवश्यक कर्त्तव्य कर्म पूरा करो और जैसे ही आवश्यक कर्त्तव्य कर्म पूरा हो जाये शान्त हो जाओ, चुप हो जाओ। किये हुए कर्म के बदले में कुछ चाहो भी मत। तो कर्म भी मत करो, चिन्तन भी मत करो। तभी स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर से तत्काल सम्बन्ध टूटेगा। जब शरीरों से सम्बन्ध तुम्हारा टूटेगा तब अशरीरी जीवन का दर्शन होगा, तो अशरीरी जीवन का दर्शन कैसे हो ? कुछ करने से होगा, कि कुछ नहीं करने से होगा ? महाराज ने कहा कि कुछ मत करो।

अब ईश्वर विश्वास की बात ले लीजिये। बड़ी हलचल मची रहती है, जीवन में बड़ी नीरसता छायी रहती है, बड़ी घबराहट फैली रहती है। कदम-कदम पर असमर्थता सताती है। बारम्बार परिस्थितियों के परिवर्तन के धक्के लगते रहते हैं। आदमी सोचता है कुछ, और हो जाता है कुछ। सारी जिन्दगी अनिश्चितता के भय में बीतती है। सैन्स ऑफ इन्सिक्योरिटी से, असुरक्षा की भावना से, मनुष्य कितना परेशान है। एक बार बातचीत हो रही थी तो सब तरफ से लोग स्वामीजी महाराज के पास बैठ करके बातें करते रहते थे। लाइफ इंश्योरेन्स की बातें हो रही थीं। कोई कुछ कह रहा था, कोई कुछ कह रहा था। सुनते-सुनते स्वामीजी महाराज से रहा नहीं गया तो हँस करके कहते हैं कि भाई, मैंने तो ऐसी कम्पनी में बीमा करवा दिया है जो कभी फेल नहीं हो (श्रोता-हास्य) क्या हो गया ? आप एक ओर मानते हैं इस बात को, कि समग्र उत्पन्न हुई वस्तुएं जितनी हैं उनके अर्थात् समग्र उत्पत्ति के मूल में वह एक अनुत्पन्न तत्त्व विद्यमान है जिसका आदि-अन्त नहीं होता, जिसका नाश नहीं होता, जिसमें असमर्थता का दोष नहीं है, जिसमें अल्पज्ञता का दोष नहीं है, जिसमें जीवन का रस भरपूर लबालब भरा हुआ है।

एक तरफ तो आप इस सत्य को स्वीकार करते हैं और दूसरी तरफ ये चल जगत की परिस्थितियाँ। आज कम्पनी बन गई, कल बिगड़ गई, परसों फेल हो गई। इस तरह की बनने-बदलने वाली,

बिगड़ने वाली परिस्थितियों के साथ, कम्पनियों के साथ सम्बन्ध जोड़ करके आप सैन्स ऑफ सिक्योरिटी, सुरक्षा की भावना रखना चाहते हैं जीवन में। तो भाई, यह अपने जाने हुए असत् का संग है। दृश्य बदलता जा रहा है, क्षण-क्षण में बदलता जा रहा है और फिर भी उसी दृश्य में से किसी को पकड़ करके अपने को सिक्योर सुरक्षित अनुभव करना, यह अपना जाना हुआ सत् है, कि असत् है ? तो महाराजजी ने कहा कि भाई क्यों परेशान हो ? जब कोई एक-तुम्हारा अपना है, तुम अपने सम्बन्ध में अपना हित-चिन्तन जितना कर सकते हो उससे कहीं अधिक, अनेक गुना अधिक तुम्हारा हित-चिन्तन उस परम हितैषी, परम-प्रेमास्पद, अनन्त ऐश्वर्यवान, अनन्त-माधुर्यवान, उस नित्यतत्त्व में है। तुम परेशान क्यों हो ? महाराज ! उसमें मन नहीं लगता। अरे ! मन के पीछे क्यों पड़े हो भले आदमी ! तुम अपनी पसन्द बदल दो। जहाँ सिक्योरिटी नहीं है, जहाँ क्षण भर के लिए भी स्थिरता नहीं है, ऐसे दृश्य जगत् की सेवा करो उसका भला मनाओ उस पर अपने को आश्रित मत करो। आश्रय लेना है तो उस परम-आश्रय को पकड़ो कि जिसकी सत्ता से अनन्तकोटि ब्रह्माण्डों की रचना होती है। संगठन होता है। संचालन होता है। उस परमसत्ता को अपने जीवन का आश्रय बनाओ। तो उस परम परमात्मा को उस परम आश्रय को, सर्व की उत्पत्ति का सर्वाधार, सर्वप्रतीति का अनन्त प्रकाशक, उसको अपना आधार बनाओगे तब तुम्हारी सुरक्षा निश्चित रहेगी। उस परम सत्ता की महिमा को स्वीकार करना, यह क्रिया है कि भाव ? (श्रोता-भाव) क्रिया तो नहीं है ? तो यह कुछ करने से होगा कि भाव को स्वीकार करना है। इसमें कोई श्रम है ? नहीं है। इसमें कोई अभ्यास है ? नहीं है।

महाराजजी की ये बातें जो हैं, वे जीवन की वैज्ञानिकता, दार्शनिकता, आस्तिकता पर आधारित हैं और इतनी सत्य हैं कि इन बातों को किसी एक-देशीय वर्ग, मजहब, पंथ, मत के भीतर सीमित नहीं किया जा सकता। दुनिया का कोई भी साधक चाहे वह किसी भी पंथ का हो, अगर इस बात को वह स्वीकार करेगा कि जीवन तो

अचाह, अकिंचन और अप्रयत्न होने से मिलता है, कुछ करोगे तो जीवन से दूर हो जाओगे, तो करने का प्रश्न कहाँ आया ? करने का प्रश्न वहाँ आता है कि जैसे आपके सामने कोई प्यासा व्यक्ति दिखाई देता है, आपके हाथ में इतना बल है कि जल उठाकर पिला सकें और आपके निकट जल दिखाई देता है तो करने की सार्थकता मानव-जीवन में केवल इतनी है कि आप प्रेमपूर्वक पानी का एक गिलास उठाकर प्यासे प्राणी तक पहुँचा दीजिये। मानव के जीवन में क्रियाशीलता की सार्थकता केवल इतनी है कि एक शरीर के सहारे, दूसरे शरीर की सेवा कर दी जाये। उसके आगे क्रिया का कोई अर्थ नहीं है। तो जो बात कर्म और चिन्तन से ऊपर उठने पर जीवन में स्वतः विकसित होती है उसके लिए लोग न जाने क्या-क्या अभ्यास करते फिरते हैं। लम्बी गहरी स्वाँस लेना, आँख मूँदना, आसन मारना, यह करना, वह करना और किये जाओ, किये जाओ, शरीर में आसक्त हुए जाओ और अमर-जीवन की चर्चा करते रहो, तो मरणशील शरीर का सहारा लेकर अमर-जीवन की अभिव्यक्ति हुई है कहीं ? परम प्रेमास्पद, जिसके प्रेमरस का एक कण सारी सृष्टि के भरण-पोषण के लिए पर्याप्त है, उससे मिलने के लिए अभ्यास नहीं चाहिए, केवल विश्वास चाहिए, केवल भाव चाहिए।

आज मैं अपने सभी भाई-बहिनों की सेवा में बड़ी सच्चाई के साथ, बड़े प्रेम और आत्मीयता के साथ निवेदन करती हूँ कि परमात्मा हम लोगों से दूर नहीं है, उसकी आँखों से हम लोग ओझल नहीं हैं। कितनी बदतमीजी मैंने की, कितना सन्देह किया, परमात्मा की कितनी आलोचना की, परन्तु उन्होंने अपनी करुणा की गोद में से मुझे निकाल कर फेंका नहीं। संभालते ही रहे, संभालते ही रहे, और मुझे चेतना देते ही रहे। कब तक ? जब तक अपने जाने हुए असत् के संग से परेशान होकर उसकी ओर से विमुख होकर, उस परम आराध्य, परम परमात्मा की शरणागति को स्वीकार नहीं किया, तब तक। तो यह इस जीवन का सत्य है, जो चाहे सो इसका अनुसरण करके, इसकी अभिव्यक्ति अपने आप में कर सकता है और मेरा परमात्मा मुझ में है, उसको उसी

प्रकार से घोषित कर सकता है, जैसा संतों और भक्तों ने किया।

महात्मा शहंशाहजी ने क्या कहा- जब पैतृक सम्पत्ति का सत्संग के लिए रजिस्ट्रेशन होने लगा तो उनसे कहा गया- डीड याने दस्तावेज लिखने के लिए, तो उस मस्तमौला को डीड क्या सूझे ? तो आननद पूर्वक वे दुनिया को सुनाने लग गए और लिख के दिया तो यही लिख के दिया कि-All my property is truth and peace. All struggles of life in me do cease. I care for God. He cares for me. My thoughts and actions are entirely free. यह डीड है उनकी, ये सम्पत्ति की चर्चा है उनकी। क्या कहा ? परमात्मा मुझे प्यार करता है, मैं परमात्मा को प्यार करता हूँ, इसमें इतना ज्यादा कॉन्फीडेंन्स (भरोसा) उनको आ गया कि अब किसी प्रकार के चिन्तन में, काम में किसी प्रकार की कोई बाधा नहीं है। तो जैसे इन संत महापुरुषों ने परमात्मा की व्यक्तिगत अनुभूतियों को लेकर, उनकी विभूतियों से विभूषित होकर, स्वयं आनन्दित होकर जगत को आनन्दमय वचन सुनाये, उसी तरह से हम लोगों में से प्रत्येक भाई-बहिन उस परमात्मा की अनन्त विभूतियों से विभूषित हो सकते हैं। इसी बात का विश्वास दिलाना मानव सेवा संघ का काम है, मिशन है। कोई नया पंथ नहीं, कोई मजहब नहीं, कोई सम्प्रदाय नहीं, कोई आन्दोलन नहीं। आपके जीवन का सत्य आप स्वीकार कर लें, यही इस संघ का निवेदन है।

(30)

सत्संगप्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

श्रीमहाराजजी कह रहे हैं कि जो कुछ दिखाई दे रहा है उसको अपना मत मानो। मिथ्या मानो, ऐसा नहीं कहा। उसकी निन्दा करो, उसकी उपेक्षा करो, यह नहीं कहा। केवल इतनी-सी सलाह दी है कि उसको अपना मत मानो और जो दिखाई नहीं देता है, जो बुद्धि की सीमा में नहीं आता है, उस बिना देखे, बिना जाने परमात्मा को अपना मानो ! यह सलाह है महाराजजी की। क्यों भाई, ऐसी सलाह की क्या

जरूरत है ? तो मानना होगा कि बड़ी भारी जरूरत है। मैंने मनोवैज्ञानिक दृष्टि से मनुष्य के व्यक्तित्व का विश्लेषण करके देखा है। बहुत समय लगाया है इस शास्त्र को पढ़ने, समझने और पढ़ाने में। परन्तु मुझे एक बात सन्त की शरण में बैठकर पकड़ में आई और वह यह कि जो कुछ हम लोगों को दिखाई दे रहा है, वह सब "स्व" नहीं है, "पर" है, अपने से भिन्न है। इसको मानियेगा कि नहीं ? जो अपने से भिन्न है, उसी के द्रष्टा आप हैं। जो आपका स्व स्वरूप है, उसके द्रष्टा आप नहीं हो सकते। जो हमसे भिन्न है, जो मुझसे अलग है, "पर" है, उसी का द्रष्टा मैं हूँ। तो जो अपने से अलग है, अपने से भिन्न है, जिसके आप द्रष्टा हो सकते हैं, उस दृश्य को अगर आप अपना मानियेगा तो ऐसा मानने का एक बुरा परिणाम यह होता है कि स्व-स्वरूप न होने के कारण वह मिलता भी नहीं है और अपना मान लेने के कारण उसके भार से आदमी दबा भी रहता है। तो न मिलता ही है, न छूटता ही है। वस्तु छूट जाती है, परन्तु वस्तु की ममता नहीं छूटती। प्रियजनों का वियोग हो जाता है। हाय ! मेरा चला गया। चला गया सो तो चला गया, वह तो फिर कभी मिलेगा नहीं, लेकिन हाय मेरा ! यह रह गया। तो ऐसा भी मेरा है क्या, जो मुझको छोड़कर चला जाये ? उसको मेरा कहना चाहिए ? जो आपको छोड़ दे उसको मेरा कहना चाहिए ! नहीं कहना चाहिए, तो महाराजजी की वाणी जो है वह इतनी सत्य है कि जिसमें सन्देह की और विवाद की कोई गुंजाइश ही नहीं है। वे कह रहे हैं कि जो दिखाई दे रहा है उसको अपना मत मानो, इतनी सी बात है।

मैंने आज के आधुनिक मनोवैज्ञानिक ढंग से, मनुष्य के जीवन की नीरसता का नाश करने के बहुत से तरीके (techniques) सुने। काम में तो मैंने नहीं लिये। भगवत् कृपा से, सन्त की कृपा से उसकी जरूरत नहीं पड़ी। लेकिन सुना बहुत। तो क्या कहते हैं लोग, कि आप लोग तो न जाने कितने-कितने समय से प्रभु के प्रेम के आनन्द की चर्चा कर रहे हैं, किये जा रहे हैं। अरे भाई देखिए-अब मैं एक गोली खिला दूँ तो कितने घण्टों के लिए आप आनन्द में मस्त हो जायेंगे। ऐसा कहते भी हैं लोग और ऐसा करते भी हैं। परिणाम क्या होता है ? कि जो

स्व-स्वरूप नहीं है, जो पर है, जो मेरा दृश्य बन सकता है उसके संयोग से जीवन कभी नहीं मिल सकता। क्या होता है कि इन औषधियों के प्रयोग से शरीर में जो भी कुछ Sensation उत्पन्न होता है, जो कुछ भी सम्वेदना उत्पन्न होती है, वह आदमी को थोड़ी देर के लिए प्रतिकूल परिस्थितियों की पीड़ा से हटा देती है। उस काल में आदमी की प्राण-शक्ति इतनी खर्च हो जाती है इन कृत्रिम उपायों से, कि जब इस दवा का प्रभाव चला जाता है, तो आदमी एकदम निःशब्द और शिथिल होकर पड़ जाता है। तो जीवन का अर्थ यह तो नहीं है जो असमर्थता में बदल जाए, जो नीरसता में बदल जाए, जो शक्तिहीनता में बदल जाए। उसको तो जीवन नहीं कह सकते। तो स्वामीजी महाराज ने कहा कि जो दिखाई दे रहा है, जो तुम्हारा दृश्य बन सकता है, उसको अपना मत मानो।

अब अपनी-अपनी जिन्दगी को अपने-अपने सामने रखकर देखिये कि हमने कहाँ तक दिखाई देने वाले दृश्य को पसन्द किया और उस पसन्दगी के परिणाम से, हम कहाँ तक जीवन से वंचित हो गये। यह अपने-अपने विचार करने की बात है। अब मैं इसके उज्ज्वल पक्ष अर्थात् Bright Side को ले लूँ। इस जीवन में जो कुछ ग्रहण करने योग्य है, जो कुछ प्राप्तव्य है उस पर विचार कर लीजिए। स्वामीजी महाराज ने कहा कि जो दिखाई नहीं देता है, जो समझ में नहीं आता है, उसको अपना मानो। आप कहेंगे, क्यों मानें ? स्वामीजी महाराज ने कहा- मैं तो ईश्वरवादी केवल इसलिए हूँ कि सदा-सदा के लिए साथ देने वाला साथी दुनिया में कोई नहीं मिला है। यह कहा उन्होंने। और मैं थोड़ा लालच रखती हूँ अभी। तो मैंने थोड़ा और बढ़ाया इसको और कहा, स्वामीजी महाराज, मैं तो ईश्वरवादी इसलिए बनना चाहती हूँ कि ईश्वर को छोड़कर और किसी की संगति सदा-सदा के लिए प्रिय लगने वाली नहीं है। दुनिया में कोई भी वस्तु, कोई भी परिस्थिति, कोई भी पद, कोई भी सम्मान, कोई भी साथी ऐसा नहीं मिला, जिसकी संगति उत्तरोत्तर अधिक-अधिक मधुर होती चली जाए। मिला कोई, क्यों ? क्योंकि दिखाई देने वाला दृश्य जगत 'पर' है। 'पर' की संगति

में मधुरता उत्तरोत्तर बढ़ नहीं सकती है तो दोनों बातें एक साथ जोड़ दो।

परमात्मा के सिवाय संसार में साथ देने वाला दूसरा कोई नहीं मिलेगा। इसलिए ईश्वरवादी होना जरूरी है, क्योंकि अकेले रहा नहीं जाता और परमात्मा के सिवाय और किसी की प्रीति उत्तरोत्तर बढ़ने वाली नहीं होती है, तो हमको दोनों चाहिए। ऐसा साथी चाहिए जो कभी मेरा साथ न छोड़े और ऐसा साथी चाहिए जिसकी संगति उत्तरोत्तर प्रियता बढ़ाती चली जाए, बढ़ाती चली जाए, बढ़ाती चली जाए। तो स्वामीज़ी महाराज ने सुन्दर बात कही-प्यास बुझे नहीं, जल घटे नहीं, पेट भरे नहीं, तो क्या होगा ? प्रत्येक घूँट पर नित नया स्वाद आएगा। यह जीवन है प्रभु प्रेमियों का, यह जीवन है प्रभु विश्वासियों का, और हमारी क्या दशा है ? एक-एक वस्तु और, एक-एक व्यक्ति के संयोगजनित सुख के लिए, क्षण भर के सुख के लिए, सारी की सारी जिन्दगी बरबाद किए बैठे हैं। यह क्या है ? यह देखे हुए को अपना मानने की भूल है और कुछ नहीं। इस दृश्य जगत में कुछ भी ऐसा नहीं है कि जिसको आप अपना कहें और वह आपको प्राप्त हो जाए। इस दृश्य जगत में कोई व्यक्ति ऐसा नहीं है कि जिसको आप अपना मानें और वह सदा के लिए आपका साथ दे सके।

इस दृश्य जगत में कोई संयोग ऐसा नहीं है कि वह प्राप्त भी हो जाए तो आपको सदा के लिए सन्तुष्ट कर सके। है ही नहीं। तो महाराजजी क्या कहते हैं, कि मैं यह नहीं कहता हूँ कि जो कुछ तुमको दिखाई दे रहा है, कि जो कुछ मिला हुआ है, सब जमुना में डाल दो। यह नहीं कहता हूँ। यह कह रहा हूँ कि जो कुछ दिखाई देता है वह 'पर' है। उसको अपना मत मानो और जो दिखाई नहीं दे रहा है, जो समझ में नहीं आ रहा है उसको अपना मानो, तो यह दिखाई देने वाला संसार अपना मानने पर भी आँखों के सामने से लुप्त हो जाता है। हो जाता है कि नहीं ? और वह नहीं दिखाई देने वाला परमात्मा अपना मानते ही अपने में प्रकट हो जाता है। तो कौन सा सौदा बढ़िया है ? जी- दिखाई देने वाला संसार अपना मानने पर भी अपनी आँखों के

सामने से लुप्त हो जाता है और नहीं दिखाई देने वाला परमात्मा, अपना मानने पर सदा के लिए अपना हो जाता है। यह बात मैं कल्पना से नहीं कह रही हूँ। मैं ग्रन्थ में से पढ़कर ही नहीं कह रही हूँ। केवल सन्त की वाणी का सुना हुआ ही नहीं कह रही हूँ। अगर ऐसा होता तो ऐसा अख्खड़पने का मेरा स्वभाव है बचपन से कि मैं साधकों के बीच में बैठकर कभी इसको दुहराती ही नहीं।

मैं ऐसा इस सत्य के प्रत्यक्ष अनुभव के आधार पर कह रही हूँ कि नहीं दिखाई देने वाले, नहीं समझ में आने वाले परमात्मा को अपना मानना आरम्भ करो। तो साधक आरम्भ करता है बिना देखे, लेकिन बिना देखा हुआ परमात्मा सदा के लिए बिना देखा हुआ नहीं रहता है। अभी महाराजजी ने कहा न, कि शुरू में बिना देखे हुए तुम मानो, लेकिन हमेशा वह बिना देखा हुआ नहीं रहेगा। प्रारम्भ करना पड़ता है बिना देखे और बाद में तो वह इस प्रकार आपके तन में, मन में, आँखों में ऐसा रम जाता है कि उसको छोड़कर और कुछ दिखता ही नहीं। ऐसा जबरदस्त है कि हम क्या बताएँ ? भले आदमी ! क्यों छिपा रहता है बेकार रुलाने के लिये। वह इतना जबरदस्त है ! इतना जबरदस्त है। इतना व्यापक है कि मैं क्या बताऊँ ? सन्तों की यह बात सवा सोलह आने सत्य है कि आप उसके सम्बन्ध, उसकी प्रियता को, आरम्भ करिये बिना देखे, लेकिन अपने बिना देखे को अपना मानना आरम्भ कर दिया, तो आगे चलकर वह आपके भीतर इस प्रकार भर जाएगा, आपकी दृष्टि में, आपके चिन्तन में, आपके मन में, इस प्रकार भर जायेगा कि आगे चलकर उसको छोड़कर आपको दूसरा कुछ दीखेगा ही नहीं। "जित देखूँ उत श्याममयी है। जित देखूँ तित श्याममयी है।" यमुना में नीला-नीला जल बह रहा है तो श्याम हैं। आसमान में नीले-नीले बादल उमड़ रहे हैं, तो श्याम हैं। वृक्ष पत्ते डाल रहे हैं तो श्याम हैं। पक्षी के बच्चे बोल रहे हैं तो श्याम हैं। उसका और कुछ है नहीं। और कुछ दिखता ही नहीं है। सब खतम हो जाता है। और क्या हो गया ? ऐसा कैसे हो गया ? तो ऐसे हो गया, जो मिथ्या था, उसको मैंने मिथ्या जानकर अपना कहना छोड़ दिया तो वह छिप

गया। और जो सत्य है, उसको मैंने बिना देखे अपना मानना आरम्भ कर लिया तो वह प्रकट हो गया।

एक उदाहरण महाराजजी दिया करते थे ब्रज गोपियों का और सखियों का। वे जा रही हैं नगर में दधि बेचने के लिये। तो बाहर से दिखाई दे रहा है संसार का व्यवहार और अन्तर में रमा हुआ है वही अपना। तो नगर में जाकर, गलियों में जाकर एक-दो बार तो पुकारती हैं कि ले लो, दधि ले लो। थोड़ी देर के बाद, दधि शब्द की विस्मृति हो जाती है। तो कवि ने क्या कहा-''दधि को नाम बिसर गई ग्वालिन, हरि लो, हरि लो, कोई श्याम सलोना लो रे'' अब श्याम सलोना कोई बेचने की चीज है क्या ? कोई बिक्री का सामान है। लेकिन क्या करें? उनकी वाणी में कोई दूसरा स्वर नहीं निकलता, उनकी आँख में कोई दूसरा दृश्य दिखाई नहीं देता, उनके चिन्तन में दूसरा कोई व्यक्ति नहीं आता।

हम लोगों की दशा क्या है कि हरि-हरि याद करना चाहते हैं और पैसा-पैसा याद आता है। अपनी दशा देख लीजिए। हरि-हरि जपना चाह रहे हैं तो रोटी-रोटी याद आ रही है। और उनकी दशा क्या है ? दधि-दधि बोलना चाहती हैं तो हरि-हरि याद आ रहा है। यह मानव जीवन का सत्य है और इस सत्य की अनुभूति हम लोगों में से हर भाई, हर बहिन को हो सकती है। इसी जीवन में हो सकती है, इसी जन्म में हो सकती है कि जिस परमात्मा को मैंने गुरु महाराज के कहने से अपनाकर के स्वीकार किया था, वह परमात्मा गुरु की वाणी को सत्य करने के लिए, भक्त की वाणी को सत्य करने के लिए अपने को प्रकट कर देता है। आप न मानना चाहें तो मनवा दें, आप न देखना चाहें तो दिखा दें। आप भूल जाना चाहें तो याद करा दें। कोई अन्त नहीं है, उसकी अनन्त लीलाओं का। कोई कल्पना नहीं कर सकता कि वह परमात्मा कितना सचेष्ट है। हम लोगों को अपने सन्मुख करने के लिए कितना सचेष्ट है। कोई अनुमान नहीं लगा सकता। दृष्टि बदल जाती है, समझ बदल जाती है। सब कुछ बदल जाता है, क्योंकि अहं बदल जाता है।

इसलिए मानव सेवा संघ ने ईश्वर-भक्ति, ईश्वर की उपासना, ईश्वर के मिलने की साधना क्रियात्मक रूप में नहीं बताई। मन को बदलने की चेष्टा करो तो नहीं बदलेगा। दृष्टि को बदलने की चेष्टा करो तो नहीं बदलेगी। क्या बदलता है ? आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति से अहं बदलता है। तो जिन आँखों से संसार दिखाई देता था उन्हीं आँखों से प्रेमास्पद दिखाई देंने लगता है। यह बात नहीं है कि प्रभु की प्राप्ति केवल निराकार अहं की अभिव्यक्ति की अनुभूति के ही रूप में हो, ऐसी बात नहीं है। उनका मिलन प्रत्यक्ष भी होता है और भाव की आँखों से तो वह दीखते भी हैं और वही भाव जब इन स्थूल आँखों में भर जाता है तो इन स्थूल आँखों से भी दिखते हैं। और स्थूल आँखें जिस प्रकार की आकृति देख सकती हैं, वैसी आकृति बनाकर दिखते हैं। इतना प्यार करते हैं आपको ! इतना प्यार करते हैं कि उनको इस बात का बड़ा ध्यान रहता है कि कहीं ऐसा न हो कि मेरा प्यारा स्थूल आँखों से देखे बिना हमको पहचान न पाये, तो इन आँखों से जो पांचभौतिक तत्त्व से बनी हुई आँखें हैं इन आँखों से देखने लायक भी वे स्वयं बन जाते हैं तो अब तो मुझे इस बात का आश्चर्य नहीं होता है कि किसी भक्त को भगवान कैसे मिल गये। पहले होता था। पहले ऐसा मालूम होता था कि मानव के जीवन का सबसे बड़ा आश्चर्य है कि पांचभौतिक तत्त्वों से बने हुए शरीर में रहते-रहते उसको अलख अगोचर अनन्त परमात्मा मिल जाए। अब मुझे इसमें आश्चर्य होता है कि भक्त भी हैं और भगवान भी है तो ऐसा कैसे हो सकता है कि दोनों का मिलन न हो। दोनों का मिलन कैसे हो गया इसमें आश्चर्य नहीं है।

इसलिए भाई ! काल और स्थान Time and Space इनसे परे अनन्त जीवन साकार और निराकार होकर हमारे भीतर-बाहर लहलहा रहा है। युग पर युग बीतते चले जाते हैं। कल्प पर कल्प बीतता चला जाता है। कितने प्रकार के प्रवाह आते हैं और चले जाते हैं परन्तु जिस परम सत्ता से हम सब लोगों को जीवन मिला है, और जो प्रतीति का प्रकाशक बनकर हमारे आपके भीतर इस जीवन को स्वतन्त्र रूप से

अनुभव करने का प्रकाश दे रहा है, उसमें अनन्त रस भरा हुआ है और वह जीवन रस, अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों में, कण-कण में, समग्र वायुमण्डल में, आपके भीतर और आपके बाहर, समान रूप से लहरा रहा है। कोई ज्ञान की ज्योति के रूप में उसको देखता है, कोई प्रेम के प्रवाह के रूप में उसको पाता है। तो एक बार, एक बार, उस बिना देखे, उस बिना जाने पर, अपने इस दीन-हीन, तुच्छ काम-क्रोध-लोभ-मोह से ग्रस्त निन्दनीय व्यक्तित्त्व को उसकी शरण में डाल दो। हमारे अपराधों से, हमारी बुराइयों से, हमारे विकारों से वह परम हितैषी परम करुणावान, परम प्रेमास्पद घबड़ाता नहीं है।

महाराजजी ने कहा मुझको, कि तुम निन्दा करना बन्द करो। अब अपनी निन्दा मुझको मत सुनाओ। अब प्रभु की महिमा सुनो, क्या महिमा ? जन्म-जन्मान्तर से भूल करते-करते पाप का पहाड़ बना दो, प्रभु की करुणा की एक बूँद, उसको समाप्त करने के लिए पर्याप्त है। उसकी महिमा सँभाल लेगी तुम्हें। तुम्हारा दायित्व केवल इतना है कि तुम उस बिना देखे, बिना जाने को अपना कहकर स्वीकार करो। प्रभु को इतने प्रिय लगते हैं ऐसे भक्त, इतने प्रिय लगते हैं कि उस भक्त का प्रिय करने के लिए परमात्मा क्या नहीं करता है ? आपका प्रेम परमात्मा को इतना पसन्द है, इतना पसन्द है कि आप जब उनको अपना प्यारा बनाते हैं तो आपका प्रिय करने के लिए वह क्या नहीं करते हैं। उसकी कोई कल्पना नहीं कर सकता, अनुमान नहीं लगा सकता। इतने प्रिय हैं आप उनको ! बस एक ही बहादुरी करनी है उनको प्यार करने के लिए। इस देखे हुए को अपना कहना छोड़ दो। यही एक शर्त है और कुछ नहीं। और परमात्मा जब देखते हैं कि सब प्रकार की सीमाओं में बँधा हुआ यह मानव भोग और मोक्ष की परवाह न करके मुझको पसन्द करने लग गया है तो ऐसे मानव को वे इतना प्यार करते हैं, इतना पसन्द करते हैं, कि उसके जीवन को अपनी विभूतियों से भर देते हैं और स्वयं उसकी सेवा में उसकी प्रियता के लिए आप ही हाजिर हो जाते हैं। ऐसा हुआ है। ऐसा होता है। ऐसा होता रहेगा।

अब मैं समझती हूँ कि इस सारी सृष्टि में अगर कुछ श्रेयस्कर है, अगर कुछ ग्रहण करने के लायक है, और मैं ऐसा भी सोचती हूँ कि परमात्मा ने जो इस सारी सृष्टि की रचना की और उसमें आपकी रचना की, इन सब बातों के पीछे केवल एक ही उद्देश्य है कि आप और उनके बीच प्रेम का आदान-प्रदान हो और वह अव्यक्त, अलख, अगोचर, आपके माध्यम से व्यक्त होकर, गोचर होकर, दृश्य बनकर संसार की शोभा को बढ़ावें, प्रसन्नता को बढ़ावें, आनन्द को बढ़ावें, मधुरता को बढ़ावें तो हमारे आपके जीवन का, हमारी आपकी रचना का, केवल यह एक ही उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति से जब तक हम लोग वंचित हैं तब तक मैं समझती हूँ कि मनुष्य इस धरती पर भार है और कुछ नहीं।

(31)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयों !

मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, मैं कुछ नहीं हूँ, तीनों बातें सत्य हैं। मैं कुछ नहीं हूँ, इसको स्वीकार करने में ऐसे ही लोग घबड़ाने लग जाते हैं। घबड़ा-घबड़ा कर प्रश्न कर रहे हैं। उत्तर तो महाराज ने बहुत अच्छी तरह दिया है। यह दार्शनिक विवेचन है। "मैं कुछ नहीं हूँ" का तात्पर्य अहंकार का सर्वथा लुप्त हो जाना है। अभी इस वर्तमान क्षण में इस दिशा में हम लोगों ने क्या किया है ? "मैं कुछ नहीं हूँ", इस पर अभी हमारी दृष्टि नहीं है। अभी तो हम लोग कुछ हैं। क्या ? अब हम लोगों ने इस सीमित अहं भाव को जिसको कि,"मैं" कह करके हम लोग सम्बोधित करते हैं, उस सीमित अहं भाव को असीम अनन्त नित्य तत्व में समाहित कर देने के लिए अपने को साधक स्वीकार किया है।

अभी यह बात हमारे आपके लिए अनुभूत सत्य के रूप में नहीं आयी है कि मैं कुछ नहीं हूँ। हाँ, प्रगति का एक कदम उठाया है हम लोगों ने। वह क्या है ? पहले सोचा था कि हम सुख-दु:ख के भोगी

हैं। अब हम लोग सोचते हैं कि हम साधक हैं, यह फर्क हुआ न ? पहले अपने सम्बन्ध में यह धारणा थी कि भाई हम तो जन्म-मरण की बाध्यता में फँसे हुए हैं। किसी समय मेरी यह धारणा थी अपने सम्बन्ध में कि इच्छाओं का उठना न कभी बन्द होगा और न मुझे शान्ति मिलेगी। तब मैंने अपने लिए ऐसा स्वीकार कर रखा था कि मैं चाह से प्रेरित हूँ, मैं इच्छाओं की अपूर्ति से दुःखी हूँ, अशान्त हूँ। सत्संग के प्रकाश में संत ने जीवन का विश्लेषण किया, उससे अब हम लोगों ने अपने सम्बन्ध में अपनी धारणा को बदल दिया। इसमें कोई डरने की बात नहीं, है, संकोच मत करिये कि हम ऐसा कैसे कहें ? क्योंकि यह तो पहला ही पाठ है, यदि अपने सम्बन्ध में, अपने लिए ऐसा कह नहीं सकेंगे तो फिर आगे चल करके प्रगति की और बातें जो सामने आयेंगी, उसमें कोई सफलता हमें मिलेगी नहीं। तो यह पहला पाठ है।

मैं कुछ नहीं हूँ, इस बात को अभी नहीं कहकर इसको अन्तिम सत्य के रूप में रखकर अभी हम लोगों ने अपने लिए यह एक साधन रूप मान्यता स्वीकार की हैं। यह सब मान्यता ही तो है। अमुक मेरा नाम है, तो मैं कहती हूँ कि बालक जन्म लेता है तब तो वह अनामी होता है, उस समय तो उसका कोई नाम होता ही नहीं है। तो उसकी सत्ता है कि नहीं है ? जी। सत्ता तो है। लेकिन वह नाम नहीं है जो नाम पीछे से उसको दिया गया। नाम के पहिले भी उसकी सत्ता थी और जिस शरीर में उसको यह नाम दिया गया उस शरीर के न रहने के बाद उसका वह नाम तो लुप्त हो जायेगा, लेकिन उसकी सत्ता तो रहेगी। इस तरह से अमुक मेरा नाम है, अमुक मेरा स्थान है, अमुक मेरा काम है, ये सारी मान्यतायें हम लोगों ने देह के अभिमान से अपने में आरोपित कर लीं। अब देखिये, किसी दिन कोई पद हम लोग स्वीकार करते हैं, तो उस पद के अनुसार हमारा सम्बोधन होने लगता है। ये डॉक्टर साहब हैं, ये मिनिस्टर साहब हैं, ये प्रोफेसर साहब हैं, ये बड़े सेठ हैं, व्यापारी हैं, अब जब प्रेक्टिस करना छोड़ दिया, जब रिटायरमेंट ले लिया, तो पद तो चला गया और काम भी चला गया। फिर भी हम अपने को प्रोफेसर साहब कहते हैं। तो बात झूठी हुई कि नहीं हुई।

जिस दिन आपने पद नहीं लिया था, उस दिन तो आप प्रोफेसर साहब, मिनिस्टर साहब नहीं कहलाते थे, कलक्टर साहब नहीं कहलाते थे, डिप्टी साहब नहीं कहलाते थे। पद मिला तो उसके अनुसार एक मान्यता जुड़ गयी, मैं के साथ। फिर जब काम करना खतम कर दिया, पद को छोड़ दिया, उसके बाद भी अपने साथ उस मान्यता को लगाये रहना, झूठी बात है कि नहीं ? जी !

तो ऐसे ही जितनी मान्यतायें हम लोग सब 'मैं' के सम्बन्ध में स्वीकार करते हैं, वे सारी मान्यतायें इसी प्रकार की लगायी हुई हैं। तो सबसे अच्छी और सबसे सच्ची मान्यता क्या होनी चाहिए ? वह यह होनी चाहिए कि मैं मानव हूँ, मैं साधक हूँ। तो आज हम सब भाई-बहिन सत्य की दिशा में आगे कदम बढ़ाने के लिए उपस्थित हुए हैं। हम लोगों की यह एक मान्यता है कि मैं साधक हूँ। और मैं सच कहती हूँ कि हम लोगों को अपनी इस मान्यता से, अपनी इस स्वीकृति से कभी भी हटना नहीं चाहिए और इसको भूलना भी नहीं चाहिए। बहुत जरूरी बात है, अगर आज मैं ऐसा कहूँ कि हम सब लोग यहाँ जो इकट्ठे हुए हैं, असाधक हैं, तो आप इस बात में मेरा समर्थन करेंगे ? जी ? नहीं करेंगे। अरे भाई, असाधक होते तो फिर हम सत्संग में आते ही क्यों ? साधना की चर्चा करते ही क्यों ? इस दिशा में सचेष्ट होते ही क्यों ? तो हम सब लोग साधक हैं और साधक का अर्थ यह नहीं होता कि भूखे-नंगे रहते हैं कि वन में वृक्ष के नीचे बैठते हैं। मानव-सेवा संघ ने साधक शब्द का बड़ा सुन्दर अर्थ लिया है, वह भी आप भाई-बहिनों की सेवा में निवेदन कर देती हूँ मैं।

साधक माने क्या ? जिसमें कोई माँग हो, तो आप अपने में कोई माँग अनुभव करते हैं कि नहीं ? जी- अशान्ति काल में शान्ति की आवश्यकता अनुभव होती है कि नहीं ? होती है। ईश्वर में विश्वास करने वाले हैं तो भगवान से मिलने की आवश्यकता है कि नहीं ? है। जन्म-मरण का दुःख, बीमारी और वृद्धावस्था का दुःख भोग रहे हैं तो दुःख से रहित-जीवन की आवश्यकता है कि नहीं है ? तो मानव सेवा संघ की परिभाषा से आप साधक सिद्ध हो गये। जी ? (श्रोता ''हो

गये") साधक किसको कहते हैं ? जिसमें कोई माँग हो, साधक किसको कहते हैं ? जिस पर कोई दायित्व हो। अब देखो ! अपने पर, हम लोगों पर कोई दायित्व है कि नहीं ? अपने द्वारा की हुई भूल को पुनः न दोहराने का व्रत लेंगे, यह दायित्व हम लोग अपने पर स्वीकार करते हैं कि नहीं ? जी- करते हैं। जिसकी कोई माँग हो उसका नाम साधक है। जिस पर कोई दायित्व हो, उसका नाम साधक है। जो उस दायित्व को पूरा करने के लिए तत्पर हो, उसका नाम साधक है। जिसका कोई साध्य हो, उसका नाम साधक है। जो अपने उत्थान के लिये लालायित है, उसका नाम साधक है। चन्दन का टीका लगाता है कि नहीं, पूर्व मुख करके प्रार्थना करता है कि पश्चिम मुख करके खड़ा होता है, सो साधक की निशानी नहीं है। साधक होने का लक्षण केवल इतना है कि आप अपने में कोई कमी अनुभव करते हैं ओर उस कमी को मिटाने के लिए आप तत्पर है। जिसका कोई साध्य है, जिस पर कोई दायित्व है, जो दायित्व को भी जानता है, जो अपने साध्य को भी जानता है, लक्ष्य को भी जानता है और दायित्व पूरा करने के लिये जो सामर्थ्य है, उसी सामर्थ्य के अनुसार वह तत्पर है कि नहीं ? तो इस दृष्टि से हम सभी भाई-बहिन साधक हैं।

आज जब महाराज जी की वाणी मैं सुन रही हूँ और घबड़ा-घबड़ा कर लोग प्रश्न कर रहे हैं कि महाराज ! मैं कुछ नहीं हूँ, यह कैसी बात है ? तो मैं आप भाई-बहिनों की सेवा में निवेदन कर रही हूँ कि कभी वह घड़ी आ तो जायेगी, वह समय आ तो जायेगा, जब आप कुछ नहीं रहेंगे और वह बड़ी शुभ घड़ी होगी, सबसे ऊँची उपलब्धि की घड़ी होगी। लेकिन अभी घबराहट लग रही है, व्यक्तित्व के नाश का भय लग रहा है कि मैं कुछ नहीं हूँ, यह कैसी बात हैं ? आज हमारे आपके लिये उपयोगी मान्यता क्या है ? उस स्टेज तक पहुँचने के लिये तैयारी की मान्यता क्या है ? कि हम सब लोग अपने को साधक स्वीकार करें। अनेक बार ऐसा अवसर मेरे सामने आया और दूसरे साधक भी जब मेरे साथ बात करते हैं तो मैं उनको उत्तर देती हूँ कि मैं अपनी समस्याओं को महाराज के सामने रखती रही।

उनके सामने कई बार मैंने ऐसे बताया। महाराज ! बहुत बड़े जन-समूह में मुझे काम करना पड़ता है। यह अब की बात नहीं है। महाविद्यालय में सर्विस में रहने के समय की बात है। बड़े जन-समूह में मुझे काम करना पड़ता है और हर व्यक्ति अपने समय पर अपनी जगह पर ठीक काम नहीं करे तो सारा मेरा किया कराया चौपट हो जाता है। अगर लैबोरेट्री के लैब असिस्टेन्ट, जो होते हैं प्रयोगशाला में सहायता देने वाले। समय हो गया और वे नहीं आए, एक्स्पैरिमेन्ट करने के लिए सब छात्रायें खड़ी हैं प्रयोगशाला में, और मशीन निकालकर टेबिल पर सैट कर देना चाहिए था घण्टी लगने से पाँच मिनिट पहले और वे हजरत आयेंगे पाँच मिनिट बाद। इतनी देर में सब चौपट होता रहेगा, समय घट जायेगा, काम पूरा नहीं होगा तो मुझे बड़ी तकलीफ होती थी। तो स्वामीजी महाराज से मैंने कहा- महाराज क्या करें ? भीतर से तो बहुत ही तिलमिलाहट होती है और सन्तुलन बिगड़ जाता है। काम शुरू कराने से पहिले ही भीतर-भीतर क्रोध आ गया। मुश्किल पड़ जाती है क्या करना चाहिए ? कैसे सँभालना चाहिए।

स्वामीजी महाराज से जब मैंने ऐसे प्रश्न किये, एक उदाहरण नहीं ऐसे अनेक उदाहरण मैं उनके सामने रखती। महाराज, मैं कैसे करूँ ? तो महाराज के मुख से पहला वाक्य निकलता कि देखो, देवकी जी ! तुम साधक हो, इसलिए कोई भी समस्या तुम्हारे सामने आती है, तो तुम साधन बुद्धि से उसको सुलझाओ। उनके सम्पर्क में रहकर अनेक स्तर पर इस तरह की बातें मुझे सूझती रहीं और मैं उसी के अनुसार करती रही तो मुझे यह खूब निश्चयपूर्वक मालूम है कि आप अपने सम्बन्ध में जो धारणा स्वीकार करेंगे, उस धारणा के अनुसार आपका जीवन बन जायेगा। समय-समय पर आपको खुद समझ में आयेगा कि अभी तक मेरी यह साधन युक्त मान्यता मेरे व्यवहार को गाइड कर रही है अथवा वही पुराना रवैया अभी तक चल रहा है कि भाई कैसे भी हो, झूठ बोल के, चतुराई-चालाकी करके, जो नहीं करना चाहिए सो करके काम चला लो। लोग काम चलाने का नाम लेते हैं।

काम चल गया। मतलब क्या हो गया ? किसी संकल्प की पूर्ति हो गयी, खाने-पीने की सुविधा हो गयी, पद मिला है तो प्रोमोशन का इन्तजाम हो गया, तो जरा ऐसे करके, तो जरा वैसे करके, किसी तरह काम चला लो, अरे क्या काम चला भाई ? अब तक जो कुछ करते रहे उससे तो काम बना नहीं, अगर काम बन गया होता तो और काम चलाने का प्रश्न खड़ा कैसे होता ? जिसको पाकर कुछ भी पाना शेष नहीं रहता, जिसको पाकर जीवन में दुःख नहीं रहता, अभाव नहीं रहता, शरीर के नाश होने से पहिले, अपने अविनाशी अस्त्त्वि का बोध हो जाता है, हाड़-मांस के इस पुतले के लिए फिरते हुए भी, उसी व्यक्तित्त्व में ईश्वरीय प्रेम का प्रादुर्भाव हो जाता है, तो उसके बाद भी कोई काम शेष रहता है क्या ? उसके बाद काम चलाना बाकी नहीं रहता है, और अगर ये आखिरी समय तक नहीं हुआ तो काम खतम होता नहीं है। शरीर का नाश हो जाने के बाद भी कुछ काम शेष रह जाता है, जो दूसरे लोगों पर निर्भर करता है। कोई दया करके कर देगा तो हो जायेगा नहीं तो नहीं होगा, यह हालत हो जाती है।

तो आज उस दार्शनिक सत्य को हम सब लोग अपनी साधना की उच्चतम उपलब्धि के रूप में रखें। कौन सा दार्शनिक सत्य, कि मैं कुछ नहीं हूँ। यह कब पूरा होगा ? अहम् का नाश हो जायेगा तब होगा, अथवा परम प्रेमास्पद के प्रेम से विभोर हो जायेंगे, फिर अपनेपन की सुध नहीं रहेगी, तब होगा और उसके पहिले हम लोगो को क्या करना है ? तो महाराजजी ने एक बड़ी आवश्यक बात बतायी कि जब हम सत्संग के प्रकाश में अशुद्धि को मिटाने का प्रयास करने लग जाते हैं, तो अशुद्ध व्यक्तित्त्व पहले शुद्ध होता है, अशुद्ध अहम् पहले शुद्ध होता है। तो इस समय हमारा आपका स्टेज क्या है ? हमारे आपके सामने कौन सा पाठ है साधन-महाविद्यालय का ?

हम सभी भाई-बहिनों को अपने सामने यह समस्या रखनी चाहिए कि पहिले इस पाठ को पढ़ना है कि अहम् की अशुद्धि का नाश हो जाये, सत्संग के प्रकाश में हम सब लोग शुद्ध अहम् वाले हो जायें। तो अहम् की अशुद्धि का नाश कैसे होगा ? दो वाक्य जो हैं उनको

पहिले लिया जायेगा, मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। ये दोनों व्रत जो हैं, अशुद्ध अहम् को शुद्ध करते हैं। अशुद्ध अहम् जब शुद्ध होता है, तब उसमें सत्य की विभूतियाँ प्रकट होती हैं। आज देखिये कि अशुद्ध अहम् के रहते हुए, अहम् की अशुद्धि के रहते हुए जब हम लोग सोचते हैं, कि मैं कुछ नहीं हूँ, तो घबड़ाहट मालूम होती है। अरे, यह क्या हुआ ? हम ही खतम हो गये तो फिर रहा क्या ? अशुद्ध अहम् के कारण अहम् का लुप्त हो जाना हम लोगों से सहन नहीं होता है। लेकिन जब ममता का नाश हो जाये, जब कामनाओं का नाश हो जाये, जब विकारों की निवृत्ति हो जाये, जब लोभ, मोह देह की आसक्ति, धन का लोभ, सम्मान का लोभ, ये सब जब खतम हो जायेगा, तब यह दशा नहीं रहेगी। अशुद्धिकाल में अहम् जो है वह अनन्त में समाहित नहीं होता है। किसी भी प्रकार की अशुद्धि शेष रह जायेगी, अहं रूपी अणु जो है उसका ऐसा विस्फोट, उसकी ऐसी अभिव्यक्ति कि वह अनन्त में समाहित हो जाये, सो नहीं हो पाता और जब अशुद्धि का नाश होता है तब वह प्रक्रिया अपने आप पूरी हो जाती हे। उसके करने के लिये किसी साधक को कोई विशेष प्रयास नहीं करना पड़ता। चाहे हम सब लोग योगवित् होना पसन्द करें, चाहे हम लोग उस निराकार सत्य से अभिन्न होना पसन्द करें, चाहे हम लोग उस नित्यतत्त्व को अपना परम प्रेमास्पद मानकर उसके प्रेम में समाहित होना पसन्द करें। योगवित् होना चाहें तो, तत्त्ववित् होना चाहें तो, और भगवद् भक्त होना चाहें तो, हम लोगों की तैयारी का पहला कदम होगा कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। अकेले-अकेले बैठ करके इस सम्बन्ध में विचार करियेगा।

मेरा कुछ है, ऐसा मानने से मेरा कुछ बन जाता हो सो बनता नहीं है, और मेरा कुछ नहीं है, ऐसा जान लेने पर, सब कुछ नष्ट नहीं हो जाता है। देह को अपना मानों तो भी देह अमर नहीं हो जायेगा और देह को अपना न मानो तो न मानने से भी देह का नाश नहीं हो जायेगा। इसको जितने दिन रहना है रहेगा। इसका उपयोग हम लोग कर लें और रहते-रहते इससे अतीत के जीवन का अपने को अनुभव

हो जाये तो बड़े आनन्द की बात रहेगी। त्याग के आधार पर भी होता है, विश्वास के आधार पर भी होता है। आप जब याद रखेंगे कि मैं साधक हूँ, आप जब याद रखेंगे कि मैं मानव सेवा संघ का सदस्य हूँ, आप जब याद रखेंगे कि मैं मानव सेवा संघ का स्थायी साधक हूँ। तब क्या होगा ? तब काम करते समय, व्यवहार करते समय, आपका ध्यान रहेगा इस बात पर, कि भाई मुझे तो सिक्के की अपेक्षा वस्तु को महत्त्व देना है। वस्तु की अपेक्षा व्यक्ति को महत्त्व देना है। व्यक्ति की अपेक्षा विवेक को महत्त्व देना है। और विवेक की अपेक्षा सत्य को महत्त्व देना है। यह एक नियम है अपने संघ का। मानव सेवा संघ की सदस्यता स्वीकार करने का अर्थ क्या है ? कि व्यवहार करते समय आपको यह नियम याद रहे। याद रहेगा तो बड़ा लाभ होगा आपको। प्रलोभन पर विजय पाने में, जो नहीं करना चाहिए, उससे बच जाने में आपको बहुत बल मिलेगा।

मान्यता स्वीकार करने का अर्थ क्या है ? मान्यता स्वीकार करने का अर्थ यह है कि वह हमारे लिए एक मार्गदर्शक (Guideline) बन जाये। अब सिक्के से वस्तु का मूल्य अधिक है, क्यों ? भूखा आदमी है, उसके सामने नोट की ढेरी लगा दीजिये और दो रोटी रख दीजिए। उससे पूछियेगा कि किसको लोगे ? भूखे आदमी की जरूरत नोट से पूरी होगी कि रोटी से ? (श्रोता-रोटी से) नोट अगर उसके सामने रख दिया जाए, और वस्तु उसके सामने न हो, सोने, हीरे की ढेरी हो, तब भी क्या उसकी भूख मिटती है ? जी ? नहीं मिट सकती है। शरीर को भी सँभाल कर रखना हो तो सिक्के की अपेक्षा, वस्तु का मूल्य अधिक है। यदि आप याद रखोगे इस नियम को तो वस्तु को हटा कर, सिक्के को महत्त्व नहीं देंगे। और अगर किसी वस्तु के मुकाबले में किसी व्यक्ति को सामने खड़ा किया जाये तो वस्तु की रक्षा में विशेष ध्यान दिया जाना चाहिए कि व्यक्ति की रक्षा में, तो आप अगर याद रखोगे कि मैं मानव सेवा संघ का साधक हूँ, तो सिद्ध-पुरुष भले ही तुरन्त न हो जायें, उसमें देर लग सकती है, लेकिन यह मान्यता आपको स्थूलता से सूक्ष्मता की ओर जाने में मदद कर सकती है। अगर आप मदद लेना चाहें तो :

कभी-कभी साथ में रहने वाले साथियों से किसी वस्तु की क्षति हो जाये, कोई चीज गिर जाय, टूट जाये अथवा किसी ने ऐसा कोई काम असावधानी से कर दिया हो, तब व्यक्ति की असावधानी के लिए हम लोगों को महाराज बहुत सचेत करते रहते थे। असावधानी मत करो। तुम्हारी असावधानी से किसी वस्तु का नुकसान नहीं होना चाहिए। लेकिन किसी साधक की राग निवृत्ति के लिए वस्तु को खर्च करने की जरूरत पड़े, तो लाख करोड़ भी हो जायें तो भी सब बरसा देंगे उस पर। महाराज ऐसा क्या ? कहते कि भाई ! देखो, वस्तु से व्यक्ति की कीमत ज्यादा है, उसकी राग निवृत्ति हो जाये, उसकी अशुद्धि का नाश हो जाये, उसमें शान्ति आ जाये, तो ऐसे शान्ति परायण साधक के लिए सारी दुनिया की वस्तु लुटाई जा सकती है। वस्तु से व्यक्ति का मूल्य ज्यादा है। व्यक्ति के दिल को दबाओ मत। व्यक्ति पर पराधीनता की भावना (अहसास) लादो मत। व्यक्ति के मार्ग में वस्तु के कारण से बाधा मत हो जाओ। व्यक्ति की रक्षा को प्रधानता दो। वस्तु की रक्षा में व्यक्ति की हानि न हो जाये। यदि हम लोग अपने को साधक स्वीकार करते हैं, मानव सेवा संघ के सदस्य हों, चाहे स्थायी साधक हों, या आजीवन कार्यकर्ता। सहजभाव से जिसने संत को प्यार किया, संघ को प्यार किया, इस संस्था की मामूली, सवा रुपया साल चंदा वाली सदस्यता भी ले ली और उस सदस्यता को आपने सच्चाई से स्वीकार किया हे तो व्यवहार करते समय आपको याद आना चाहिये और याद आती रहेगी यह बात, तो सचमुच आप में मानवता को महत्त्व देने की सामर्थ्य आ जायेगी।

तो आज हमारे लिए पाठ क्या है ? कि हम सब लोग अपने को साधक स्वीकार करें। साधकों के सोचने का ढंग विशेष प्रकार का होता है। एक लड़की अपने को साधक मानती है, उसने एक विषय पर मुझसे सलाह ली। टैम्परेरी सर्विस में है तो उससे ऊँचा पद और अधिक आमदनी वाली सर्विस मिलने पर अवसर आया तब उसने मुझसे सलाह माँगी, तो मैंने उससे पूछा कि तुम विचार करके देखो कि अधिक धन कमाना तुम्हारे जीवन का लक्ष्य है क्या ? तो उसने कहा,

सो तो नहीं है। तो मैंने कहा, कि तुम्हारी योग्यता का उपयोग जहाँ तुम हो वहीं पर हो ही रहा है। एक प्रकार का रहन-सहन एक जगह पर सैट हो गया है। वहाँ रहकर अच्छी तरह से तुम्हारा काम चल रहा है, योग्यता का उपयोग हो ही रहा है, शरीर और समाज के सम्बन्ध का निर्वाह हो ही रहा है, तो यह सब इन्तजाम बिगाड़ करके फिर एक बेचैनी में प्रवेश करने की क्या जरूरत है ? अगर तुम साधक हो, धन कमाना तुम्हारे जीवन का लक्ष्य नहीं है और जो मिल रहा है उसको समाज की सेवा में लगाने का प्रश्न है, तो सब बनाबनाया इन्तजाम बिगाड़ कर बेचैनी काहे के लिए खरीदती हो। तो उसकी समझ में आ गई बात, और उसने कहा कि नहीं जाते हैं इण्टरव्यू में। मध्यप्रदेश में कहीं इण्टरव्यू में जाने की बात थी। सो नहीं गई। तो क्या हो गया ?

जो अपने को साधक स्वीकार कर लेता है उसका लक्ष्य उसके सामने निर्धारित हो जाता है, और बहुत छोटी-छोटी बातों में भी वह अपना निर्धारित लक्ष्य, जो अपनी मान्यता है, वह मार्ग-दर्शक (Guide-line) बन जाती है। इस दृष्टि से मैं साधक भाई-बहिनों की सेवा में यह निवेदन कर रही हूँ कि 'मैं कुछ नहीं हूँ' इसके बारे में हम लोग पीछे सोचेंगे। मैं साधक हूँ, इस मान्यता को आज स्वीकार करिये तो आप देखियेगा कि विवेक विरोधी कर्म आपके द्वारा नहीं होगा। "सैल्फ कन्सैप्ट है" अर्थात् अपने सम्बन्ध में जो अपनी धारणा है उसका जीवन पर बड़ा जोरदार प्रभाव होता हे, और अगर इस मान्यता को सजीवता के साथ हम स्वीकार करने के लिए तैयार नहीं हैं, तो मेरे बढ़िया से बढ़िया व्याख्यान से, हमारा आपका कल्याण नहीं हो सकता। जी ? व्याख्यान से कल्याण नहीं होगा। अपने सम्बन्ध में अपनी मान्यता Concept (कन्सैप्ट) बदलो, अपने सम्बन्ध में अपनी धारणा को बदलो, असाधन युक्त धारणाओं को मिटाकर, एक साधन युक्त धारणा स्वीकार करो। इसी सम्बन्ध में ईश्वर-विश्वास की बात आती है। किसी दिन मैंने स्वीकार किया था कि मैं प्रोफेसर हूँ। एक दिन कागज पर लिखकर मैंने ही दे दिया कि अब यह काम मुझे नहीं करना है। लिख के दे दिया, तो मेरी मान्यता को समाप्त हो गई। अब भी स्मरण

को प्रोफेसर मानती रहूँ तो वह मान्यता झूठी होगी। अब मैंने अपने लिए यह स्वीकार किया है कि मैं साधक हूँ। यह मान्यता झूठी नहीं बनेगी। बीमार हो जाओ तब भी, शरीर असमर्थ हो जाये तब भी, आँख से दिखाई न दे तब भी, कान से सुनायी न दे तब भी, मैं साधक हूँ। यह मान्यता कहाँ तक जायेगी ? जब तक साध्य से अभिन्न न हो जाओ अर्थात् जब तक आपका सीमित अहम् भाव बना हुआ है, तब तक यह मान्यता आपको साथ देगी और कहाँ जाकर खतम होगी ? साधक और साधक की मान्यता, ये सब जाकर एक साथ ही साध्य में समाहित हो जायेगी।

तो यह तो सच्ची मान्यता मालूम होती है, यह तो गलत नहीं है, यह छूटेगी नहीं, यह मिटेगी नहीं। यह तब तक आपके साथ रहेगी, जब तक आप अपने एक परिछिन्न अहम् की सत्ता को अनुभव कर रहे हैं। इसलिए यह मान्यता स्वीकार करने योग्य हैं, और इस मान्यता को स्वीकार कर लेने पर व्यक्ति का बहुत विकास होता हैं। देह के अभिमान का कोई प्रश्न आ जावे, सम्मान के लोभ में पड़कर कुछ गलत कार्य करने का अवसर आ जावे, अपमान के क्षोभ से क्षुब्ध होकर कुछ अकरणीय प्रवृत्ति का आकर्षण जग जावे, तो आपको यह मान्यता कि "मैं साधक हूँ" धीरज देगी, शान्ति दे देगी। आप कुछ अनर्थकारी कर्म नहीं करेंगे, आप कुछ अनर्थकारी चिन्तन नहीं करेंगे। तत्काल आपके सामने यह बात आकर खड़ी हो जायेगी- कि अरे ! मैं तो साधक हूँ, मेरे जीवन का लक्ष्य क्या है ? साध्य से अभिन्न होना। तो उस लक्ष्य की पूर्ति में जो भी कोई बातें बाधा पहुँचाने वाली होंगी उनको छोड़ने में आपको जरा भी तकलीफ नहीं होगी। तो यह मान्यता हम स्वीकार करें, और इसी मान्यता के आधार पर हम लोगों से, ईश्वर विश्वासी लोगों से, भगवद् भक्त संत ने यह कहा, कि जो मान्यतायें किसी भी क्षण मिथ्या प्रमाणित होती हैं उन मान्यताओं को छोड़ दो। मैं अमुक का पुत्र हूँ, यह किसी दिन छूट जायेगा, पिता का शरीर नहीं रहेगा, तो खतम हो गई यह बात, मैं अमुक का पिता हूँ, यह मान्यता भी छूट जायेगी।

ऐसी मान्यतायें जो कभी भी छूट सकती हैं, उनको आज ही मिथ्या जान करके सब विश्वासों को एक सही विश्वास में, सब सम्बन्धों को, एक ही सही सम्बन्ध में विलीन कर दो। वह विश्वास कौन सा है? वह सम्बन्ध कौन सा है ? तो संत जन, भक्तजन बताते है, कि परमात्मा के साथ तुम्हारा नित्य सम्बन्ध है, इसलिए सब सम्बन्धों को एक परमात्मा के सम्बन्ध में विलीन कर दो। क्या करो ? मैं किसी का पुत्र नहीं, मैं किसी का पिता नहीं, मैं किसी का मित्र नहीं, अन्य किसी से मेरा कोई सम्बन्ध नहीं। मेरा एकमात्र सम्बन्ध केवल परमात्मा से है। मैं परमात्मा का मित्र हूँ, मैं परमात्मा का बालक हूँ, मैं परमात्मा की प्रिया हूँ, मैं परमात्मा की माता हूँ, मैं परमात्मा का पिता हूँ, जो पसन्द आये। आपके माने हुए सम्बन्ध को वे त्रिभुवननाथ इतना पसन्द करते हैं, इतना पसन्द करते है कि बाप बना लो तो बाप बनने को राजी, बेटा बना लो तो बेटा बनने को राजी, भाई बना लो तो भाई बनने को राजी। जैसे भी करो परमात्मा को मानव हृदय की आत्मीयता की स्वीकृति बहुत पसन्द है, बहुत पसन्द है।

इलाहाबाद कुम्भ मेले की बात है- किसी ने महाराजजी से पूछा कि महाराजजी ! भगवान ने सृष्टि क्यों बनाई ? लोग ऐसे ही ऊटपटाँग प्रश्न करते ही रहते थे। तो महाराजजी ने कहा, भगवान ने सृष्टि बनाई मेरे लिए, और मुझको बनाया अपने लिए। बड़ी सच्ची बात है। सृष्टि बनाई मेरे लिए, सृष्टिकर्त्ता ने सचमुच सृष्टि आपके लिए बनायी। उसका और दूसरा कोई प्रयोजन नहीं है। आप सोच करके देख लीजिये, सारी सृष्टि में आपको छोड़कर दूसरा कोई ऐसा सामर्थ्यवान प्राणी नहीं है, जो सृष्टि को देख करके सृष्टिकर्त्ता की खोज कर सके, जो अपने को खपा कर, अपने प्राण को गँवा करके सृष्टि की सेवा करना पसंद करे, जो सृष्टि के सुख को छोड़ कर, सर्व-उत्पत्ति के आधार को पकड़ना पसन्द करे। ऐसा कोई नहीं है, जो प्राकृतिक शक्तियों को प्राणियों के उपयोग के लायक काम में ले सके।

जैसे- मान लीजिए कि धरती मे उर्वरा शक्ति है, सृष्टिकर्त्ता ने बना तो दी, पर खेती करने आते हैं क्या ? जी ? हल चलाने आते हैं?

नहीं आते हैं। अब धरती में उर्वरा शक्ति है, उस पर मेहनत करने से, उसमें बीज डालने से अन्न उपजेगा और प्राणियों के शरीर का भरण-पोषण होगा। तो धरती की उर्वरा शक्ति का उपयोग करना, उसकी खोज करना, उसकी शोध करना, उसमें काम करना, उसको समाज के लिए, शरीर के लिए उपयोगी बनाना, यह तो आपका काम है। आप करते हैं इसको। तो सारी सृष्टि बनाई उन्होंने आपके प्यार से प्रेरित होकर, आपको सुख देने के लिए, और आपको बनाया अपने लिए।

सचमुच मानव-जीवन की रचना जो हैं, बड़े ऊँचे उद्देश्य से हुई है। और मैं क्या बताऊँ, वैज्ञानिक सत्य को न जानने वाले लोग अविनाशी तत्त्व को, परमात्मा को, यों ही अपनी अज्ञानता में उड़ाते रहते हैं। नहीं तो सचमुच जिन लोगों ने वैज्ञानिक दृष्टिकोण से जीवन के सत्य पर विचार किया, उन लोगों ने इस सत्य को पहचाना है। करीब तीस वर्ष पहले, मनोविज्ञान के विषय को आदमी ने कितना स्थूल स्तर से आरम्भ किया था, और खोज करते-करते अंत में थ्योरी क्या बनायी ? "परपेसिविज्म" अर्थात् मनुष्य के व्यक्तित्व का विश्लेषण करते-करते मनोवैज्ञानिक कहने लगे, "ऐसा मालूम होता है कि मनुष्य के व्यक्तित्व की रचना के पीछे किसी सत्ता का संकल्प काम कर रहा है।" अब किसी का संकल्प काम कर रहा है, यह बात किसी प्रयोगशाला में टेस्ट करने में नहीं आ सकती। खोज करते-करते मनोवैज्ञानिक इस संकल्प तक पहुँच गये हैं और परपेसिविजिम (perpasevisim) नाम की एक थ्योरी बना दी। शुरू किया था यह कहते हुए कि जिस प्रयोगशाला में प्रयोग नहीं हो सकता है वह मेरा विषय नहीं है। अच्छी बात है भाई, विषय नहीं है तो छोड़ दो उसको। उसको छोड़ करके तुमको सत्य का अन्त कहीं नहीं मिलेगा। एक्सप्लानेशन अर्थात् स्पष्टीकरण देते-देते पहुँच गये वहाँ तक। अब किसी का संकल्प तुमने मान लिया, तो जिसका यह संकल्प है, जिसके संकल्प से मनुष्य के व्यक्तित्व का विस्तार हो रहा है, वह संकल्पकर्त्ता कौन है ? कहाँ है ? तो यह तो विज्ञान का विषय नहीं है, खोज करना हो तो दार्शनिक बन जाओ, फिलौसफर बन जाओ। उससे प्रेम करना है तो भक्त बन

जाओ। सब रीजनिंग अर्थात् तर्क-वितर्क को समुद्र में डूबो दो। बिना देखे, बिना जाने परमात्मा को अपना स्वीकार करके उसके मित्र बन जाओ, उसके पुत्र बन जाओ, उसकी माता बन जाओ, उसकी प्रिया बन जाओ, उसके सखा बन जाओ और तब देखो मजा, कि जिसके संकल्प से तुम्हारे व्यक्तित्व का विस्तार हो रहा है, वह संकल्पकर्त्ता कितनी सामर्थ्य रखता है, कितना माधुर्य रखता है, कितना हित-चिंतन करता है। देखो, यह होता है।

इसलिए आज इस प्रातःकाल की बेला में हम सभी भाई-बहिनो को अपने को साधक स्वीकार करना है, यह पहिली मान्यता ले लें और सब विवेक विरोधी मान्यताओं को इस एक ही साधन युक्त मान्यता में विलीन कर दें। साधन युक्त मान्यता क्या है ? ईश्वर-विश्वासियों की दृष्टि से, साधन युक्त मान्यता यह है, कि मेरा दृश्य जगत् में किसी से कोई सम्बन्ध नहीं है। मेरा नित्य सम्बन्ध केवल परमात्मा से है। परमात्मा से आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति के फल-स्वरूप परमात्मा के प्रेम की अभिव्यक्ति होती है और जो परमात्मा आज अपने से बहुत दूर, कहीं छिपा हुआ, बड़ा रहस्यमय मालूम हो रहा है, आप सच मानिए उसके आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति के परिणामस्वरूप वह प्रकट हो जाता है। ऐसा हो सकता है कि हम लोगों में से जितने ईश्वर विश्वासी साधक यहाँ बैठे हैं, शरीर के नाश होने से पहिले उस ईश्वर की अभिव्यक्ति अपने हृदय में पा करके सदा-सदा के लिए कृत-कृत्य हो जाएँ।

(32)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

व्यक्तित्व में जो भौतिक तत्त्व हैं, जिनके आधार पर हमारी एक आकृति बनी हुई होती है, उसमें तो सीमायें होती हैं, परन्तु मनुष्य के जीवन में असीम की माँग भी होती है। अलख-अगोचर अविनाशी की माँग भी होती है। इसलिए मनुष्य एक ऐसी परम सत्ता का आश्रय लेना

पसन्द करता है, जिसमें किसी प्रकार की असमर्थता न हो। मानव सेवा संघ ने यह नहीं कहा कि साधक मात्र को ईश्वर-विश्वासी होना चाहिए। ऐसा नहीं कहा। पहिले भी और अब भी अनेक साधक ऐसे हो गये जिन्होंने सत्य की जिज्ञासा की, जीवन की खोज की, परन्तु ईश्वर को नहीं माना।

मानव सेवा संघ साधक मात्र का हितैषी है। इस दृष्टिकोण से इसके सिद्धान्त में साधक के लिए ईश्वर-विश्वासी होना अनिवार्य नहीं बताया जाता। लेकिन ईश्वर-विश्वास साधकों का एक पंथ है। व्यक्तित्व का एक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है। और इस विश्वास के आधार पर भी वही जीवन मिलता है, जो किसी विचारक को मिलता है। देखा हुआ जगत् सेवा का पात्र है, विश्वास का नहीं। शरीर साधन-सामग्री है, सदा साथ देने वाली नहीं है। तो ऐसा मालूम होता है कि हमारे पास जो विश्वास करने का तत्त्व हैं, मनुष्य का स्वभाव जो है उसमें विश्वास करने की एक मनोवृत्ति रहती है। उसका उपयोग केवल इतना है कि हम जीवन की आवश्यकता को देखकर, संतवाणी, भक्तवाणी, ग्रन्थ के वाक्यों को पढ़कर उस बिना देखे, बिना जाने परमात्मा में विश्वास करें। ईश्वर-विश्वास बड़ा ही महत्त्वपूर्ण है।

मैंने ऐसा पाया है कि यदि कोई मनुष्य किसी वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, पद, योग्यता, सुख-सम्मान की सामग्री चाहता है तो यह आप सभी भाई-बहिनों का अनुभव होगा कि अप्राप्त वस्तु, व्यक्ति अवस्था को चाहने से चाहकाल में व्यक्ति के भीतर एक अभाव उत्पन्न हो जाता है। आप अपने अनुभव को सामने रखकर देखिए। कोई अप्राप्त वस्तु आप चाहते हैं, और मिली नहीं है, तो चाह काल में आप अपने को अभाव में पाते हैं कि पूर्णता में पाते हैं ? अभाव में पाते हैं। क्या बतायें शरीर में ऐसा रोग हो गया है, चिकित्सक ने अमुक प्रकार की दवा बताई है, दवा मिल नहीं रही है तो आपको बेबसी सताती है कि स्वाधीनता मालूम होती है ? बेबसी सताती है। बहुत प्रत्यक्ष बात है इसमें कोई गहन दार्शनिक तथ्य नहीं है। और कोई ग्रन्थ की बात हो, अलौकिक बात हो, सो नहीं है।

हम सभी भाई-बहिनों के जीवन का प्रतिदिन का यह अनुभव है कि हम जो चाहते हैं सो नहीं होता है तो भीतर-भीतर मनुष्य अपने आप में अपने को छोटा देखने लगता है। असमर्थता सताने लगती है, बेबसी सताने लगती है, अभाव सताने लगता है, नीरसता सताने लगती है, ऐसा होता है। लेकिन ऐसी परिस्थिति में सन्तजनों का, भक्तजनों का वाक्य कितना सत्य होता है, कैसा जीवन देने वाला होता है, आप सभी भाई-बहिन इस बात का अनुभव करना चाहें और जिन्होंने किया होगा उनको पता ही है, कि जिस समय व्यक्ति ईश्वर में विश्वास करके ईश्वर की कृपा की आवश्यकता अनुभव करता है, अपने उत्थान के लिए उनकी सहायता की आवश्यकता का अनुभव करता है, तो उसको अभाव और बेबसी, पराधीनता, यह सब नहीं सताती। प्रभु मिलेंगे, कब मिलेंगे किस रूप में मिलेंगे, मिलेंगे तो क्या होगा ? यह तो दूर की बात है, उनकी आवश्यकता अनुभव करने मात्र से जीवन में से अभाव की पीड़ा दूर हो जाती है, ऐसा होता है। कहाँ से बल भर जाता है, कहाँ से रस भर जाता है, कैसे अहम् रूपी अणु में परिवर्तन हो जाता है। इस बात को ईश्वर-विश्वासी नहीं जानता है। उस अलौकिक अनुभव में वह स्वयं ही अपने आप आश्चर्यचकित होता रहता है।

प्रारम्भिक दिनों में जब स्वामीजी महाराज के पास बैठकर अपनी बेबसी मिटाने के लिए मैं बातचीत करने लगी तो शरण्य और शरणागत की चर्चा, विश्वासी और प्रभु की चर्चा, प्रेमी और प्रेमास्पद की चर्चा, मुझको ऐसी लगती थी कि पता नहीं ये बातें कितनी दूर की हैं। पता नहीं किस धातु से कौन सा व्यक्तित्व रचा जाता होगा कि उसमें यह सब प्रकट होता होगा, ऐसा मुझे लगता था। ऐसा लगता था कि ये जो कह रहे हैं सो बिल्कुल ठीक है। लेकिन उसको ग्रहण करने में बड़ी कठिनाई होती थी। स्वभाव से माना ही नहीं जाता था तो आगे चलकर क्या होगा यह बात तो आगे की थी। माना ही नहीं जा रहा है, मुझसे विश्वास किया ही नहीं जा रहा है, इसकी अधिक परेशानी और तकलीफ मुझे थी, लेकिन इतना शंकालु हृदय होने पर भी और

अपने भाग्य से, सृष्टि के विधान से, परमात्मा के विधान से, मुझको इतना क्षोभ था कि सहज भाव से सुनना और स्वीकार करना मेरे लिए बहुत कठिन बात थी।

इन सारी प्रतिकूलताओं के होते हुये भी आज प्रभु की कृपा से, उन्हीं के मंगलमय विधान से, उन्हीं के बनाये हुए मेरे प्यारे साधक भाई-बहिनों को जो उन्हीं के प्रतिरूप हैं, आप सभी साधकों की सेवा में यह निवेदन करने में मुझे बड़ा हर्ष होता है कि मुझको विश्वास करना चाहिए था और मुझ से विश्वास किया नहीं जा रहा था, इसी परेशानी में उन्होंने मुझे अपना विश्वास प्रदान कर दिया। समय-समय पर मैं अपने साथ की साधक-साधिकाओं को और सहज भाव से प्रभु की महिमा स्वीकार करने वाले भावुक हृदय के साधकों को यह निवेदन करती हूँ कि अरे भाई ! मेरी जैसी विद्रोही मनोवृत्ति को, और अनेक प्रकार की शंकाओं से ग्रस्त को भी पीड़ा को, दूर करने के लिए यदि परमात्मा अपनी ओर से अपना विश्वास दे सकता है तो जिसके हृदय में थोड़ी भी कोमलता है, प्रभु की महिमा की स्वीकृति है, उसको तो प्रभु कृपा में किसी प्रकार की शंका करनी नहीं चाहिए। तो अब मुझे कैसा लगता है ? अब मुझे ऐसा लगता है कि वह परमात्मा जिसकी चर्चा है हमारे समाज में जिसकी आवश्यकता है आपके व हमारे जीवन में, वह आपके अत्यन्त निकट है। उसके निकट होने का प्रत्यक्ष अनुभव कब होता है, जिस समय से आप उसमें विश्वास करना पसन्द करें उसी समय से होता है।

मुझे खूब याद है कि जब मैंने संत के मुख से ईश्वर का इतना निकट होना सुना नहीं था, तब तक जीवन की एक छोटी-सी कठिनाई भी मेरे लिए पहाड़ बन कर खड़ी हो जाती थी। ईश्वर तो थे उस समय भी और अनेक अवसरों पर उन्होंने अप्रकट रूप से छिपे-छिपे मेरे जीवन का संचालन भी किया, उसे सँभाला, परन्तु संत की वाणी से बड़े जोरदार शब्दों में यह सुनने को मिला कि अरे भाई, परमात्मा तो जानते ही हैं कि तुम उनके अपने हो। उनमें विस्मृति का दोष नहीं है। उनको तो मालूम ही है कि तुम उनके अपने हो। तुम यदि आवश्यकता

अनुभव करते हो तो मेरे कहने से तुम मान लो कि वे तुम्हारे अपने हैं। तो परमात्मा तो जानते ही हैं। उनकी जानकारी में थोड़े ही कोई कमी होती है। कमी हो जाती है मेरी मान्यता में, कमी हो जाती है मेरी स्वीकृति में, कमी हो जाती है मेरे गुणों के अभिमान से बढ़ी हुई जड़ता के कारण। यह गुणों का, व्यक्तित्व की विशेषताओं का, जो अभिमान है वह सत्य से हमें दूर कर देता है।

जहाँ व्यक्ति अपने को भगवद् समर्पित करता है, उनके होकर रहना पसन्द करता है, उनके विधान को मानकर चलना पसन्द करता है और असमर्थताकाल में उनकी कृपा की सहायता की आवश्यकता का अनुभव करता है तभी आप देखिये कि दूसरा कोई साधन, कोई जप-तप, कोई कठिनाई भुगतना आवश्यक नहीं रहता, सिवाय इसके, कि आप उसमें विश्वास करें और उसकी आवश्यकता अनुभव करें। तो भीतर में आवश्यकता अनुभव हुई नहीं कि आपके अन्तर में ही उसका प्रकाश, उसकी अभिव्यक्ति आरम्भ हो जाती है। और महाराजजी ने ईश्वर-विश्वासी साधकों को एक और बड़ी आवश्यक सलाह यह दी कि देखो भाई, ईश्वर का मिलन किस रूप में होगा, उस रूप की तुम अपनी ओर से कल्पना मत करो, यह भी एक बड़ी जरूरी बात है।

आपने ईश्वर में विश्वास किया और आप ईश्वर के शरणागत होकर रहते हैं। आप उनसे मिलना चाहते हैं तो अपनी रुचि, अपनी कल्पना को प्रधानता मत दीजिए। यह सोचकर मत बैठिये कि मैंने ईश्वर में विश्वास किया है तो ईश्वर को अमुक-अमुक प्रकार का रूप बनाकर मेरे सामने आकर खड़ा होना ही चाहिए, ऐसा मत सोचिए। इसमें घाटा लग जायेगा। दूसरी बात क्या बताई कि आपके विश्वास और आपकी साधना की यह कसौटी नहीं हैं कि जिस परमात्मा की रूपमाधुरी का वर्णन सुनकर, पढ़कर आपने उनसे नाता, रिश्ता जोड़ा तो जब आप ध्यान करें उनका, तो वे आपके मनचाहे वेश में आपके सामने खड़े हो जाएँ। ईश्वर-विश्वास की यह कसौटी नहीं है, भक्ति का यह प्रमाण नहीं है कि मैं जैसा सोचूँ वैसे ही बन करके वे आकर के खड़े हो जाएँ।

बड़ा गहरा रहस्य ईश्वर-विश्वास और ईश्वर-भक्ति के बारे में महाराजजी ने यह बताया कि अपनी रुचि को लेकर के कोई प्रभु का प्रेमी नहीं हो सकता। रुचि क्या हैं ? रूप-माधुरी के दर्शन का लालच भी रुचि का रूप धारण कर लेगा। सर्वहितकारी परमात्मा को मालूम है कि आपके साथ कैसा व्यवहार करने से आपका विकास होगा। क्या अपने अन्तस्थल की सब कथा हम लोग जानमे हैं ? जी ? नहीं जानते हैं। और इसको तो मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से भी देखा गया है कि मनुष्य के मस्तिष्क में कितनी इच्छायें, कितने पुरातन संस्कार, कितने प्रकार के राग जमा पड़े हैं।

एक तो चेतन स्तर है, जिस पर वर्तमान में कुछ-कुछ विचार और रुचि, इच्छा और संकल्प, ये सब सामने रहते हैं, जिनको कि हम लोग जानते है। परन्तु उसकी अपेक्षा बहुत अधिक बातें हैं, आपके व्यक्तित्व की, जो आपके गहरे अन्तर्मन में, "अनकौन्शश में", छिपी हुई हैं, उनका आपको पता ही नहीं है। उदाहरण देने वाले, इस विषय पर खोज करने वाले, मनोविज्ञान वेत्ताओं ने यह बताया है कि जैसे समुद्र में बर्फ का पहाड़ तैरता है जो "आइस-बर्ग" कहलाता है, बड़ी दूर से कोई जहाज चलाने वाला जहाज लेकर आ रहा है, सो उस आइस-बर्ग का जो छोटा-सा नुकीला हिस्सा ऊपर दिखाई देता है, उसी को देखकर अगर वह यह समझ ले के इतनी-सी चीज से ऊपर-ऊपर बचकर निकल जाना है, तो जितना हिस्सा आइस-बर्ग का पानी ऊपर दिखाई देता है उसका आठ गुना बड़ा विशाल हिस्सा जल के भीतर दबा हुआ रहता है, अगर ऊपरी भाग से ही बचकर निकलने की कोशिश की जावे तो पानी के भीतर जो छिपा हुआ विशाल भाग है वह जहाज को चकनाचूर कर देता है। ऐसे ही मनुष्य को "कौन्शश लेविल" पर अर्थात् चेतनस्तर पर जितनी बातें मालूम होती हैं, वे तो उसके मानसिक जीवन का केवल १/८ भाग हैं और ७/८ भाग उस अन्तराल में छिपा हुआ है, जिसके बारे में अपने ही को पता नहीं है कि हमारे भीतर क्या-क्या है। तो ऐसी दशा है। हम सब लोग अपने बारे में पूरी बात नहीं जानते लेकिन परमात्मा सर्वज्ञ है।

अब हम लोग विश्वासी बनकर बात कर रहे हैं तो अब बुद्धि मत लगाइये, क्यों कि परमात्मा कारण हैं, मैं कार्य हूँ। तो कार्य को कारण का पूरा पता नहीं हो सकता है। इसलिए मान ही लेना पड़ेगा और यह मानने का ही पंथ है, शुद्ध विश्वास का मार्ग है, कि वह हम लोगों को हमसे अधिक अच्छी तरह जानता है कि उनके मेरे साथ क्या करने से मेरा पूरा विकास होगा। आपने तो अपनी ओर से एक कल्पना करके रख ली कि मैं तो ईश्वर का विश्वासी हूँ और मैंने तो परमात्मा से प्रार्थना की है तो मैं भक्त हो गया। अब परमात्मा मुझको दर्शन दे जाये, मुझसे बातें कर जाये, मुझको कह जाये कि हाँ मैंने तुम्हारा नाम अपने भक्तों की सूची में लिख लिया है, अगर ऐसा सोच करके आप बैठ जायेंगे और उसने देखा कि अभी आपको दर्शन देना ठीक नहीं है और उन्होंने देर लगायी तो आपको अपनी साधना में सन्देह हो जायेगा। कितनी बड़ी बात है। साधना में ही सन्देह हो जायेगा। सोचने लगेंगे कि अच्छा, इतने दिन तो हो गये और परमात्मा ने मुझको दर्शन नहीं दिये। मालूम होता है कि मेरी साधना ठीक नहीं है। तो महाराजजी ने ऐसा करने से मना किया है। अपनी ओर से कोई कल्पना मत करो, अपनी ओर से कोई चित्र मत बनाओ, अपनी ओर से कोई कसौटी मत बनाओ। तुम्हारा काम है विश्वास करना, तुम्हारा काम है अपने को सब प्रकार से उस पर समर्पित करके छोड़ देना। तो आप सच मानिये कि आपके जिस विश्वास के बल पर आपके अहं रूपी अणु में ही छिपा हुआ, परमात्म तत्त्व अपनी विभूतियों को विकसित करने लगता है, उस विश्वास में तर्क लगाना, सन्देह करना बड़ी भारी भूल है।

मैंने जब बहुत तीन-पाँच लगाई तो स्वामीजी महाराज ने कहा कि देखो भाई, अगर बुद्धि का पल्ला तुम नहीं छोड़ सकते हो तो कितनी बुद्धिमानी है तुम्हारे पास ? सब प्रकट करो मेरे सामने, और मैं तुम्हें बुद्धि के उपयोग का एक क्षेत्र बता देता हूँ। जितनी बुद्धिमानी है तुम्हारे पास, सब उसमें खर्च कर देना। परमात्म तत्व में, उनकी महिमा में, उनकी कृपालुता और करुणा में, बुद्धि कभी मत लगाना। बुद्धि अगर न रुके तो उसको लगा देना तुम शरीर के स्वरूप का विवेचन

करने में, संसार के स्वरूप पर विचार करने में, इनमें बुद्धि लगा दो। क्यों ? देखिए, स्वामीजी महाराज ने कैसा अकाट्य तर्क दिया है। जिसके बारे में हम कुछ जानते हैं, कुछ नहीं जानते हैं, उसी पर रिसर्च चलता है। थोड़ा मालूम है, थोड़ा नहीं मालूम है, उसी की खोज की जाती है, उसी पर तर्क लगाया जाता है, उसी पर एक्सपैरीमेन्ट किया जाता है। तो थोड़ा जानते हो, थोड़ा नहीं जानते हो, वही तुम्हारी बुद्धि का क्षेत्र है। जिसके बारे में कुछ नहीं जानते हो, "स्टार्टिंग पाइन्ट" है ही नहीं, उसमें तर्क क्या लगाओगे ! जरूरत मालूम होती है तुम्हें तो उसमें विश्वास कर लो और जरूरत नहीं मालूम होती है तो बात ही छोड़ दो।

आज हम लोगों की दशा क्या है ? दशा यह है कि न तो छोड़ते ही हैं और न मानते ही हैं। हम सभी भाई-बहिन, जो परमात्मा में विश्वास करने बैठे हैं, तो विश्वास में जो भी कुछ बाधा हो उसको दूर कर देना चाहिए। तो भक्ति का अर्थ स्वामीजी महाराज ने क्या बताया। भक्ति का अर्थ यह नहीं बताया कि मेरी जो-जो कामनायें संसार की सहायता से पूरी नहीं हुई, ईश्वर विश्वास से पूरी हो जायें। यह भक्ति का अर्थ नहीं बताया। भक्ति का अर्थ यह बताया, कि परमात्मा को कैसे आनन्द मिले, परमात्मा को कैसे रस मिले, परमात्मा को कैसे प्यार का मिठास मिले, इस बात का चाव जिसमें है, वह भगवद्भक्त है।

बड़ी ऊँची बात है, और मानव जीवन के लिए बड़े गौरव की बात है। यह उसी की महिमा है, यह परमात्मा की ही मौज है कि उन्होंने सारी सृष्टि बनाई आपके लिए और अपने ही अंश से आपको प्रकट किया अपने प्रेम के रस के सम्पादन के लिए। बड़ी ऊँची बात है। आप सोच करके देखिए, इस दृष्टि से आपके व्यक्तित्व का कितना महत्त्व है। रसस्वरूप परमात्मा आपके हृदय के प्रेम-भाव का पान करने के लिए लालायित रहता है। रसस्वरूप परमात्मा अव्यक्त भी है, सर्वज्ञ भी है, सर्व-समर्थ भी है और उसने अपने ही संकल्प से आपकी रचना की और अपनी ही मौज से अपने इस विधान में बँध गया। किस विधान

में, कि मेरा प्यारा-प्यारा मानव, मेरे प्यारे-प्यारे बच्चे, यदि मेरे प्रेमी होना पसन्द करेंगे तो मैं उनका प्रेमी हो जाऊँगा।

अब कहा क्या जाये ? सामर्थ्यवान की मौज है। इस परम-मधुर संकल्प से उन्होंने हम लोगों की रचना की और आप सोचिये कि जब मनुष्य के व्यक्तित्त्व में परमात्मा के प्रेमरस का प्रादुर्भाव हो जाता है, तो उस भक्त के माध्यम से परमात्मा के मधुर होने का जितना प्रत्यक्ष अनुभव संसार को होता है उतना सर्वव्यापी परमात्मा की सर्वत्र उपस्थिति से तो नहीं हो रहा है। जी ! अत्यन्त सूक्ष्म, अत्यन्त गुह्य, अत्यन्त रहस्यमय, अत्यन्त रसमय परमात्मा इस समय भी, समग्र विश्व में और विश्व से भी परे विद्यमान है कि नहीं ? है। लेकिन परमात्मा के मिठास का अनुभव स्वामीजी महाराज के पास बैठकर जैसा हुआ वैसा अदृश्य परमात्मा के प्रेम का अनुभव कभी हुआ था क्या ? जी ? (श्रोता-नहीं हुआ)और परमात्मा के प्रेम से जिन सन्तों का हृदय तर हो जाता है, उनके प्रेम का प्रवाह जिन सन्तों के हृदय में बहने लगता है, वे जब कहते है, कि परमात्मा बड़ा प्रेमी है, बड़ा कृपालु है, तो उनके कहने से व्यक्तियों पर जितना प्रभाव होता हे, उतना परमात्मा की सर्वव्यापकता बताई जाने से तो नहीं होता। तो आपकी रचना इसलिए नहीं हुई है कि सत्य की चर्चा करते रहें, ईश्वर विश्वास की बातें करते रहें और मलमूत्र की थैली में विश्वास करके रोग में, बुढ़ापें में, असमर्थता में, कलप-कलप कर मर जायें।

इस बात के लिए आप नहीं बनाये गये कि 'तुम्हीं हो माता, पिता तुम्हीं हो' ऐसे गीत गाते रहें और बैंक के एकाउन्ट के भरोसे हृदय में धन के लोभ की कठोर जड़ता को भरकर, परमात्मा के मधुर प्रेम से वंचित रहते हुए मर जायें, इसके लिए आप नहीं बनाये गये। आप इसलिए बनाये गये हैं कि वह अव्यक्त परमात्मा अपने प्रेम के मधुर रस को आपके द्वारा, आपके माध्यम से, इस जगत् में प्रकट करके, भवताप से तपने वाले प्राणियों को आनन्दित करे। इसके लिए आप बनाये गये हैं। उस सत्य-संकल्प का संकल्प हमारे जीवन को दिन-रात प्रेरित कर रहा है। प्रेम का अथाह सागर लहरा रहा है और मेरे प्यारे ! तुम प्यासे-

प्यासे दुनिया में फिर रहे हो। हमारी नालायकी से परमात्मा नाराज नहीं होता, हमारे भटक जाने से जैसे दुनियावी माता-पिता नाराज होते हैं। आप लोगों को इस बात का अनुभव है, कि जब बाल-बच्चे कहना न मानें तो खीझ करके कहते हैं कि जाओ जहाँ जाना हो जाओ, जो करना हो सो करो, जो भोगना है सो भोगो, लेकिन वह जगज्जननी, परम करुणामयी माँ, वह जगत्-पिता, समर्थ पिता, अनन्त माधुर्यवान, हम जैसे भटकते हुए बालकों पर विशेष दृष्टि रखता हैं। अरे यह बच्चा मेरा, कूद करके, लोभ, मोह, काम, क्रोध की अग्नि में न पड़ जाये, जल न जाये, उसको बचाने के लिये वह विशेष कृपा दृष्टि रखता है।

स्वामीजी महाराज ने यही तो बारम्बार कहा- ईंट-पत्थर जोड़ करके बड़े-बड़े भवन बना लेने से मानव सेवा संघ की सफलता नहीं है। बड़े-बड़े आश्रम बना लेना, बड़ी-बड़ी प्रवृत्तियाँ चला लेना, मानव सेवा संघ का उद्देश्य नहीं है। प्रवृत्तियों के छोटे-छोटे नमूने, जैसे बाल-मन्दिर जिसमें छोटे-छोटे बच्चे साधकों की गोद में पल जायें। पूरी शक्ति लगाकर मानव-जीवन के लिए उपयोगी गौओं की सेवा कर दो। मानव-जीवन के लिए उपयोगी वृक्षों की सेवा कर दो। मानव-जीवन के लिए उपयोगी आश्रमों की सेवा कर दो। तो छोटी-छोटी प्रवृत्तियाँ नमूने के रूप में उन्होंने बनायीं। मानव सेवा संघ का उद्देश्य कभी नहीं है, कि बड़ी विस्तृत प्रवृत्तियों में सब साधकों को फँसा दिया जाये, बड़े-बड़े आश्रम, बड़े-बड़े भवन, बड़े-बड़े अस्पताल, विद्यालय बनाकर खड़े कर दिये जायें। मानव सेवा संघ का यह उद्देश्य नहीं है।

मानव सेवा संघ का उद्देश्य क्या है, कि मानव अपने जीवन की इस महिमा को स्वीकार करे कि उस अनन्त परमात्मा ने अपना ही प्रतिरूप देकर आपको इसलिये बनाया कि वह अलौकिक प्रेम का रस आपके हृदय के द्वारा प्रवाहित होकर संसार के ताप का नाश कर दे। आपके व्यक्तित्व के सम्पर्क से अनेक व्यक्तियों के जीवन में चेतना की ज्योति जग जाये। हम सभी स्वामीजी महाराज के पाले हुए बच्चे हैं, और हम लोगों को उन्होंने मानव सेवा संघ के सेवक और कार्यकर्त्ता होने का गौरव दिया है। यह मेरा अधिकार नहीं है, यह मेरी योग्यता

और विशेषता नहीं है, यह तो संत का दिया हुआ गौरव है। उन्होंने अनेक प्रकार की कमजोरियों से भरे हुए मिट्टी के पुतले में प्राण फूँकने की तरह, कितनी बार इस बात को प्रकट किया कि "तुम लोगों की हैसियत क्या मैं जानता नहीं हूँ ?" मैं खूब जानता हूँ, लेकिन जिस-जिसने किसी अंश में भी भगवत्-मिलन की आकांक्षा प्रकट की, साधक होने की अभिलाषा प्रकट की, संघ के प्रति अपना प्रेमभाव प्रकट किया, किसी अंश में, तो उसकी सब दुर्बलताओं, सब कमजोरियों पर पर्दा डाल करके, थोड़ी-थोड़ी सी चेतना, थोड़ी-थोड़ी सी सद्भावना के आधार पर, हम लोगों को इकट्ठा करके संघ के प्रेमी और संघ के कार्यकर्त्ता का गौरव प्रदान किया है। हम लोगों की योग्यता और हम लोगों की विशेषता को उन्होंने सामने नहीं रखा। और इसी आधार पर उन्होंने मुझसे बारम्बार कहा- मुझको जब कर्तृत्व का अभिमान कहें, या भास कहें, या चरित्र का भास कहें, कुछ लगता, तो स्वामीजी महाराज ने बार-बार मुझको चेतावनी दी, देवकी जी ! - परमात्मा तुम्हारी योग्यता, तुम्हारी विशेषता से रीझेगा, ऐसा मत सोचना। परमात्मा किस बात से रीझता है ? केवल तुम्हारे हृदय के प्यार से। तो आप सोचिये कि आपके जीवन की कितनी महिमा है। अगर आप ईश्वरीय प्रेम को प्रकट करने के लिए अपने हृदय को खोलकर परमात्मा के सामने छोड़ देते हैं तो आपका जीवन परमात्मा के लिए भी मूल्यवान हो जायेगा, क्योंकि प्रेम करने वाले साधक पर परमात्मा अपने को न्योछावर करता है। उसके लिये भी मूल्यवान हो जायेगा और आपके हृदय के प्रेम की कोमलता संसार के पीड़ित जनों के लिए भी बहुत उपयोगी हो जायेगी। यदि आप अपने जीवन की इस महिमा को स्वीकार कर लें तो मानव सेवा संघ सार्थक हो गया।

आप आजीवन सदस्य बन गये, आप साधारण सदस्य बन गये, आप स्थायी साधक बन गये, बड़ी अच्छी बात है कि आपने इन सब साधन रूप मान्यताओं को स्वीकार किया। परन्तु जो व्यक्ति स्थायी साधक भी नहीं बना है, साधारण सदस्य भी नहीं बना है, आजीवन सदस्य भी नहीं बना है, आजीवन कार्यकर्त्ता भी नहीं बना है, लेकिन

यदि उसने भगवत् प्रेम के महत्त्व को स्वीकार कर लिया तो वह भी इतना ही प्रिय है संघ को, जितना उसका कोई भी कार्यकर्त्ता। साधक की दृष्टि से आप में चेतना जग गई, मानव होने के नाते आपके हृदय में परम प्रेमास्पद का प्रेम आ गया, तो यह मानव सेवा संघ की सफलता है, यह व्यक्ति के निर्माण के कार्यक्रम की सफलता है।

इस दृष्टि से यहाँ उपस्थित हुए भाई-बहिन मुझको अत्यन्त प्रिय लग रहे हैं, मैं उनके प्रति अत्यन्त कृतज्ञ हो रही हूँ, मुझको इतना अच्छा लग रहा है, इतना अच्छा लग रहा है, कि सचमुच स्वामीजी महाराज के मिशन को, हम लोगों ने सच्चे अर्थ में ग्रहण किया कि विभिन्न प्रकार की मनोरंजक प्रवृत्तियों को स्थान न देकर, अपने ही अन्तर में सदा-सदा के लिए मग्न, सत्य तत्त्व को अभिव्यक्त करने के लिए शान्तिपूर्वक बैठकर जीवन के सत्य पर विचार कर रहे हैं। तो इस आयोजन का बहुत बड़ा लाभ मैं इस बात में मानती हूँ कि हम लोगों मे से प्रत्येक भाई-बहिन अपने जीवन की इस महिमा को स्वीकार करें, कि सचमुच धरती पर एक आकार वाली, मल-मूत्र की थैली और हाड़-माँस की बनी हुई इस आकृति को लेकर, इस धरती पर विचरण करने वाले भाई-बहिनों में परमात्मा के प्रेम रस का संचार हो जाये, तो मानव सेवा संघ की रजत जयन्ती सफल हो गई।

(33)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

मानव-जीवन की व्याख्या करने से ऐसा परिचय मिलता है कि इस जीवन में कुछ कार्य करने की क्षमता है, कुछ विचार करने की शक्ति है और श्रद्धा-विश्वास का भी तत्त्व है। सम्पूर्ण जीवन को साधनमय बनाने पर एक विशेषता आती है मनुष्य में। वह विशेषता क्या है कि शरीर के रहते-रहते अशरीरी जीवन के आनन्द में वह

इतना मस्त रहने लगता है कि नाशवान शरीर के रहने का और न रहने का कोई विशेष अर्थ उसके लिए नहीं रह जाता। है तो ठीक है और नहीं है तो ठीक है। कब है और कब चला गया। कब स्वाँस चल रही है और कब बन्द हो गई। उसका भी उन पर कोई प्रभाव नहीं होता, इतने आनन्द में वे रहते हैं। उसी अशरीरी जीवन की अभिव्यक्ति के लिए हम सभी-बहिन प्रयत्नशील हैं। हम सब लोग यही चाहते हैं।

शरीर का बन जाना, बदल जाना, बिगड़ जाना, मिट जाना, यह हमारी आपकी अपनी जानी हुई बात है। इस बात की जानकारी का हम लोगों ने लाभ उठाया और यह सोचा कि शरीरों का जैसा स्वभाव है वैसा ही होगा। तो उससे आगे जो है, जो मिटता नहीं है, जिसमें अभाव नहीं है, जिसमें किसी प्रकार का दुःख नहीं है, ऐसा जीवन हम सब भाई-बहिनों को चाहिये। उसी दिशा में हम लोग लगे हुए हैं। उसी के लिये सत्संग का कार्यक्रम है। उसी के लिये सब साधन-सामग्री है और उसी का अवसर है यह मानव-जीवन। उस अवसर का लाभ हम लोग उठावें। कहाँ से आरम्भ करें- सबसे पहले स्थूल स्तर की बात ले ली जाये।

शरीर को लेकर सामाजिक सम्पर्क में हम रहते हैं, तो अनुभवी जनों की यह सलाह है कि जिस जन-समूदाय के बीच में हम रहते हैं, हमेशा उनसे किसी न किसी प्रकार का सहयोग लेना पसन्द करेंगे तो अशरीरी जीवन तक पहुँचने की सामर्थ्य अपने में नही रहेगी। लेने की भावना जब तक अपने भीतर बनी रहेगी, शरीर और संसार की पराधीनता से मुक्त होने की सामर्थ्य नहीं आयेंगी, चाहे कितना भी संसार की नश्वरता का विवेचन कर लो, कितना भी संसार की निन्दा कर लो और कितनी भी परमात्मा की स्तुति और महिमा गा लो। वे महामहिम हैं, वे करुणासागर हैं, वे जगत्पिता हैं, वे जगत्माता हैं, तो उनकी महिमा गाने से उनसे मिलना-जुलना हो जाता हो ऐसा नहीं होता और संसार की निन्दा करने से संसार से पिण्ड छूट जाता हो, सो नहीं छूटता। समझ में आता है ? साधना आरम्भ कहाँ से हुई ?

साधना आरम्भ हुई यहाँ से, कि जिस समाज में, जिस परिवार में, जिन व्यक्तियों के बीच में हम रहते हैं, उनसे लेन-देन का व्यवहार करते हुए न जाने कितने जन्म बिता लिये। कुछ दिया, कुछ लिया। अब आप सोचिए कि जब पैदा हुए थे तब समाज को कुछ देने के लायक थे ? नहीं थे। तो लेना ही लेना था। और फिर जब असमर्थता की घड़ी आ जायेगी, वृद्ध हो जायेगा शरीर, तब देने के लायक रहेंगे ? नहीं रहेंगे। २/३ हिस्सा तो असमर्थता का हो गया। जी ! अब १/३ भाग बचता है। बीच में जब शक्तियों का विकास होता है, शरीर में कुछ बल आता है, इन्द्रियाँ कुछ सशक्त होती हैं, बुद्धि कुछ काम करने लायक हाती है, उस समय भी यदि हम पद के आधार पर, बल के आधार पर, चतुराई-चालाकी के आधार पर, व्यवहार-कुशलता के आधार पर, जहाँ से जो कुछ मिले, लेने का ही दृष्टिकोण रखेंगे तो पराधीनता से मुक्ति कभी नहीं मिलेगी। तो साधना आरम्भ कहाँ से हुई ? हाथ-पाँव मोड़ने से, लम्बी-गहरी स्वाँस की क्रिया से साधना आरम्भ नहीं हुई। साधना आरम्भ यहाँ से हुई कि जिस शरीर और समाज के सहयोग से अब तक हम सुख के भोगी बने हुए थे उस शरीर और समाज की सेवा आरम्भ करो अर्थात् लेना बन्द करके देने का दृष्टिकोण बनाओ। यह भौतिक-दर्शन का सिद्धान्त है।

भौतिकवाद एक दर्शन है। भौतिकता मनुष्य के जीवन का दूषण नहीं है। दार्शनिक सत्य तो यहीं है कि सत्ता एक ही की है, उससे भिन्न जब और किसी की सत्ता ही नहीं है तो यह हमारी आँखों के सामने दृश्य-जगत दिखाई दे रहा है और जब तक हमारा शरीर और संसार से सम्बन्ध बना हुआ है तब तक इसकी सत्ता को इन्कार करने से कैसे बनेगा ? उस एक अव्यक्त ने अपने को इस व्यक्त जगत् में प्रकट किया है, तो यह व्यक्त जगत् बुरा भी नहीं है, निन्दनीय भी नहीं है, इसका दोष भी नहीं है, यह हम लोगों को दुःख देने वाला भी नहीं है, ऐसा मानना चाहिए।

घरबारी सामाजिक व्यक्तित्त्व वाले और बाल-बच्चेदार लोगों की साधना आरम्भ हो गई। कैसे ? कि घर के भीतर से लेकर के जगत्

में आपका जहाँ तक सम्पर्क है वहाँ तक- किसी को नुकसान नहीं पहुँचाना पहली बात, जिसके प्रति जो अपना कर्त्तव्य हैं, उसे पूरा करना दूसरी बात, दूसरों के कर्त्तव्य पर ध्यान न देना तीसरी बात, दूसरों पर अपना अधिकार न जमाना चौथी बात। ये सब बातें कर्म के क्षेत्र में साधना के रूप में हमारे व्यक्तित्त्व को प्रभावित करने वाली होती हैं। अब आप हिन्दू हैं कि मुसलमान हैं कि सिख, जैन, बौद्ध, पारसी किस मत के मानने वाले हैं और किस मजहब में आपकी पसन्दगी है, विश्वास है, मानव सेवा संघ किसी की व्यक्तिगत बातों में कोई हस्तक्षेप नहीं करता। किसी मजहब के मानने वाले हों आप, किसी सम्प्रदाय में दीक्षित हुए हों, कोई क्षति नहीं हो सकती, कुछ नुकसान नहीं हो सकता। सब का भला हो सकता है। किस आधार पर ? कि जीवन का जो भौतिक दर्शन है आप उसके अनुसार अपने कर्म के क्षेत्र को सँभाल लीजिये। सबके लिए समान रूप से सत्य है कि बुराई करना बन्द कर दो। भलाई करो, यथाशक्ति, यथासम्भव जैसी परिस्थिति बने। इतना तो हो गया व्यवहार जगत् का साधन।

अब इसके आगे अपना अलौकिक जीवन भी है, उसकी भी आवश्यकता हम अनुभव करते हैं, जिसके कारण यह सत्संग भवन बना और जिसके कारण हम आप, यहाँ आकर मिलते हैं, उस अलौकिक जीवन की आवश्यकता की पूर्ति के लिये आगे अब क्या होगा ? तो बुराई रहित होकर भलाई करना और की हुई भलाई के बदले में अपने लिये किसी से कुछ न चाहना और भलाई करने में जो सामग्री लगाई जा रही है उस सामग्री को लगाने का अभिमान न रखना। बुराई रहित हो जायेंगे तो समाज के प्रति आपका केवल सद्व्यवहार शेष रहेगा, नुकसान कुछ नहीं होगा। यथासम्भव, यथाशक्ति निकटवर्ती जनों की सेवा कर डालेंगे तो सेवा की सामग्री का सदुपयोग हो जायेगा और सेवा-कार्य सम्पन्न होने के बाद आप की हुई भलाई के फल और अभिमान को छोड़कर शान्त हो जायेंगे तो शरीरों से असंग होने की [illegible]

हो जाना और शरीरों से तादात्मय तोड़ना। तो तादात्म्य और असंगता, ये दोनों ही शब्द अनुभव करने लायक हैं।

सच्ची बात यह है कि जिसको "मैं" कहकर हम लोग सम्बोधित करते हैं वह 'मैं' एक जीता-जागता अस्तित्त्व है और दिखाई देने वाली इस आकृति (स्थूल शरीर) के भीतर कहीं पर वह 'मैं' कैद नहीं है। बड़ी विचित्र बात है, सुख-दुःख के भोगने का दृष्टिकोण लेकर जिसने शरीर और संसार की ओर दृष्टिपात किया उसको अपने स्वतन्त्र अस्तित्त्व का कोई परिचय नहीं मिलता है। लेकिन सच्ची बात है, बिल्कुल सवा सोलह आने सच्ची बात है कि जिस तत्त्व को 'मैं' कहकर हम लोग सम्बोधित करते हैं वह 'मैं', वह अलौकिक तत्त्व से रचा हुआ एक छोटा-सा यूनिट अर्थात् इकाई इस आकृति के भीतर कहीं नहीं है। इसमें वह कैद नहीं है। इसके साथ हमारा घुला-मिला हुआ सम्बन्ध कैसे हो गया कि इसके बाहर मेरे स्वतन्त्र अस्तित्त्व का कोई भास ही नहीं होता है। इस बीमारी का पता लगाया मैंने तो मुझे पता लगा कि चेतना की ओर से आँखे बन्द करके, जड़ता के स्तर पर उतर कर, मुख के द्वारा, रसना के द्वारा, स्वादिष्ट वस्तु खाने का लालच जब तक मेरे भीतर है, स्वाद की वासना, जब तक मेरे भीतर हैं, उस वासना के कारण उस अलौकिक 'मैं' का इस लौकिक आकार से ऐसा घुला-मिला तादात्म्य हो जाता है, अर्थात् हम लोग अपने को उससे इतना Identify कर लेते हैं, कि इससे अलग भी मेरा कोई अस्तित्त्व है इसका कुछ पता नहीं चलता।

लेकिन जो साधक अपने को बुराई रहित बनाकर कुटुम्ब, परिवार और समाज के साथ, हितकारी कार्य करता है, और कार्य पूरा होने के बाद, अकेले में शान्त हो जाता हे, और की हुई भलाई के बदले में भी जिसको न तो कुछ लौकिक लाभ चाहिए और न कर्तापन का अभिमान चाहिए, इन दोनों बातों को जो छोड़ देता है उसे शान्ति मिलती है। और उस शान्ति में इतनी सामर्थ्य है कि इस आकृति के विद्यमान होते हुए भी अपने स्वतन्त्र अस्तित्त्व का अनुभव हो जाता है। और जैसे अन्य मूर्तियों को हम बैठा हुआ देखते हैं, ऐसे ही इसको भी

इस जगह बैठा हुआ अपने द्वारा वह देखता है। यह कब होता हैं ? शरीरों से असंगता में होता है। शरीरों से तादात्म्य टूटने पर होता है। और तादात्म्य अथवा उसमें मेरी आसक्ति और उसमें अपने को बिल्कुल घुला-मिला लेना, यह दोष मुझमें कब तक है, जक तक मैं शरीरों की सहायता में संसार मे कुछ करना पसन्द करता हूँ। बुराई करने की बात तो छोड़ ही दो, वह तो मनुष्य के जीवन में होनी ही नहीं चाहिए, किसी भी कारण से नहीं होनी चाहिए। बुराई का प्रश्न ही नहीं है। भलाई के रूप में कुछ अच्छा काम करने में भी एक रस होता है। भला कहलाने का भी एक मज़ा होता है। संसार को सहयोग देने के बदले में सुख-सुविधायें मिलने लगती है उनका भी एक सुख होता है।

शरीर के माध्यम से संसार की भली बातों को भी पसन्द करने लग जाओ तो शरीर और समाज की पराधीनता अपने भीतर से निकल नहीं सकती। वक्ता को जब श्रोता की याद आने लग जाये तो समझो कि उस साधक का सर्वनाश हो गया। जी ! हो गया न ! सत्य का विवेचन करने क्यों बैठी हूँ मैं। मेरा बोलना और आपका सुनना, दोनों ही प्रवृत्तियाँ साधनरूपा हैं। बोलने मैं इसलिये बैठी हूँ कि सत्य की जो चर्चा मैं खुद अपने को समझाना चाहती हूँ, अपने साथ अन्य भाई-बहिनों के लिए भी वही बात बन जावे। जैसे- बोल करके मुझे उस सत्य का अनुभव करना है अपने लिये। मैं बोल रहीं हूँ कौन-सी बात ? कि हम लोगों को शरीर और संसार की पराधीनता का नाश करना है।

मेरा अपना अस्तित्त्व जो है, जिसको 'मैं' कहकर हम लोग सम्बोधित कर रहे हैं, वह अलौकिक तत्त्वों का रचा हुआ उस असीम अलौकिक तत्त्व से अभिन्न हो जाये, इसके लिये चेष्टा करने हम चले हैं। पराधीनता के नाश की चर्चा करने के लिये अगर मुझे श्रोता की पराधीनता स्वीकार करनी पड़ी तो मेरा विकास हुआ कि ह्रास हुआ ? ह्रास हुआ न ! तो इतनी सावधानी अपने को रखनी है। मैं कोई गलत काम तो नहीं कर रहीं हूँ। अच्छा काम कर रही हूँ। आप सब बड़े प्रसन्न हैं। बड़ा सहयोग दे रहे हैं। फिर भी अच्छा काम करते हुए भी करने

का उद्देश्य मेरी दृष्टि में रहना चाहिए। अच्छा काम करने का उद्देश्य क्या है ? बुराई करना छोड़ दोगे तो बुराई से भीतर जो विकार पैदा होते हैं उन विकारों का पैदा होना बन्द हो जायेगा और भलाई करने लग जाओगे तो भलाई करने के लिए जो सामर्थ्य जीवनदाता ने दी है उस सामर्थ्य का सदुपयोग हो जायेगा। यहाँ तक तो ठीक है। भलाई करने के बदले में अपने लिए कुछ नहीं पसन्द करोगे और भलाई करने का अभिमान नहीं रखोगे तो शरीर और समाज से जो एक लगाव बना हुआ है वह लगाव छूट जायेगा। उस समय एकान्त में जब आप अलौकिक जीवन के अनुभव के लिए बैठेंगे तो शरीर और समाज का चिन्तन आपको बाधा नहीं पहुँचायेगा। इस दिशा में अपने को आगे बढ़ना है।

अब जो बात महाराजजी की वाणी में हम लोगों को मिली, उस पर मैं आ रहीं हूँ- वह कौन सी बात है ? परमात्मा ने किसी को पराधीन नहीं बनाया। कर्म-सामग्री दे दी, तो उस कर्म-सामग्री को लेकर हम संसार में सुखपूर्वक रहना पसन्द करेंगे, परिश्रमपूर्वक उपार्जन करेंगे, तो शरीरों की सुविधा के लिए सामान मिल जायेगा, और उपार्जित सामग्री को उदारता पूर्वक बाँटेंगे तो समाज की सेवा बन जायेगी। विवेक के प्रकाश में देख करके अपने अलौकिक जीवन पर दृष्टि रखकर, की हुई भलाई के फल और अभिमान को छोड़ देंगे तो शरीर और समाज की पराधीनता मिट जायेगी। फिर सही प्रवृत्ति के बाद सहज निवृत्ति की शान्ति में निवास करेंगे तो शरीरों से तादात्म्य टूट जायेगा। अपने स्वतन्त्र अस्तित्त्व का अपने को पक्का अनुभव मिल जायेगा। फिर तो मृत्यु का डर नहीं। फिर किसी प्रकार का अभाव नहीं। किसी प्रकार की पराधीनता नहीं। शरीरों के लिए समाज से, सुविधा पाने का प्रश्न भी हल हो गया और शरीर के रहते-रहते अशरीरी आनन्द का अनुभव भी हो गया। किस आधार पर हो गया? क्रियाशक्ति और विचारशक्ति के आधार पर। इतना हो गया। संसार में रहना हो गया कुशलता से, और संसार से मुक्ति भी हो गई।

एक और तत्त्व है मनुष्य के व्यक्तित्व में। वह है प्रेम का तत्त्व। उसके लिए स्वामीजी महाराज कह रहे हैं कि कुछ व्यक्तित्व ऐसे भी होते हैं संसार में, जिनके ध्यान में यह बात आती है कि अहा ! इस संसार में सुविधापूर्वक, कुशलतापूर्वक रहने के लिए जिसने सामग्री दे दी, कर्म-सामग्री दे दी और संसार के बन्धन से छूटने के लिए जिसने विवेक का प्रकाश दे दिया, उसकी दी हुई शक्तियों के आधार पर मेरा संसार में रहना भी हो गया और संसार से छूटना भी हो गया। लेकिन जिसने यह सब कुछ मुझको दिया, उसके लिए मैंने क्या किया ? ऐसे स्वाधीन तबियत के साधक भी होते हैं जो लोक और परलोक को अपने पुरुषार्थ से सुधार लेते हैं। उतना करने के बाद भी उनके भीतर भाव की तरंगें उठती हैं। वे कहती हैं कि जिसने मेरे लिए इतना किया उसके लिये मैं भी अपनी भुक्ति और मुक्ति न्यौछावर करूँ। उनकी पृष्ठभूमि में इतनी तैयारी है। तो वे कहते हैं, बड़ी स्वाधीनता के साथ, किसी प्रकार की लेने की वासना शेष रही नहीं। तो वे स्वयं को ही भगवान के समर्पण कर देते हैं और कहते हें, "में तो हो गया गुलाम तेरा बेदाम का।" तुमसे मुझे कोई मूल्य नहीं चाहिए। ऐसा कौन कह सकता है ? सचमुच जिसमें किसी प्रकार की कोई कामना शेष नहीं रही। वह परमात्मा से कहता है कि मैं तो हो गया गुलाम तेरा बेदाम का। बिना दाम के गुलाम हूँ तेरा, और हे प्यारे, तेरी जो मर्जी हो वह करो इस खिलौने के साथ, अपने आनन्द के लिये, अपनी प्रसन्नता के लिये, अपनी मौज के लिये, अपने प्रेम-रस के विस्तार के लिये। हे प्यारे, तुम्हें जैसा अच्छा लगे वैसे ही इस खिलौने के साथ खेलो। वह भक्त होता है।

स्वामीजी महाराज से एक बार किसी ब्रजवासी ने, जब वे अकेले ब्रज में विचरते थे तब पूछा, भोले-भाले लोग होते हैं और वहाँ लाला-लाली के सम्बन्ध का बड़ा महत्त्व है। तो उस ब्रजवासी ने स्वामीजी से पूछा- कि बाबा ! लाली-लाली के लिए तुम्हारा क्या भाव है ? सच्ची बात जो थी, वह बताई स्वामीजी महाराज ने उसको। उन्होंने कहा- देखो बाबा, मैं तुम्हारे लाला-लाली के खेलने का फूटबॉल हूँ। मैं

उनका फुटबॉल हूँ। ब्रज में परमात्मा को बालक मानने की भावना हैं, मित्र और सखा, माता-पिता या प्रिया-प्रियतम इत्यादि सब संबंधों का महत्त्व है वहाँ। स्वामीजी महाराज ने बताया कि तुम्हारे लाला-लाली के खेलने का फुटबॉल हूँ मैं। बेचारा ब्रजवासी भोला-भाला सुनता रहा। स्वामीजी ने कहा कि लाला फेंकते हैं मुझे लाली की ओर, और लाली फेंकती हैं लाला की ओर। जिधर वे लोग फेंकते हैं उधर मैं लुढ़कता हूँ। मैं उनके खेलने का फुटबॉल हूँ और बाबा तुम जानते हो, उसमें मुझे बड़ा रस हैं। क्या रस है ? कि दोनों की दृष्टि मुझ पर जमी रहती है। फुटबॉल के खिलाड़ियों की दृष्टि कहाँ लगी रहती है- फुटबॉल पर। तो दोनों की दृष्टि मुझ पर लगी रहती है। लाला फेंकते हैं लाली की ओर, देखते रहते है कि कहाँ गया ? और लाली फेंकती हैं लाला की ओर, देखती रहती हैं कि कहाँ गया ? दोनों की दृष्टि मुझ पर लगी रहती है। बाबा ! उसमें बड़ा रस है। मैं बहुत आनन्दित रहता हूँ और दोनों के आनन्द बढ़ाने का एक केन्द्र भी बना हुआ हूँ। खेलते हैं दोनों। आनन्द आता है दोनों को। जिधर फेंकते हैं, उधर जाता हूँ। मुझे बहुत मजा आता है। इतनी अहं शून्यता। अपने व्यक्तित्व में अपना करके कुछ है ही नहीं। जो सब प्रकार से अचाह नहीं हो जायेगा वह इस प्रकार अपने को उनके हाथ का खिलौना बना ही नहीं सकेगा। सम्बन्ध जोड़कर भी वे अपना कोई संकल्प छिपा कर नहीं रखेंगे। भगवान की कृपा से यह बात पूरी हो जाये तो बहुत अच्छा है।

जिस मनुष्य में अपना कोई संकल्प है वह संकल्पपूर्ति के लिए परमात्मा से सम्बन्ध बनाता है। तो ऐसा नहीं है कि परमात्मा उसके संकल्प को पूरा न करें। कर भी सकते हैं, नहीं भी कर सकते हैं। जिसमें वे साधक का हित देखते हैं, वैसा कर देते हैं। स्वामीजी महाराज कहते थे- देवकीजी ! अगर अपने मन की कोई बात उनसे पूरी करवाना चाहोगी तो परमात्मा को बहुत सस्ता पड़ेगा। क्यों ? अरे! साधक के संकल्प में होगा ही क्या ? थोड़ा सुख, थोड़ा सम्मान। कामना में और क्या होता हैं ? किसी न किसी प्रकार के सुख की कामना अथवा किसी न किसी प्रकार के सम्मान की वासना छिपी होगी, चाहे छोटे

रूप में, चाहे बड़े रूप में। महाराज कहते हैं कि देवकीजी ! उन्हें बड़ा सस्ता पड़ता है इतना कर देना। उनके लिये क्या है ? बिना माँगे ही सुख-सम्मान संसार में भर ही दिया था। लेकिन जब भक्त का हृदय बिल्कुल ही निष्काम हो जाता है, उसमें किसी प्रकार की वासना शेष नहीं रहती, ऐसे भक्त के प्रेम भाव का आदर करने के लिए परमात्मा लालायित हो उठते हैं। और जो सचमुच और कुछ नहीं चाहता है उसके लिए परमात्मा को अपने को ही देना पड़ता है। ऐसे आनन्द की बात होती है।

अब हम लोग अपने स्तर पर आ जायें। अब ईश्वर-विश्वास के पथ पर चलने वाले साधक अपना-अपना अन्तर्निरीक्षण करते जा रहे हैं। मैं बोलती जा रही हूँ और इस कसौटी पर आप अपने को देख ही रहे होंगे। भाई, मेरे भीतर क्या-क्या है, क्या-क्या नहीं है। अपने आत्मीय भाई-बहिनों से मेरा निवेदन यह है कि भक्त होने की कसौटी सुन करके आप डर न जाइये, घबरा मत जाइये और भक्ति-पंथ को छोड़कर खिसकियेगा नहीं। हमारे उस भाई की तरह कि अच्छा इतना करना है तो अब कुछ दिनों के बाद मिलूँगा। ऐसा मत सोचना। घबराना नहीं। मैं यह सब कथा इसलिए सुना रही हूँ कि जो कुछ आप कर रहे हैं क्रिया के रूप में पाठ और जप के रूप में, जो भी कुछ आप कर रहे हैं अब तक, प्रभु की भक्ति का अंग मानकर वह सब करना आप छोड़ियेगा नहीं। उसमें कोई बुराई नहीं है, इसलिये छोड़ना मत। जितना आप कर रहे थे भले वह सब आप रखिये लेकिन उसमें सजीवता किस प्रकार से आयेगी, इस सत्य को भी जोड़ लो। उसमें ऐसा होता है कि दो-दो चार घण्टे का समय व्यक्ति नियमों में लगाता है। बहुत अच्छी बात है। स्वामीजी महाराज निवेदन कर रहे हैं कि चार घण्टे तुमने अपनी साधना के लिए रख लिये- अगर समय का विभाजन हो गया- चौबीस घण्टों में से तेईस घण्टे भी तुम साधना के लिए मान लो, एक घण्टा भी उसमें से छूट गया तो साधना तो खण्डित हो गई न। ऐसा क्रम जीवन में क्यों न रखो कि सारा ही क्रम साधनामय हो जाये। होना चाहिए कि नहीं होना चाहिए।

इसी पर स्वामीजी महाराज कहते थे कि अगर माला जपने से भी परमात्मा मिलता है तो कमरे में झाड़ू लगाने से भी परमात्मा मिल सकता है। अगर तुम ऐसा सोचते हो कि माला जपना तो परमात्मा की भक्ति है और झाड़ू लगाना भक्ति नहीं है, तो तुम्हारी भक्ति तो खण्डित हो जायेगी, क्योंकि कभी न कभी झाड़ू लगाने के लिए माला तो छोड़ोगे ही। जी ! इसलिए करना क्या चाहिए ?- जिस प्रिय के नाम का उच्चारण करने में आपको प्रियता लग रही हैं, माला जपने में जपने की क्रिया की प्रधानता न हो, प्यारे के नाम की प्रधानता हो जावे। प्यारे का नाम अपने को प्रिय लगने लगे। भीतर-भीतर प्यार उमड़ता चला जाये। जैसे-जैसे उनका नाम उच्चारण कर रहे हैं, आपका प्रेम बढ़ रहा है। रस बढ़ता रहता है, तो वाणी मुखर होती है कि मूक ? मूक होती है। तो धीरे-धीरे बाहर की क्रिया जो है वह अन्तर के भाव में बदल जाये तो भक्ति दृढ़ हो जावेगी। एक बात। दूसरी बात यह है कि प्रभु के नाते नित्य नियम का निर्वाह साधना है, तो प्रभु के नाते शरीर के द्वारा किया गया संसार में हर काम साधना है। तो प्रभु का दिया हुआ शरीर, उन्हीं का दिया हुआ मकान, उन्हीं की दी हुई शक्ति, तो प्रभु की दी हुई शक्ति से प्रभु के मकान में झाड़ू लगाने में रस बढ़ सकता है कि नहीं ? जी ! बढ़ सकता है। तो उन्हीं के नाते हर प्रवृत्ति हमारे लिए पूजा के समान पवित्र हो सकती है ? जी ! हो सकती है। अगर ऐसा हो गया तो भजन अखण्ड हो गया, पूजन अखण्ड हो गया।

एक साधक की घटना स्वामीजी महाराज ने सुनाई थी हम लोगों को। भोले-भाले तबियत के साधक थे, गुरु के भक्त। सबेरे-सबेरे उनका नियम था कि गुरु महाराज के पास एक जल का पात्र था, पीतल का बड़ा लोटा। वे गंगाजी के तट पर रहते थे। जब तक गुरु महाराज अपनी साधना में, शान्ति में रहते, सबेरा होने से पहिले वे साधक लोटा लेकर गंगाजी के तट पर चले जाते और बालू से माँज कर भीतर-बाहर चमचमाता करके, जल भर कर, लाकर रखते। महाराज उठेंगे, कुटिया से बाहर आयेंगे तो मुँह-हाथ धोयेंगे। भीतर में उस साधक के बड़ी पवित्रता थी और सेवा की हर प्रवृत्ति में उसके पूजा

का भाव था, बहुत पवित्रता थी, बड़ी प्रियता थी। एक दिन वे गंगा-तट गये, वहाँ लोटा माँजने लगे। भीतर से पवित्रता और सरसता उनको एकदम अभिभूत करने लगी, रसमय होने लगा। होते-होते इतना रस बढ़ा कि उन साधक को क्रिया का तो ध्यान ही नहीं रहा, बहुत देर हो गई। काफी देर हो गई। गुरु महाराज उठे भी, बाहर आये भी, दूसरे-दूसरे साधक लोगों ने कहा कि हम जल ले आयें ? हम जल ले आयें ? तो उन अन्तर के पारखी सन्त ने कहा कि नहीं-नहीं ठहरो, उसी को आने दो। बहुत देर हुई तो दो-चार लोग दौड़े- देखें तो गंगा के तट पर क्या हो रहा है। वहाँ जाकर लोगों ने देखा, तो उस सज्जन के भीतर इतनी प्रीति की बाढ़ थी, उसमें वे खुद इतने मस्त थे और हाथ लोटा माँजने के ढंग से लोटे के भीतर घूम रहा है। माँजने का काम जो शुरू किया था वह क्रिया जैसी की तैसी हो रही है। हाथ हिल रहा था, वे अपने प्रेम समाधि में डूबे हुए, आनन्द में मस्त, वहीं देह धर्म से ऊपर उठे हुए अपने अलौकिक आनन्द में आनन्दित थे।

तो हर प्रवृत्ति साधना बन जाये, यह हम लोगों का ध्येय होना चाहिये। ऐसा किस तरह हो सकता है ? जब लोटा परमात्मा का, जल परमात्मा का, साफ करने की दी हुई शक्ति भी परमात्मा की, उस क्रिया के बदले में, उस कार्य-सम्पादन के बदले में परमात्मा की प्रसन्नता के अतिरिक्त अपने को कुछ नहीं चाहिए। इतनी निस्पृहता जब हमारे में आवे तब हर क्रिया भजन हो जाये, हर प्रवृत्ति पूजा बन जाये।

(34)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिना और भाइयो !

विश्वास-पथ के जितने साधक हैं, भगवत् अनुरागी अथवा ऐसे कहूँ कि भगवत्-अनुराग के अभिलाषी जितने साधक हैं, सबके लिए प्रेमी होने की बड़ी जोरदार कसौटी है। संसार से जरा भी सम्बन्ध अब मेरा नहीं रहा। संसार बुरा लगता है कि संसार की निन्दा करते हैं कि उसे क्षति पहुँचाते हैं, सो सब नहीं है। आप सभी भाइ-बहिनों ने जो

गोपी चरित्र में रुचि रखते हैं, सुना होगा कि वे तो दिन-रात अपने घरबारी काम मे व्यस्त रहती थीं। बाल-बच्चों का पालन भी हो रहा है, गऊ भी सँभाली जा रही हैं, दूध-दही भी सँभाला जा रहा है। उन्होंने यह सब छोड़ा नहीं था और इनको बुरा नहीं समझा था। लेकिन हर काम करते समय हर वस्तु पर दृष्टि जाती तो उनके दिल में यही बात होती कि यह तो 'उसका' है। यह तो कन्हैया का है। यह तो उन्हीं के लिए है। तो उन्हीं का है, उन्हीं के लिए है, उन्हीं की प्रसन्नता के लिए है, उन्हीं की सेवा के लिए है। ऐसा वे मानती और वन में पहुँचने पर जब उन्होंने कहा चली जाओ तो कहती हैं कि जहाँ भेज रहे हो, वहाँ से तो हमारा लेशमात्र भी सम्बन्ध नहीं रहा।

परमात्मा से आत्मीय सम्बन्ध स्वीकार करना, यह तो दीक्षा वैष्णव मत की है ही। वैष्णवता इसी को कहते हैं कि परमात्मा को अपना आत्मीय मानें। भूल यह हो जाती है कि हम इसके साथ अन्य सम्बन्ध भी जीवन में रखते हैं। परमात्मा से अपना नित्य संबंध है, उन्हीं से जातीय सम्बन्ध है। पर इसमें कुछ और सजगता हम लोगों को रखनी पड़ेगी कि जैसे मीराजी ने कहा-"मेरे तो गिरधर गोपाल दूसरो न कोई।" मैं अधिक महत्त्व देती हूँ "दूसरो न काई" को। दूसरा कोई मेरा नहीं है, यह बात बहुत जरूरी है। उनके अतिरिक्त किसी और से अगर सम्बन्ध है तो फिर संसार में जो देखा हुआ है और दिखता है उसके सम्बन्ध के कारण भीतर की जड़ता जाती नहीं है, और जब जड़ता मिटती नहीं है तो बिना देखा, बिना जाना हुआ, उतना अपना नहीं लगता जितने ये हाड़-माँस के पुतले अपने लगते है। यह कमी रह जाती है।

आप सोचियेगा, जितने भाई-बहिन विश्वास-पथ के साधक यहाँ बैठे हैं उनके लिए मैं विशेष रूप से कह रही हूँ और विचार-पथ के साधकों के लिए भी ऐसी ही बात है। अपने में अपना जो है, उससे अभिन्न होने का जो आनन्द होता है उसमें कमी इसलिए रह जाती है कि उस अलौकिक अविनाशी आनन्द स्वरूप को भी हमने पसन्द किया और इस बनने-बिछुड़ने वाले संसार से भी सम्बन्ध रखा। दोनों

तरफ सम्बन्ध रखते हैं तो दोनों का प्रभाव जीवन पर होता रहता है। द्वन्द्व बना रहता है। साधक कभी-कभी शान्तिकाल में उत्साहित हो जाता है और कभी-कभी संसार के चिन्तनकाल में घबड़ा जाता है। ये दोनों बातें चलती रहती है।

जो विश्वास-पथ के साधक हैं उनके लिए भी स्वामीजी महाराज ने एक बहुत जरूरी बात बताई और कहा कि देखो अगर विचार से तुम काम नहीं लोगे, अनित्य सम्बन्ध को अस्वीकार करने की भूमिका अगर तैयार नहीं होगी तो परमात्मा के साथ, उस अलख, अगोचर, अनजान अपरिचित के साथ आत्मीयता सजीव नहीं होगी। सजीव होने का अर्थ क्या है ? सजीव होने का अर्थ यह है कि जब परमात्मा का सम्बन्ध जीवन में सजीव हो जाता है तो याद करने के लिए प्रोग्राम नहीं बनाना पड़ता, सब समय उनकी याद बनी रहती है। आत्मीयता सजीव नहीं हुई, इसका यह रूप दिखाई देता है कि हमको अपने परम प्रेमास्पद प्रभु की याद करने के लिये प्रोग्राम बनाना पड़ता है, जिसका आरम्भ भी होता है तथा उसका अन्त भी होता है। मानी हुई आत्मीयता सजीव होने की पहचान यह है कि याद करना नहीं पड़ता, निरन्तर उनकी याद आती है। उठते-बैठते, चलते-फिरते, काम करते, सब समय उनकी याद आती रहती है। याद आने लग जाये- इसमें बड़ा रहस्य है। याद को हम लोग बहुत मामूली ढंग से लेते हैं। स्वामीजी महाराज के पास बैठकर अच्छे, सजीव ईश्वर-विश्वास की चर्चा में, विश्लेषण में, पढ़ने में, लिखने में, सुनने में मैंने पाया कि उस स्मृति का जाग्रत होना साधकों की सब प्रकार की चेष्टा की परावधि है। सब कुछ किया हुआ आपका सफल हो गया, ऐसा माना जायेगा जब उन आत्मीय की आत्मीयता अर्थात् वे मेरे अपने हैं ऐसी उनकी याद अपने में बनी रहे।

इस दिशा में मैंने ऐसा पाया कि सामान्यतः साधक-समाज की मनोवृत्ति ऐसी होती है कि भाई, जरूरी-जरूरी काम तो होते ही रहते हैं, कुछ समय भगवत् भजन के लिए भी तो चाहिए। तो ठीक है भाई! जरूरी-जरूरी काम कर लो और उसमें से कुछ समय जोर डालकर

निकाल लो। भजन भी करना चाहिए। इस तरह भजन Secondary अर्थात् गौण चीज हो गई। अगर कभी नहीं हो सके तो कोई चिन्ता की बात नहीं। क्या करें ? भजन करना तो चाहते हैं, लेकिन जरूरी काम से फुर्सत ही नहीं मिलती है, तो भजन कैसे करें ? जब किसी साधक के मुँह से ऐसी बात सुनती हूँ तो मैं अपने से पूछती हूँ कि अच्छा भाई, इस बात का फैसला करो, कि जरूरी-जरूरी काम से फुर्सत नहीं मिलती है कि गैर जरूरी काम में लगा जाए, तो भजन गैर जरूरी हो गया न जी। कितना बड़ा धोखा है बताओ।

जो प्रेम ईश्वर-विश्वासी साधक का जीवन है, उस प्रेम के लिए हम सब लोग भीतर से बड़े लालायित हैं। ईश्वरीय प्रेम ऐसा अलौकिक तत्त्व है, अविनाशी तत्त्व है, उसमें इतना घना आकर्षण है, इतनी मधुरता है कि जन्म-जन्मान्तर का पाला हुआ अहं भाव, साधक का अपना आपा, वह उसमें सरस हो जाय, डूब जाय, आनन्दित हो जाय और सम्पूर्ण अहं जो है वह गलकर प्रेम की धातु में परिवर्तित हो जाये। उसका आस्वादन जिन बड़भागी अनुरागी सन्तों भक्तों ने किया, वह जितना उनको अच्छा लगा, मीठा लगा, मधुर लगा, उतना तो वे कह ही नहीं सके, क्योंकि वह कह सकने की बात होती नहीं है, फिर भी जितना उन लोगों ने कहा, हम लोग सुन-सुनकर भीतर-भीतर ललचाते रहते हैं।

हे प्रभु ! वह चमत्कार पूर्ण प्रेम का रस आप अपना कब हमको दीजियेगा, वह कब मुझे मिलेगा ? वह कौन सी शुभ घड़ी होगी कि हम भगवत् चरणों के अनुरागी बनेंगे। ऐसे भीतर-भीतर हम लोग उसके लिए ललचाते रहते हैं। तरसते रहते हैं। सोचतें रहते हैं। यह दशा हमारी, आपकी अपनी है कि नहीं हैं ? जी ? है। वही जब अपने जीवन का लक्ष्य है, उसी के लिए हम लोगों ने कदम उठाया है तो उसमें सजीवता आनी चाहिए कि नहीं ? चाहिए। तो उसकी राह में पत्थर किसने खड़ा किया ? क्या संसार ने खड़ा किया ? क्या संसार की सामर्थ्य है कि भक्त को भगवान से, प्रेमस्वरूप से, मिलने में कोई बाधा पहुँचा दे। संसार की सामर्थ्य नहीं है। तो क्या सृष्टि के मालिक ने

खड़ा किया है ? जी ? नहीं। वे भी खड़ा नहीं कर सकते। वे तो हमारी सब बाधाओं को हटाते रहते हैं। अगर किसी सुन्दर खिलौने में कोई बच्चा उलझ गया हो तो दूध पिलाने के समय, कि अब तो यह भूखा होगा, अब तो उसको खेल से निकाल करके दूध पिलाना चाहिए, तो माँ आकर के क्या करती है, कि जिसके सामने से सब खिलौने जल्दी-जल्दी छिपा देती है। हटा दो, हटा दो, खिलौने हटा दो, तो इधर से उसका मन हटे तो वह माँ के पास आवे। तो सृष्टि के मालिक हम लोगों के सामने बाधायें खड़ी नहीं कर सकते। वे तो हमारी बाधाओं को हटाने का ही इन्तजाम करते रहते हैं, सब ओर से, सब समय। ऐसा मत सोचना कि जो साकार उपासक, अथवा निराकार उपासक उन परम कृपालु से कृपा की भिक्षा माँगेगा, उसी के साथ ऐसा करेंगे, यह बात नहीं है।

मानव सेवा संघ की प्रणाली में उस अनन्त तत्त्व के लिए, उनके लिये, विश्वास पथ के साधक और विचारपथ के साधक समान रूप से प्रिय हैं। तो विचारकों के सामने भी आने वाली बाधाओं को वे अनन्त परमात्मा हटाते ही रहते हैं, तो संसार पत्थर खड़ा कर नहीं सकता। परमात्मा खड़ा करना चाहते नहीं, उनका यह उद्देश्य ही नहीं है। वे तो दूर-दूर से अपने प्रेम का सन्देशा देकर, प्रेम रस का छींटा दे देकर हमारी भव ज्वाला को शान्त करते रहते हैं, मानो ऐसा कहते हैं कि मेरे पास अगाध, अनन्त, रस सागर हैं, मेरे बच्चे ! मेरे प्यारे बच्चे ! कहाँ भटक रहे हो ? कहाँ फिर रहे हो ? वे तो हमको अपने पास बुलाना ही चाहते हैं, हमारी अतृप्ति को शान्त ही करना पसन्द करते हैं। हमारे भीतर उनका ही दिया हुआ प्रेम, हमारे द्वारा उन्हें दिया जाने पर उसे लेने में वे बड़ी कृतज्ञता मानते हैं।

दो उदाहरण मुझे याद आ गये। अब विवेचन की चर्चा यहाँ छोड़ रही हूँ। स्वामीजी महाराज के मुख से मैंने सुना था जो मुझे बहुत ही अच्छा लगता है कि रामावतार में जनकपुर में विवाह का उत्सव पूरा हो चुका था, उसके बाद भी बारात कुछ दिनों रह गई थी। जनक महाराज विदा ही नहीं करते थे। एक-एक पर्व, त्यौहार आता गया।

जनकपुर के महल में पहुनाई करने वाली, विशुद्ध प्रेम देने वाली श्री किशोरीजी की सखियाँ थी, सहचरियाँ और बहिनें। तेरह बहिनें एक साथ जन्मी थीं किशोरीजी की सेवा करने के लिए। उनकी खास शक्तियाँ आई थीं। खूब प्रेम-पूर्वक पहुनाई होती जा रही है। बारात को रोका जा रहा है। होते-होते फिर आखिर चलने की तैयारी होने लगी। विदाई की बात होने लगी। तो बहुत अधीर होकर श्रीराम से कह रही हैं कि आपको देखे बिना तो हमसे रहा ही नहीं जाता है। हे लालन! आप चले जायेंगे तो हम कैसे रहेंगी ? उनको तो मालूम ही है कि श्रीराम मर्यादापुरुषोत्तम है। दो-चार ब्याह तो कर ही नहीं सकते। ऐसी कोई बात उनके दिल में नहीं थीं। फिर भी उन्होंने कहा कि हम तो अपनी किशोरीजी के साथ ही जायेंगी और आप दोनों की सेवा में ही जिन्दगी बितायेंगी। महल में वास हमारा नहीं होगा, लेकिन महल के पास फूँस की झोपड़ी बनायेंगी और युगल जोड़ी के दर्शन का, उनको रिझाने का, उनकी सेवा का आनन्द लेंगी। कहने को तो थोड़ा ही कह सकीं, ज्यादा कह नहीं सकीं, फिर भी जो प्रेम-भाव के पारखी हैं, सबसे बड़े प्रेमी हैं, उन्होंने जान लिया और बातचीत करते-करते मधुर-मधुर कोमल वचनों से भक्तजनों के हृदय को भरते हुये उन्होंने कहा कि हे सखियो ! मैं सदा-सदा से ही आपका हूँ और आप ही का रहूँगा। "आपने जो किया सो किसी ने नहीं किया।" यह बात मुझे बहुत अच्छी लगती है।

यही वाक्य कृष्णावतार में भी मिलता है। वहाँ भी गोपियों के त्यागमय प्रेम के प्रसंग में आपने सुना होगा कि जब भगवान ने कहा कि यहाँ क्यों आई ? रात्रि के समय वन में अकेले नहीं आना चाहिए था। तो कहती हैं- आपको आचार्य बनाने नहीं आई हैं, आपसे उपदेश लेने हम नहीं आई हैं। हम तो इसलिए आई हैं कि हमारे आने से आपको प्रसन्नता होगी। तो प्रिय को प्रसन्नता होगी- ऐसा पवित्र प्रेम। और जब वे कहते हैं कि चली जाओ, तो कहती हैं कि जहाँ भेज रहे हो, वहाँ से हमारा तृण के समान भी सम्बन्ध नहीं है। तिनके के बराबर भी सम्बन्ध नहीं है। कुछ नाता उधर से नहीं है। उधर से भी कुछ

चाहिये नहीं और तुमसे भी कुछ चाहिए नहीं। तुमसे मुक्ति माँगने नहीं आई हैं, उपदेश लेने नहीं आई हैं, आचार्य बनाने नहीं आई हैं। उनको इन सब बातों का कुछ भी ख्याल नहीं हैं। क्या करने आई हैं ? कि हे प्यारे ! हमें देखकर तुम्हें प्रसन्नता होगी इसलिए हम आई हैं। ऐसा निःस्पृह प्रेम जिसमें अपना कुछ संकल्प ही नहीं है। अपने पर अपना अधिकार ही नहीं है। यहाँ तक कि जब वे किसी भी प्रकार से मान ही नहीं रहे हैं तो कहती हैं कि कोई बात नहीं, तुम्हारे विरह की ज्वाला में यह तन भस्म हो जायेगा तो हे प्यारे ! उस भस्मी के ऊपर होकर एक बार निकल जाना। सुनकर भगवान मुग्ध हो गये, सराहना करने लगे। कहते हैं-"तुम जो कियो सो कोऊ न कियो, हे गोपकुमारी"। हे सखियो ! तुमने जो किया, वह किसी ने नहीं किया। क्या अर्थ है ? उन्हीं का बनाया हुआ खिलौना, हम सब उनके हाथ के खिलौने ही हैं, उन्होंने अपना ही प्रेमरस देकर हम लोगों को सरस बनाया। अपने ही अनन्त माधुर्य के गुण से हमें अपनी ओर आकर्षित किया।

मैं तो ऐसा ही मानती हूँ। स्वभाव से जो लोग भक्तिभाव से भरे होते हैं, उनकी तो चरण धूलि मैं मस्तक पर चढ़ाती हूँ लेकिन अपना हाल कैसा है ? तो अपना हाल स्वामीजी महाराज से निवेदन करने लग गई। "पाथेय" में कहीं आया है। मैं कहने लगी कि "स्वामीजी महाराज ! इस जगत् में, इस भौतिकता की चमक में भूला हुआ मानव और उनको याद कर सके, अपने लिये तो यह संभव नहीं लगता हैं।" यह तो मेरी ही दुर्दशा देखकर उनकी करुणा द्रवित हुई हैं। उन्हीं को मेरा दुःख सताने लगा है, उनको मेरी सुधि लेने की सूझी है तो मुझे उनकी याद आई, भगवत् कृपा का आविर्भाव क्या बताऊँ। मुझे मनुष्य के जीवन का यह इतना बड़ा चमत्कार मालूम होता है कि अगर इसका उद्घाटन इस जीवन में नहीं हुआ तो मनुष्य होने का लाभ ही क्या पाया हम लोगों ने।

एक Western thinker, एक पाश्चात्य चिन्तक ने एक, निबन्ध लिखा था। उसको बहुत दिन हो गये अब तो। उसमें यह लिखा था कि भारतीय दर्शन तो समझ में आता है, अलख, अगोचर, अविनाशी

एक ही अव्यक्त तत्त्व और वही अनेक रूपों में अपना विस्तार करता है और समेटता है, वही सर्व उत्पत्ति का आधार है, वही सर्व प्रतीति का प्रकाशक हैं, इत्यादि। उनकी भाषा में नहीं बोल रही हूँ। वे तो बुद्धि के स्तर से ही आरम्भ करते हैं। यह जो -Intelligence अर्थात् सत्-असत् के विवेचन करने की शक्ति है- यहीं से वे अपना दर्शन आरम्भ करते हैं। उसने लिखा है कि भारतीय दर्शन में जो नित्य तत्त्व का विवेचन है वह तो समझ में आ जाता है, पर पता नहीं चलता कि भारतवासी साधकजन कौन-सा technique (टेक्नीक) प्रक्रिया जानते हैं कि वह अलख, अगोचर, नित्यतत्त्व, एक अकेला ऐसा 'वह' है जो दो हाथ वाला, दो पाँव वाला बनकर, छोटा-सा नन्हा होकर उनके सामने आ जाता है, और न जाने भारतीय भक्त कौन-सा टेक्नीक जानते हैं कि उनके इशारे पर वह नाचता है, खाता है, खेलता है, बैठता है और जरा-जरा सी बात के लिये उनके आगे याचक बनता है। यह टेक्नीक हम लोगों की समझ में नहीं आती। स्वामीजी महाराज को मैंनें पढ़कर सुनाया। मैंने कहा, महाराज ! सुनिये इस Western Philosopher thinker ने ऐसा-ऐसा लिखा है। तो हँसने लगे। कहने लगे- बेटा ! इसमें टेक्नीक कोई है ही नहीं, जानेगा कैसे ? यह बात किसी Method से नहीं होती है। किसी टेक्नीक से नहीं होती है। यह तो वे प्रेम के दीवाने जानते हैं जो लोक और परलोक को उस परम प्रेमास्पद के चरणों पर न्यौछावर कर देते हैं। हे भगवान ! इस संसार का सुख हमको नहीं चाहिए। हे सरकार यह मुक्ति भी हमको नहीं चाहिए। यह मुक्ति और भुक्ति, भोग और मोक्ष सब कुछ तुम्हारे चरणों पर समर्पित है। ऐसे जो परम स्वाधीनता के आनन्द को भी उस स्वाधीन पर लुटा दें और उसके अधीन हो जाते हैं और कहते हैं, हे प्यारे ! तुम्हें जो अच्छा लगे सो करो। इस तरह जीवन का तुम्हें जो उपयोग अच्छा लगे सो करो। तुम्हें जिसमें आनन्द आवे सो करो। ऐसे जो भक्त होते हें उन भक्तों के आगे भगवान स्वयं ही कृतज्ञ हो जाते हैं। अपनी ओर से भक्त को प्यार देते हैं और भक्त जब उस प्यार को भी परमात्मा के अर्पित करता है, तब खूब उत्साह से लेते हैं कि तुमने

जो किया वह किसी ने नहीं किया। क्या महिमा है, क्या विशेषता है ! कितनी बड़ी बात है।

जब अपने हृदय की संकीर्णता से मुझे बड़ा ही कष्ट होता कि हाय ! मेरे पास कुछ है ही नहीं। ऐसे परम सुन्दर, परम मधुर, परम उदार को मैंने अपना उपास्य बनाया तो उनको देने के लायक तो यहाँ कुछ है ही नहीं। क्या करूँ मैं ? भीतर-भीतर बड़ा दुःख होता। उसे स्वामीजी महाराज को मैं सुनाया करती तो कहते कि भाई, चिन्ता क्यों करती हो ? चिन्ता मत करो। अरे भक्त के पास कितना है, कि उस विश्वम्भर को देगा। उनके यहाँ कुछ कमी है क्या ? कोई कोना उनका खाली है क्या, जो तुम्हारे देने से भरेगा ? ऐसा नहीं है। कैसा है ? कि भक्त की ओर से भाव बहुत ही क्षीण और दुर्बल जाता है लेकिन उनसे अपने पुरुषार्थ के द्वारा उस भाव को जब जुटा देता हैं तो वहाँ तो अथाह सागर है प्रेम का। उनसे जुटा देने के बाद तुम्हारी तरफ से गया हुआ बहुत ही दुर्बल, बहुत ही क्षीण, जो प्रेम का भाव है वह उस अथाह सागर से जुटकर बहुत हो जाता है, अपार हो जाता है। और जब उनकी हैसियत से, उनकी ओर से वह प्रेम का भाव विस्तृत होकर लहराता हुआ वापस आता है तो भक्त के हृदय को भर देता हैं, तब उसका जीवन रसमय बनता है। फिर उस रसमय जीवन से उस रसस्वरूप को आनन्द आता है। तो सच्ची बात तो यही है कि सब कुछ उन्हीं का दिया हुआ है। भूल अपनी इतनी हो गई कि उस पवित्र प्रेम की प्यास को मैंने ढककर रख दिया और जगत् की तृष्णा को प्रश्रय देकर सुख-भोग के द्वारा जीवन को बर्बाद किया। अब सन्त कृपा से, भगवत् कृपा से, जीवन के मंगलमय विधान से इसमें सुधार हो गया।

भाई ! जीवन का जो रस-स्रोत है वह तृष्णा की अग्नि में डाल करके जलाओ मत। समझ में आता है ? जी ? अपने को ऊपर-ऊपर से प्रभु का नाम ले-लेकर, गीत गा-गा कर अपने को रिझाओ मत। क्या करो ? तो इस रस-स्रोत को जलने से बचाओ और फिर इसे कहाँ लगाओ ? तो इसको उसमें लगा दो जो प्रेमरस का अथाह सागर है। उसके बाद फिर कुछ करना शेष नहीं रहता। उस रसमय के रस की

मधुरता से जन्म-जन्मान्तर के विकार धुल जाते हैं। सब नीरसता मिट जाती है और क्या-क्या हो जाता है सो तो साधक के ध्यान में भी नहीं आता है कि क्या-क्या हो गया ? और उसको इसकी परवाह भी नहीं रहती है। और रस ऐसा भरता है, भीतर-बाहर सब तरफ से, कि फिर उसमें सीमित अहंभाव का पता भी नहीं चलता है। यह बड़ा भारी चमत्कार है मनुष्य के जीवन का।

उसकी और अधिक विशेषता, मैंने यह देखी कि ज्ञानपंथ और भक्तिपंथ दोनों बिल्कुल एक दिखाई देते हैं मुझे। वह क्या हैं ? दार्शनिक सत्य के रूप में हम लोगों ने यह माना था कि वह एक ही अव्यक्त, नित्यतत्त्व जो है, अलख, अगोचर, अनादि, अनन्त उसी ने अपने को इस व्यक्त-जगत के रूप में प्रकट किया है। वह व्यक्त हो गया, स्थूल हो गया, साकार बन गया, तो सीमा हो गई उसकी। किसकी सीमा हो गई ? उस अनन्त तत्त्व की सीमा नहीं हो गई। उसने जो स्थूल साकार बना दिया, उस आकृति की, उस स्थूलता की सीमा हो गई, उस साकार के आकार की सीमा हो गई। उस उत्पत्ति का अन्त अनिवार्य हो गया यह तो दार्शनिक सत्य है।

आस्तिकता का सत्य क्या है ? कि आपने जब उस अलख, अगोचर, अनन्त रस-स्वरूप से इस जीवन का रस स्रोत जोड़ दिया और उसके साथ मिलने से जब उसकी विभूतियाँ आपके भक्तिपूर्ण जीवन में भरने लग गई तो एक बड़ा चमत्कार हो गया। क्या चमत्कार हो गया कि उसी में से निकल-निकल कर यह सब स्थूल छोटा-छोटा सा सीमित आकार जो बना था, जिसको हम लोग भौतिक-विज्ञान की दृष्टि से, भौतिक अणु-परमाणु के नाम से सम्बोधित करते हैं, और जानते हैं, यह भी बदलते-बदलते प्रेम के प्रेमभाव से अपने उस अलौकिक अविनाशी प्रेम तत्त्व में ही विलीन हो गया। बड़ा विचित्र रहस्य है। दार्शनिक दृष्टिकोण से भी और आस्तिकता की दृष्टि से भी। दोनों में ही इतनी अधिक एकता दिखाई देती है मुझे। जहाँ जाकर पन्थों का भेद खतम हो जाता है।

आपने सुना होगा, एक ऐतिहासिक सत्य है कि मीराजी का भौतिक शरीर किसी ने पाया नहीं, उनके प्रेममय होने के बाद। ये भौतिक शरीर के अणु-परमाणु भी, भगवद्भक्तों की भक्ति के प्रभाव से उस अलौकिक तत्त्व में विलीन हो जाते हैं। आपने इस ऐतिहासिक घटना को सुना ही होगा। बड़ा आनन्द आता है मुझे। भक्ति और ज्ञान की ऐसी एकता दिखाई देती है इसमें, कि मजा आ जाता है। कई घटनाएँ ऐसी हैं, एक नहीं है। और अब जब मैं वीतराग सन्तों के जीवन का चमत्कार देखती-सुनती हूँ और दूर से हमारी स्थूल दृष्टि से दिखाई देने वाली भक्तों की एक आकृति दिखाई देती है तो हम ऐसा समझते हैं कि हम उसके पास बैठे हैं। तो ऐसा चमत्कार होता है। अपने को बड़ा आकर्षण लगता है, बड़ी शान्ति लगती है, एकदम से जैसे भ्रम के बादल हटने लगते हैं, केवल बैठने से। बातचीत करने की कोई खास बात नहीं है। बातचीत हो गई तो अच्छी बात है नहीं हुई तो केवल बैठो। तो उनका व्यक्तित्व अहं-शून्य होता है, चाहे वे ज्ञान-पंथ के संत हों, वीतराग पुरुष हों, आत्मनित्यतत्त्व से अभिन्न हों अथवा प्रेमपंथ के संत हों, भक्त हों। उनके अहं-शून्य व्यक्तित्व में से ज्ञान और प्रेम का प्रकाश ऐसा विभु होकर फैलता रहता हे कि कोई receptivity (संग्रहणशीलता) लेकर उनके पास बैठे, चाहे तो ज्ञान के प्रकाश से भ्रम का नाश कराने की ग्राहकता लेकर, चाहे प्रभु प्रेम की प्यास में लेकर, उनके पास जाकर कोई बैठे तो ऐसे ही बिना प्रयास के ही उनका प्रभाव भरने लग जाता है। ऐसा होता है। मैंने ऐसा पाया है।

बरेली में एक आनन्द आश्रम है। वहाँ सत्संग के लिए प्रेमी लोग बुलाया करते थे। मैं प्रतिवर्ष जाती थी, अब नहीं जा रहीं हूँ दो-चार साल से। वहाँ एक वृद्ध संत रहते थे। मैं बिल्कुल नहीं जानती थी उनको। कोई परिचय नहीं था लेकिन सत्संग के प्रेमी थे। स्वामीजी महाराज को वे जानते होंगे। तो बच्चे की तरह खूब प्यार करते। वृद्ध शरीर था। बैठाते और कहते, बोलो, सुनाओ। मैं अपनी धुन में सुनाती चली जाती। कितनी बार का मेरा अनुभव है कि उनकी उपस्थिति में मैं बोलती जा रही हूँ, बौद्धिक स्तर पर, अलौकिक और देहातीत जीवन

की चर्चा सोच-समझ कर करनी एक बात है, परन्तु बोलते ही बोलते ऐसा हो जाता कि मानों शरीर से सब लगाव छूटता जा रहा है। और जैसे उस प्रकाश में सब दिखता जा रहा है। ऐसा लगने लग जाता था। भूल ही जाती थी मैं। समय को भी भूल जाती। पता नहीं कैसा-कैसा लगता और थोड़ी देर के बाद ध्यान में आता, तब भीतर ही भीतर संकोच होता कि पता नहीं मैं क्या-क्या बोल गई। ऐसा एक बार का नहीं, कई बार का अनुभव है। अपने महाराजजी के पास भी बैठकर देखा है, और भी भक्तजनों के पास बैठकर देखा है, कि वह भाव ऐसा व्यापक हो जाता है। कब ? जब वे संत शरीर के भास को पार कर जाते हैं, जब देह धर्म उनका छूट जाता हैं, जब अलौकिक तत्त्व का डायरेक्ट कनेक्शन उनके अपने अनुभव में आ जाता है, उनके भीतर अहं नहीं रहता।

महर्षि रमण का भी ऐसा ही था। जाकर कोई दुःख सुनावे और उनसे जवाब माँगे तो बहुत ही सरलता से अपने देहातीत आनन्द की मस्ती से मस्त आँखों पर बाहर के दृश्यों की कोई प्रतिच्छाया नहीं पड़ती थी, Impression (भावाभिव्यक्ति) बदलती नहीं थी। बस, ऐसी मस्ती में, कहाँ आँखें हैं, कहाँ वे हैं, उनसे कहा जाता कि महाराज, ये दुखिया दुःख सुना रहा है, कुछ कह दीजिये। तो बड़े आनन्द से मुस्कराते हुए कह देते भाई, तुमने सुना दिया, जिसको सुनना है उसने सुन लिया। जो करना होगा करेगा, महर्षि कुछ नहीं जानता है। महर्षि शब्द से सम्बोधित होने का अभिमान उनको नहीं था। जैसे हम लोगों का नाम पड़ा है, वैसे ही उनका नाम पड़ गया था। तो ऐसा जो तात्वनिष्ठ होता है, सचमुच भगवत् परायण संत भक्त होते हैं, उनका जीवन हम सभी साधकों के लिए बड़ा उपयोगी होता है।

अब तो मैं ऐसा कहती हूँ कि सत्य की अभिव्यक्ति का जीवन में अगर यह चमत्कार नहीं हुआ, अगर प्रेमरस के प्रवाह की इस मधुरता ने जीवन को भरपूर नहीं किया, मरणशील शरीर को लेकर, परिवर्तनशील जगत् मे रहते हुए अगर इसके द्वारा उस अनन्त तत्त्व के प्रकाशन का आनन्द अपने को नहीं आया, यदि उस प्रेमस्वरूप को

प्रेम प्रदान करने का श्रेय हमने नहीं लिया, तो जीवन धारण करके क्या किया ? कितनी बड़ी बात है, जरा सोचो तो सही। प्रेमस्वरूप प्रभु ने उनको प्रेम प्रदान करने का अवसर आपको दिया है, और किसी को नहीं दिया, इस लम्बी-चौड़ी सृष्टि में किसी और को नहीं दिया, आप ही को दिया और यह श्रेय आपने नहीं लिया और उनके मुख से एक बार ऐसे वचन सुन नहीं लिये-''तुम जो कियो सो कोऊ न कियो हे गोपियो।'' तो जी कर क्या किया ? क्या किया हम लोगों ने जन्म लेकर ? क्या किया वक्ता बनकर ? क्या किया श्रोता बनकर ? अब शान्त हो जाओ।

(35)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

जीवन के विकास का बड़ा सुन्दर क्रम है, उसका व्यावहारिक रूप भी सुन्दर है, आध्यात्मिक विकास भी सुन्दर है और उसमें भी भगवत् अनुराग जब भी आ जाये, तो उससे मानव का सुन्दरतम चित्र बनता है। व्यावहारिक रूप में सबसे पहली बात है कि हम किसी के साथ बुराई नहीं करेंगे। दूसरी बात है कि परिश्रमपूर्वक ईमानदारी से उपार्जन करेंगे और उदारतापूर्वक उसका वितरण करेंगे। इससे व्यावहारिक जीवन बड़ा सुन्दर बन जाता है। अपने पास जो कुछ है, वह सब उनकी सेवा में लगा देंगे, जिनको इसकी जरूरत हैं।

संसार में काम करने का समय मध्यकाल में आता है। छोटे बच्चे जो संसार के काम के लायक तैयार नहीं हुए, वे सेवा के अधिकारी हैं और वृद्ध शरीर जिनका समय निकल गया है, वे भी सेवा के अधिकारी हैं। समाजसेवी लोग जिन्होंने धन कमाना बन्द कर दिया, वे सेवा के अधिकारी हैं। सत्य की खोज में लगे हुए, भगवत् अनुराग में डूबे हुए सन्त और भक्तजन जो उपार्जन के काम से अलग हो चुके हैं, वे सेवा

के अधिकारी हैं। तो ऐसा व्यावहारिक जीवन जिसमें प्राप्त सामग्री और प्राप्त सामर्थ्य सब सेवा के पात्रों की सेवा में अर्पण हो जाये वह जीवन बहुत सुन्दर बन जाता है।

प्रकृति का ऐसा विधान है कि दूसरों के साथ हम जो कुछ करेंगे, वही अनेक गुणा अधिक होकर, अपने साथ होता है। इसलिए जो अनुभवीजन हैं, वे प्रकृति के विधान को, जीवन के विधान को जानते हैं, वे कहते हैं कि बुराई किसी के साथ मत करो, नहीं तो वह बहुत बड़ी होकर तुम्हारे साथ होगी। और भलाई करने की बात जब जीवन में आवें तब शक्ति भले ही सीमित हो, समय सीमित हो, लेकिन आपका भाव असीम होगा, वस्तु आपके पास थोड़ी-सी होगी, लेकिन जिस दुःखी वर्ग की सेवा करने आप जायेंगे उस दुःखी वर्ग का भला हो जाये, उसका कल्याण हो जाये, उसका कल्याण हो जाये, उसका दुःख मिट जाये, इस प्रकार की भावना जो आपके दिल में होगी, वह विशाल होगी, असीम होगी। वह वस्तु जो आप देंगे दूसरों को, उस वस्तु से अन्य शरीरों की सेवा बनेगी, और आपके भीतर सद्भाव होगा कि हे प्रभु सबका दुःख मिटे, हे प्रभु सबका कल्याण हो। ऐसी सद्भावना जो आपके दिल में होगी, उसके द्वारा आपका चित्त शुद्ध होगा। यह पहला फल बन गया उसका। आपका चित्त शुद्ध होगा और आपकी सद्भावना से, समाज में सद्भावना फैलेगी, यह समाज की सेवा बन गई। ऐसे हमारा-आपका इस संसार में रहना बहुत ही सुन्दर उपयोगी हो सकता है।

दुःखों का नाश कैसे होगा ? तो अभी हम लोगों ने सन्तवाणी में यह सुना, कि जो सुख के भोगों का त्याग कर देगा, भोगों की इच्छाओं और वासनाओं का त्याग कर देगा, उसका दुःख मिट जायेगा। दुःख मिटाना हम लोग चाहते हैं कि नहीं ? जी ? अपना भी और दूसरों का भी। जी ? चाहते है दुःख मिटाना। दुःख मिटाने का उपाय क्या है? तो बहुत ही पक्का परीक्षित, प्रमाणित उपाय यह है कि अपने में से सुख-भोग की प्रवृत्ति और सुख-भोग की वासना दोनों को निकाल देना चाहिए। यह दुःख निवृत्ति का उपाय है। सुख भोगों की प्रवृत्तियों को

और इच्छाओं दोनों को छोड़ना पड़ेगा। इन दोनों का त्याग यदि हमने कर दिया, तो अपना चित्त शुद्ध हो गया, अन्तर में बहुत शान्ति आ गई। और जिसे स्वयं सुख भोगने की इच्छा नहीं है, उसके पास आई हुई सामग्री अवश्य ही सेवा में लग जाती है। वह क्या करेगा अपने पास रखके। उसके पास अगर सामग्री आयेगी तो वह सेवा में लगा देगा। इस तरह से हमारा जो यह बाह्य जीवन है, जगत् में रहने का एक अवसर और क्रम है। यह सुन्दर बन सकता है। और आप सोचिए, ऐसा कोई व्यक्ति हो, जो काम करने में समर्थ है और उसके पास सामग्री भी है फिर भी वह शरीरिक बल को और अपने पास की सामग्री को, अपने सुख भोग में न लगा कर सेवा में लगाता हैं तो ऐसे व्यक्ति को समाज पसन्द करता है कि नहीं ? और समाज पसन्द करने लग जाये तो क्या उस सेवाभावी को भूखा-प्यासा रहना पड़ेगा ? जी ? नहीं रहना पड़ेगा।

एक बहुत अच्छी घटना मुझे याद आ गई। स्वामीजी महाराज ट्रेन में बैठकर जा रहे थे। 1st Class में बैठे थे, और तब ये अन्न नहीं खाते थे। तो उनको देने के लिए दूध और फल लाये जाते थे। तो कुछ लोग स्टेशन-स्टेशन पर गऊ का दूध घर से बनाकर लाते थे, कुछ लोग फल रखकर जाते थे। दो-चार नवयुवक लड़के उसी Compartment में स्वामीजी महाराज के साथ बैठे थे। उन्होंने कुछ देर तक देखा, बाबाजी के पास तो बहुत दूध आ रहा है, फल आ रहा है, तो वे मनचले लड़के कहने लगे कि चलो भाई, हम लोग भी साधु हो जायें, फिर महाराजजी से कहने लगे, महाराजजी हम लोग भी साधु बन जायेंगे तो हम लोगों को भी दूध, फल सब मुफ्त में मिलेगा ? तो स्वामीजी ने कहा कि नहीं भैया ! मुफ्त में नहीं मिलता है। लड़कों ने कहा कि ऐसा कैसे ? हम लोग तो इतनी देर से देख रहे हैं। आपको तो सब कुछ मुफ्त में मिल रहा है। तो स्वामीजी ने खूब प्यार किया उनको और कहा कि भैया ! तुम नहीं जानते हो, मुफ्त में नहीं मिल रहा है। हमने कितना दिया है, तुमको क्या पता ? कितना छोड़ा है ? तब यह आ रहा है। सो तुमको जानना चाहिए।

फिर वे लड़के चुप हो गये, कुछ बातचीत नहीं हुई मैं तो वहाँ थी नहीं स्वामीजी महाराज ने बाद में हम लोगों को सुनाया। इतना ही सुनाया कि लड़कों ने ऐसे-ऐसे कहा कि महाराजजी ! हम लोग तो देख रहे हैं, इतनी देर से, आपके पास तो सब सामान बिल्कुल free आ रहा है तो महाराज ने कहा कि नहीं भैया ! free नहीं आ रहा है, मैंने कितना दिया है तुमको क्या पता। इसे free मत समझना। यह free नहीं है। इतना ही स्वामीजी महाराज ने हम लोगों को भी सुनाया। मैंने भी कुछ पूछा नहीं।

मैं विचार करने लगी भीतर-भीतर कि सचमुच समाज की ओर से आवश्यक वस्तुएँ आने लगती हैं, आवश्यक सहयोग आने लगता है। और अहं-शून्य वीतराग, सन्त महापुरुषों के शरीर की रक्षा, प्रकृति करने लगती है, परमात्मा करने लगते हैं समाज करने लगता है। ऐसा तो हम लोगों ने देखा है। आनन्दमयी माताजी स्वामीजी महाराज को लेकर जा रही थीं। उनका जन्मोत्सव होता था, मई के महीने में। बड़ी कड़ी धूप थी, और लेकर चलीं, नौका पर से उतार गंगाजी के तट पर, वाराणसी के आश्रम में। बड़ी कड़ी धूप थी, तो कहने लगीं अरे, बाबा को धूप लग रही हे, छाया होती, बादल हो जाते तो अच्छा था। तो माँ के भीतर यह संकल्प हुआ कि एकदम घने बादल आ गये, और खूब छाया फैल गई। जितना दूर स्वामीजी महाराज को ले करके वे मण्डप तक गई, यज्ञशाला तक गई, उतनी दूर तक बादलों की छाया रही, स्वामीजी महाराज के पीछे-पीछे हम भी जा रहे थे, कई लोग थे, हम सब लोगों ने यह अनुभव किया था। सन्त के भीतर जरा-सी पीड़ा हुई कि अरे ! बाबा को कष्ट हो रहा है, धूप लग रही है, बस एकदम घने बादल आ गये। देखी हुई बात है। तो एक-दो नहीं, अनेक उदाहरण सामने है कि प्रकृति मदद करती है, परमात्मा मदद करते हैं, समाज मदद करता हैं। ऐसा होता है।

मैंने जब सोचा तो मेरे ध्यान में आ गई बात, कि भाई जिसने सुख की प्रवृत्ति को छोड़ दिया और जिसने सुख के संकल्प को भी छोड़ दिया, ऐसा संकल्प भी नहीं रहा के अमुक समय पर भोजन मिलना ही

चाहिए कि अमुक प्रकार का मिलना चाहिए, कि शरीर को जीवित रखना ही चाहिए। उसकी फिर भी स्वाँस चल रही है तो भगवान को उससे समाज की सेवा कराना है। 'मैं' तत्त्व-बोध और प्रेमस्वरूप परमात्मा से अभिन्न हो जाने वाली बात नहीं कर रही हूँ। मैं यह कह रही हूँ कि मनुष्य होने के नाते जिस समाज में हम लोग रहते हैं, जिस धरती पर चलते फिरते हैं, प्रकृति की बनाई उस वाटिका को, उस सुन्दर सी सृष्टि को और मूर्तियों जैसे विविध प्रकार के व्यक्तियों से सजे हुए समाज को, सुन्दर से सुन्दर कैसे बनाया जा सकता है ? यह पहला प्रश्न हम सभी सत्संगी भाई-बहिनों के सामने होना चाहिए। आप सबके दिल-दिमाग में यह बात रहती है कि जिस समाज में मैं हूँ वह सुन्दर होना चाहिए और मेरा जीवन बहुत ही कुशलतापूर्वक, सम्मानपूर्वक बीतना चाहिए। बोलिए-आपके भीतर यह बात रहती है कि नहीं ? जी ? तो ऐसा कैसे होता है ? वह उपाय मैं आपके सामने बता रही हूँ।

स्वामीजी महाराज ने कहा कि भैया, यह सब free नहीं है। बड़ा मूल्य चुकाया है। उसका कौन सा मूल्य चुकाया है ? सुख की प्रवृत्तियों का त्याग किया है, और सुख की इच्छाओं का त्याग किया है, और शरीर पर से अपना अधिकार उठा लिया है। समाज चाहे तो इसको सँभाले और रखे। रखेगा तो उसकी सेवा करेंगे, और नहीं रखेगा तो मेरी बला से, इतना निःस्पृह होना चाहिए। ऐसा नहीं कि मैंने सुखों का त्याग कर दिया, मैंने सुख की प्रवृत्तियों का त्याग कर दिया, तो इतने बड़े महात्मा हम हो गये, तो समाज को तो मेरे चरणों पर लोटना ही चाहिए। अगर ऐसा किसी के भीतर claim बनता है तो वह महात्मा हो ही नहीं पायेगा। समाज की सेवा के लिये मैंने जीवन-दान किया है, तो सारे समाज को मिल करके, हमारी हर इच्छा की पूर्ति करनी ही चाहिए। मेरी हर सुविधा समाज को देखनी ही चाहिए। संस्था के कार्यकर्त्ता हम बने हैं, तो संस्था की सारी शक्ति मेरे ऊपर बरसनी ही चाहिए, अगर ऐसा किसी के दिल में आता है तो उसका तो दुःख ही नहीं मिटेगा। सुख की वासना ही नहीं छूटेगी, मनुष्यता ही नहीं रहेगी तो मुक्ति और भक्ति को तो ताक पर रख दो। वह तो बड़ी दूर की बात है।

मेरे बचपन में घर में एक कहावत सुना करती थीं-"आये थे हरिभजन को ओटन लगे कपास।" जब मैं साधक कोटि के भाई-बहिनों को देखती हूँ कि समाज के लिए उपयोगी होना, अपने चित्त को शुद्ध करना, जो सेवा का पात्र है उसकी सेवा देने में, अपने भीतर महत्त्व की Superiority भावना रखना, कि मैं विशेष व्यक्ति हूँ और यह कम है, इसलिए यह मुझसे सेवा लेने आया है, ये सब दोष ऐसे हैं कि साधना के पथ पर एक कदम भी आगे नहीं बढ़ने देते। आप सभी भाई-बहिन अपने को संसारी कहते हैं, अपने को गृहस्थी कहते हैं, अपने को सामाजिक कहते हैं और सब ओर से थोड़े दिनों के लिए छुट्टी लेके सत्संग के नाम पर आकर यहाँ बैठे हैं, तो आपका जो जीवन का पहला पाठ है कि किस प्रकार आगे बढ़ना चाहिए, वह सन्तजनों ने हम लोगों को पढ़ाया है और यह कहा है कि जिसने संसार में, ठीक प्रकार से रहना नहीं सीखा, उसमें से संसार की आसक्ति नहीं निकलेगी। संसार में रहना नहीं आया, तो संसार से मुक्त होने की सामर्थ्य कभी नहीं आयेगी। संसार में रहना सीखना है। क्या करना है ? उसमें कोई training लेनी पड़ेगी, ऐसा कुछ नहीं हैं। विचारशक्ति से काम लीजिए। काम बन जायेगा। विचार करने की बात क्या है ? कि जिसने सुख पसन्द किया वह दुःख से बच नहीं सकता। तो जिसको दुःखों से बचना है उसको सुख से बचना चाहिए, तो काम बन जायेगा। यह यहाँ पर रहने का सुन्दर तरीका है।

अब तक जो कुछ संसार की संगति का प्रभाव अपने पर अंकित हो चुका है, उसके नाश के लिए क्या उपाय करें। तो जगत् में और समाज में सशरीर रहने का जितना समय मिलेगा, उसी समय के सदुपयोग से पुराने प्रभावों को हम लोग मिटा सकते हैं। व्यर्थ चिन्तन का भी नाश हो जायेगा और शरीर, संसार की आवश्यकता भी अपने लिए खतम हो जायेगी। एक बात हो गई। अब दूसरी बात देखो-प्रकृति की सम्पत्ति है सारी सृष्टि और प्रकृति ही की सम्पत्ति में ये सारे शरीर भी आते हैं। बिल्कुल भौतिक दृष्टि से देखो। मैंने प्रकति का विधान ऐसा सुना है और पढ़ा है कि जो मनुष्य प्राकृतिक सम्पत्ति का

दुरुपयोग नहीं करता है उसको उसमें बहुत ही आसानी होती है कि शरीर और संसार की पराधीनता से ऊपर उठ जाये और उसके ऐसा करने में सारी प्रकृति आनन्दित होती है।

Theosophical Society के एक अच्छे सन्त हो गये हैं जिन्होंने निर्ममता और निष्कामता का आनन्द पाया। मेरा व्यक्तिगत कुछ नहीं है, सारी सृष्टि एक है। प्रकृति एक unit अर्थात् ईकाई है। उसी का सब विस्तार है। तो मेरा व्यक्तिगत कुछ नहीं हें ऐसा मानने से ममता का नाश हो गया और चूँकि मुझे अविनाशी जीवन चाहिए। तो निष्कामता का आराम उनको मिल गया। उनको निर्ममता और निष्कामता प्राप्त हो गई थी, इतनी तो जानी हुई बात है, इसके आगे उनको क्या-क्या मिला होगा वे जानें। उन्होंने विचार प्रकट किये, अपना अनुभव बताया। थियोसोफिकल सोसाइटी की एक आध्यात्मिक पत्रिका निकलती है, उसमें निबन्ध उनका छपा था। 'Return Journey' घर वापिस जाने की यात्रा। उसमें बताया कि इस प्रकृतिक जगत् में व्यक्ति रहता है। वह अगर प्रकृति की सम्पत्ति को नुकसान पहुँचाना छोड़ दे तो प्राकृतिक शक्तियों में बड़ी प्रसन्नता भर जाती है, और उसके भी आगे उसने अगर प्रकृति की वस्तु पर अपना अधिकार जमाना छोड़ दिया, तो प्रकृति में बड़ी उदारता आ जाती है।

पहले भी आपने सुना होगा, ऋषि-मुनि वन में रहा कहते थे, तो गऊएँ आकर कुटिया के सामने खड़ी हो जाती थीं, और बिना दुहे उनके दूध बहता था और ऋषि-मुनि अपने पात्र में ले लेते थे और पी लेते थे। और फलों के वृक्षों में खूब फल लगते थे और फल-फूल देकर प्रकृति उनको भरपूर रखती थी। ऐसा हम लोगों ने सुना है। जी, सुनी हुई बात है, झूठी इसलिए नहीं है कि समष्टि शक्ति के कार्य में जो अपनी ममता और कामना की बाधा नहीं डालता है, प्रकृति की उपजाई हुई वस्तुओं, फल-फूल और अनाज इत्यादि का जो संग्रही नहीं बनता है, तो प्रकृति उस पर बहुत प्रसन्न होती है, उसमें बड़ी उदारता बढ़ जाती है, उसके हाथ में कोई समान दे दो, तो खतम ही नहीं होता हैं, बढ़ता जाता है, सेवा में लगता जाता है, अभाव कभी नहीं होता है।

यह आजकल के समाज-सेवी भी कहते हैं, और मैंने देखा भी हैं। ऐसा हो जाता हैं। प्रकृति में बड़ी उदारता आ जाती है।

आगे उन्होंने लिखा कि इस जगत् की भूल-भुलैया से छूट करके, कोई सत्पथ का पथिक, कोई सत्यानुरागी, अपने वास्तविक जीवन की ओर बढ़ रहा हो, तो सारी प्रकृति उसके साथ आनन्द मनाती है और फिर अपना अनुभव वह लिखते हैं कि मेरे भीतर-बाहर सब तरफ इतना आनन्द भरा है कि मेरे मार्ग के वन के वक्षों के पत्ते जो डोल रहे हैं ऐसे आनन्द से डोल रहे हैं कि मुझे लग रहा है कि मानो प्रकृति ताली बजाकर नाच रही है, इस खुशी में कि एक व्यक्ति दुनिया के बन्धन से मुक्त होकर अपने घर जा रहा है। खुशी मना रही है। सारी प्रकृति जैसे नृत्य कर रही हैं। बहुत अनुकूल हवा चल रही है। वृक्षों के पत्ते डोल-डोल कर ताली बजा रहे हैं। जगत् आनन्द मना रहा हैं। किस बात के लिए ? कि एक आदमी जिसने प्रकृति की सम्पति को अपनी ममता से दूषित नहीं किया, जिसने प्रकृति की सम्पति पर अपनी कामना की कुदृष्टि नहीं डाली, वह आज अपने घर जा रहा है। कहाँ जा रहा है ? जहाँ मृत्यु नहीं है। जहाँ दुःख नहीं है, अभाव नहीं है। अर्थात् जिसमें से उसकी उत्पत्ति हुई थी, उसमें मिलने जा रहा है। तो उनके भीतर बड़ा आनन्द भरा था। उसका पूरा-पूरा वर्णन कोई अनुभवी सन्त-महात्मा भी कर नहीं सका, शब्दों में प्रकाशन उसका हो ही नहीं सकता, क्योंकि वह अमूर्त जीवन मूर्त चिन्तन में भी नहीं आता हैं, तो फिर मूर्त शब्दों में कैसे बंधेगा ? पूरा-पूरा तो कोई कह ही नहीं सकता है, लेकिन थोड़ा जितना उनसे कहते बना, उन्होंने कहा और तब से मुझे ऐसा लगता है कि जैसे किसी जगह पर आप खड़े हैं, व्यवहार का जगत् है, परिवार की बात है, समाज की बात है, और आपके भीतर Conflict हो रहा है, द्वन्द्व हो रहा है। वस्तु का त्याग करें कि प्रेम का त्याग करें कि परस्पर के सम्बन्ध का त्याग करें, कि धन का त्याग करें कि सुख का त्याग करें ? ऐसी संकट की घड़ी आती है कि नहीं ? जी ! आती है।

उस समय स्वर्गाश्रम में, गीताभवन में, परमार्थ निकेतन में बैठ करके सुनी हुई सन्तवाणी की याद आपको आ गई। सन्तों के वचन आपके भीतर अंकित है संकट की घड़ी में उदित हो गये, और आपने सद्विचार का सहारा ले लिया कि अरे भाई ! छोड़ो वस्तु तो छूटेगी ही, व्यक्ति का सम्बन्ध क्यों बिगाड़ें। अरें भाई ! धन तो जड़ हैं, अपना न सही, सौतेला भाई ही सहीं, सजीव आदमी तो है। धन का लोभ छोड़ो, भाई का प्रेम रख लो। भले ही वस्तु का त्याग कर दो और रोगी के सिरहाने खड़े हो जाओ। अगर यह भावना आ गई आपके भीतर, तो अनुभवीजनों का कहना है कि जो मनुष्य संसार में रहते हुए, द्वन्द्व की घड़ी में सद्विचारों का सहारा लेकर सत्य को महत्त्व दे देता हैं, छूटने वालों को छोड़ देता है तो उसी समय उसके सद्विचार से आनन्दित होकर उसके पाँव के नीचे से धरती ऊँची हो जाती है। उसका बड़ा समर्थन है। प्रकृति में, परमात्मा मे, समाज में, सन्तजनों में, बड़ा समर्थन है।

आपके सद्विचार का यहाँ से हम भाई-बहिनों को आरम्भ करना है। आरम्भ करिये। सब मदद करेंगे आपकी।

मैंने तो जीवन में अनुभव करके देखा कि प्रकृति में इतनी सहृदयता है आपके प्रति, परमात्मा में इतनी सद्भावना है आपके प्रति, समाज में अतनी उदारता है आपके प्रति, कि अच्छा काम करेंगे आप पीछे, केवल भीतर में संकल्प उठता है कि हम ऐसे अच्छे-अच्छे रहें, संसार में अच्छा-अच्छा काम करें, अपने को अच्छा बनाएँ, बुराइयों का त्याग करें। तो समाज भी आपका विश्वास कर लेता है, प्रकृति भी सहायता दे देती है। परमात्मा भी विश्वास कर लेते है और सब खूब सहयोग देते हैं। तो मैंने तो पाया कि जब-जब मेरे भीतर अच्छाई की ओर बढ़ने के लिए संकल्प उठता था और तरह-तरह की बातें दिल में आती थीं, कि अब ऐसा हो तो जीवन ऊँचा उठे तो मैं सोचती थी कि ऐसा हो, मैं माँगती नहीं थी परमात्मा से। माँगती कैसे ? उनसे तो नाराज ही रहती थी। तो माँगती नहीं थी, केवल भीतर सोचती थी कि अब ऐसा हो कि परमात्मा के घर का दरवाजा देखा हुआ कोई सन्त

मिल जाये तो मुझको दरवाजा दिखा दे। ऐसी कल्पना मेरे भीतर आती, ऐसी आवश्यकता मुझे महसूस होती थी, तो यह काम परमात्मा ने पूरा कर दिया। ऐसे ही जहाँ-जहाँ, जब-जब, साधन काल में साधकों को आवश्यकता मालूम होती है, तो समाज भी सहयोग देता है, प्रकृति भी सहयोग देती है, सन्त-महापुरुषों की सद्भावना साथ देती हैं, और परमकृपालु की कृपालुता का तो कोई अन्त ही नहीं हैं। इतना अच्छा विधान है मनुष्य के उत्थान के लिए ! केवल अपनी ही भूल है कि सत्संग का सहारा लेकर अच्छी-अच्छी बातों को सुनने का आनन्द हम लेते रहें, फिर भी जितना विकास होना चाहिए था, उतना नहीं हुआ, तो इसका एकमात्र कारण यही है कि अभी तक मैंने अपना उतना विकास पसन्द ही नहीं किया। थोड़ी सज्जनता आ गई। थोड़ा अच्छा रहन-सहन बन गया। समाज में सम्मानपूर्वक जीने का इन्तजाम हो गया तो उसी में हम अपने को, फुसला के, बहला के, दिन काट रहे हैं। लेकिन इसमें हमको बहुत घाटा लग रहा है।

इस वर्तमान में जैसा अवसर मिला है, इस वर्तमान में जितनी सामर्थ्य और समय बच गया है, उसका सदुपयोग नहीं करेंगे तो बड़ा ही जबरदस्त विधान है मनुष्य के साथ प्रकृति का, कि इस अवसर को हाथ से निकल जाने देंगे, तो आगे यह परिस्थिति भी नहीं रहेगी। बल घट जायेगा, अवसर निकल जायेगा। जड़ता बढ़ जायेगी तो रास्ता लम्बा हो जायेगा। स्वामीजी महाराज कहते- आज जितनी चेतना लगती है आपके भीतर, कि भाई ! नींद का सुख भी छोड़ दो, आलस्य भी छोड़ दो, घर का आराम भी छोड़ दो और बड़ी फुर्ती से, तत्परता से सत्संग में बैठों, वचन सुनो, अपने को सुधारो। तो जितनी चेतना और जितना चाव आज हैं, उसके आधार पर ममता और कामना को छोड़ने का पुरुषार्थ करके शरीर और संसार की पराधीनता को तोड़कर अमर जीवन से अभिन्न होने का पुरुषार्थ हम लोगों ने नहीं किया, और आज का अवसर निकल जायेगा, तो पता नहीं कल क्या होगा ?

स्वामीजी महाराज को जब मैं साधकों के साथ बातचीत करते देखती, सुनती, तो वे कहते थे कि भैया ! आज करो, चाहे कल करो, अभी करो, चाहे कभी करो, मौज तुम्हारी है। लेकिन बात ऐसी है कि रास्ता बहुत लम्बा हो जाता है और बिना उस पुरुषार्थ के सब प्रकार के दुःखों की निवृत्ति नहीं होगी। बिना उस पुरुषार्थ के परम प्रेम की सरसता के बिना जीवन पूर्ण होगा नहीं। अभाव में जीना आपको पसन्द नहीं है। उसके लायक आप बनाये ही नहीं गये। जड़ता का भाग (portion) हम लोगों को इतना नहीं मिला है कि पशुओं की भाँति पेटभर जाये तो बैठकर पागुर (जुगाली) करते रहें निश्चिन्तता से, सो नहीं हुआ। मानव तो चाहता है कि इतना हो गया तो अब ऐसा होना चाहिए, उतना हो गया तो अब यह और होना चाहिए। अब तक का जीवन देख लिया जो फीका लगता है। अब तो ऐसा जीवन मिले, कि जिसको मृत्यु छू न सके, अब तो ऐसा आनन्द मिले, ऐसा आनन्द मिले कि वह कभी घटे नहीं। अब तो ऐसा प्रेमी मिले, कि जिसका साथ कभी छूटे नहीं।

यह किसकी माँग है ? जी- अपनी है ना। अपनी कहने की भी तो हिम्मत करो भाई। मनुष्य की माँग है, अपनी माँग है तो इतना ऊँचा जीवन हो सकता है। इसको छोटी-छोटी बातों में उलझा कर न बितायें तो अपने पर अपनी बड़ी कृपा होगी। ममता और कामना चली गई। ममता से मुक्त होकर, कामनाओं से रहित होकर चित्त की शुद्धि में, शान्ति में, बहुत अच्छा लगा, बड़ा प्रिय लगा। अब उसके बाद, स्वामीजी महाराज यह कह रहे हैं कि उससे भी ऊँचा रस एक और है। वह क्या हैं ? कि अपने को कुछ भी नहीं चाहिए, फिर भी अविनाशी तत्त्वों से रचा हुआ यह छोटा-सा सीमित अहंभाव है जो एक अलग-सी ईकाई है। इस सीमित अहंभाव को लेकर, उस असीम अनन्त के समर्पित करो। बिना देखे, बिना जाने उस अनन्त को बिना किसी शर्त के समर्पित करो और उसको जानने की जरूरत भी नहीं है। और अपने को उनसे कुछ चाहिए भी नहीं, लेकिन सबसे ऊँचे जीवन के लिए सबसे बहुमूल्य अनमोल रस की उत्पत्ति के लिए उस पर अपने

को समर्पित करो। उसके होकर रहना पसन्द करो। उसकी प्रसन्नता के लिए, अपने इस तुच्छ छोटे से व्यक्तित्व रूपी unit पर से अपना अधिकार उठा लो। अपने पर अपना अधिकार न मानना, अपने में अपना कोई संकल्प न रखना बहुत बड़ी बात है, भक्ति पंथ के साधकों के लिए। भगवत् अनुराग की वृद्धि होना बहुत बड़ी बात है। अपने सब संकल्प उनके संकल्प में विलीन कर दीजिये।

एक सेवाभावी मिशनरी महिला जहाज में २०० सेवाभावी व्यक्तियों को लेकर, बहुत-सा सामान लेकर, युद्ध के घायल सिपाहियों की सेवा करने जा रही थीं। बीच में तूफान आ गया, जहाज टकरा गया, साथी बिखर गये और उन्होंने अपने को एक छोटे से टापू पर पाया। शाम का समय हो गया, प्रार्थना का समय तो निश्चित रहता है उनका। वह बैठ गई प्रार्थना में। उस समय उनके ध्यान में आया। कहने लगीं कि हे पिता ! तुम्हारा काम करने मैं जा रही थी, यह क्या खेल किया तुमने, ऐसा क्यों कर दिया, बिखर गये सब साथी, कब मिलेंगे ? कहाँ-कहाँ सामान सब बिखर गया। मैं तो यहाँ बैठी हूँ, कुछ बात नहीं। लेकिन आपका काम तो बिगाड़ा आपने। ऐसा क्यों किया ? तो उनको भीतर से ऐसी आवाज मिली, जैसे परमात्मा ने कहा हो- कि मैं निज-जनों के साथ ऐसे ही खेल खेलता हूँ। तो हँसकर के वह महिला कहती हैं कि कभी तुम्हारा निज-जन ऐसा कोई हो तो मिले। तुम्हारे निज-जन होने में लोग डरते हैं, दूर रहते हैं। क्यों तुम ऐसे खेल-खेलते हो ? कौन खेले तुम्हारे साथ ? तो उसके मन में क्षोभ नहीं है, उसके भीतर अभिमान नहीं हैं। इतना सामान लेकर जाने में भी प्यारे का संकल्प, प्यारे का काम और जहाज को बिखेर दिया तो उसकी मौज, उसका खेल। और जब उसके भीतर यह उत्तर मिला कि मैं निज-जनों के साथ ऐसे ही खेलता हूँ, तो कहती हैं कि इसीलिए तुम्हें कोई निज-जन जल्दी मिलता नहीं है। ऐसे खेलोगे तो कौन मिलेगा। तो आनन्द है भीतर, और दृष्टि उसी बात पर गई कि तुम्हारा निज-जन होने का साहस कम लोग करते हैं, क्योंकि तुम यों खेलोगे तो ऐसा वीर कौन है।

तो इसका अर्थ क्या निकला कि उनके खेलने का खिलौना बनने के लिए, जैसे स्वामीजी महाराज ने अपने भाव बताये थे कि "लाला-लाली के खेलने का फुटबॉल हूँ।" तो बिल्कुल ही अहं शून्य होना पड़ता है। अपना संकल्प नहीं, अपने पर अपना अधिकार नहीं। सब अधिकार छोड़कर उनको दे दो, फिर देखो क्या गुल खिलाता है। बड़ा आनन्द। बड़ा आननद ! ! इस प्रकार के निस्पृह, निज-जन पर वे परम प्रेमास्पद स्वयं अपने को न्यौछावर करते हैं। ऐसा मैंने सन्तों की वाणी में सुना है। अभी तक तो यह लालसा ही है कि देखेंगे कि वे क्षण कैसे होते हैं ? अब यह लालसा पूरी होगी तब बताऊँगी।

(36)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

नाशवान की ओर से अपना सम्बन्ध तोड़ लेना और अविनाशी से जो नित्य सम्बन्ध है, सदा-सदा से है उसको मान लेना। ये दो ही बातें हर प्रणाली के साधक के लिये अनिवार्य तत्त्व हैं। वह अपने माने हुए अनित्य सम्बन्ध को अस्वीकार कर दे, अपने लिए उसकी आवश्यकता अनुभव न करे। फिर भी एक खास बात यह है कि साधक होने के नाते हम लोगों के जीवन में वास्तविकता का महत्त्व है, सत्य का महत्त्व है, निज स्वरूप के बोध का महत्त्व है, अविनाशी परमात्मा के परमप्रेम का महत्त्व हैं। किन्हीं भी शब्दों में कहें, इनका बड़ा भारी महत्त्व है। फिर भी शरीरधारी होने के कारण संसार से सम्बन्ध रहता है, सम्पर्क बनता है, जगत् दिखाई देता है, शरीरों को सँभालने के लिये जगत् से सहायता लेनी पड़ती है और शरीर तथा संसार की आसक्ति से मुक्त होने के लिए शरीर के जगत् की सेवा भी करनी पड़ती है। यह भी एक जरूरी बात है।

अब दोनों ही पक्षों को बहुत ही निर्मलता के साथ हम लोगों को निभाना है। अपने में परम स्वाधीनता की माँग है। अपने में परम-प्रेम के रस की प्यास है। तो इस ओर से भी हम आँखें बन्द नहीं कर सकते और शरीरों के रहते-रहते शरीरों को लेकर जगत् के बाहर भी नहीं जा सकते। ठीक है ? कहीं भी जायेंगे, अगर शरीर साथ में हैं, उसमें मेरा लगाव है तो सारे जगत् से लगाव है, ऐसा मानना चाहिए।

तो जो एक यूनिट अर्थात् ईकाई में है, वह ब्रह्माण्ड में है, संत वाणी में मैंने ऐसा भी सुना है कि अपने पास जो यह शरीर दिखाई देता है यह सृष्टि का एक छोटा सा नमूना है। यह भी ठीक है, जिसकी उत्पत्ति हो, जिसमें परिवर्तन हो, जिसका नाश हो, उसी को संसार कहते हैं। तो ये सारे लक्षण शरीर पर ही घटित होते हैं, इसलिए यह सृष्टि का एक नमूना है, छोटा ही है, पर है, यह मानना पड़ेगा। जब तक यह अपने साथ है तब तक अपने लक्ष्य की सिद्धि के लिए इसको भी ध्यान में रखना ही पड़ेगा। इसकी एकदम उपेक्षा नहीं कर सकते। अनुभवी संत ने साधकों की साधना को बहुत ही स्वाभाविक बनाने की चेष्टा की और उसमें जीवन के वैज्ञानिक सत्य को सामने रखा। भौतिक दर्शन को सामने रखा और यह बताया कि शरीर और संसार की निन्दा करने मात्र से इनके लगाव से व्यक्ति छूट जाए ऐसा नहीं होता। इनकी निन्दा भी मत करो, इनको बुरा भी मत समझो, इनको क्षति भी मत पहुँचाओ। इनसे रूठ करके अलग बैठने की बात भी मत सोचो। बहुत ही स्वास्थ्यकर और बहुत ही हितकर सलाह उन्होंने दी परन्तु साथ ही यह कहा कि एक ही बात अगर तुम्हें जँच जाये तो मान लो कि इस शरीर और संसार की सहायता से तुम्हें अविनाशी जीवन नहीं मिलेगा। हाँ एक बात होगी, अगर इनका ठीक उपयोग कर सकोगे तो इनका महत्त्व अपने मन पर अंकित नहीं हो पायगा। जिसको हम महत्त्वपूर्ण मानते हैं उसका एक प्रभाव जीवन पर चढ़ा रहता है। जिसको हम अपने लिए आवश्यक मानते हैं, उससे एक लगाव बना रहता है और जब तक बनने, बिगड़ने वाले से लगाव बना

रहेगा और उसका महत्त्व अपने पर अंकित रहेगा, तब तक उससे छूटना सम्भव नहीं है। न आँखें बन्द करने से, न एकान्त में छिपने से।

इन बाहरी उपायों से संसार का प्रभाव उतर जाये, ऐसा नहीं होता। क्रिया-जनित एक सुख होता है, उस सुख के प्रभाव से कुछ करने का राग होता है, उस राग के रहते हुए क्रिया को रोकना, अप्राकृतिक बात हो जाती है। प्रश्न केवल इतना है कि जिसको अनुत्पन्न, अविनाशी का बोध चाहिए, योग चाहिए, प्रेम चाहिए, उसको अपने जीवन में से उत्पत्ति विनाशयुक्त का महत्त्व निकाल देना चाहिए। इतनी सी बात है। प्रेम-पंथ के जो साधक होते हैं, विश्वास-पथ के, ईश्वर में विश्वास करना, उनका नाम लेना, उनकी चर्चा करना जिनको अच्छा लगता है, और इसी प्रकार की साधना भी वे करते हैं, उन साधकों से कभी-कभी ऐसी भूल होती है कि वे विचार-पक्ष की आवश्यकता अनुभव नहीं करते, और अगर कुछ निर्मम होने की, निष्काम होने की, नाशवान संसार से सम्बन्ध तोड़ने की, सब विश्वास एक विश्वास में, सब सम्बन्ध एक सम्बन्ध में विलीन करने की बात उनसे करो तो उनको ऐसा लगता है कि उनको इसकी जरूरत नहीं है। ऐसा मैंने सुना है कहीं-कहीं ऐसा भ्रम हो जाता है।

तो स्वामीजी महाराज ने इस तरह की चर्चा में एकबार हम लोगों को यह कहा कि देखो भाई ! अगर प्रेम के साथ ज्ञान को नहीं रखोगे तो ज्ञान शून्य प्रेम जो होता है, वह काम का रूप ले लेता है। आसक्ति बन जाती है। ऐसा होता है। इसलिए प्रारम्भ ही में आप देख रहे हैं, कि जहाँ प्रेम-पंथ की चर्चा आरम्भ हुई, तो संत कह रहे हैं कि भाई, निर्विकारिता और मुक्ति तो भक्त होने के लिए सहयोगी साधन के रूप में है। अगर भक्त की पृष्ठभूमि में निर्विकारिता नहीं है और निष्कामता नहीं है, उसकी सारी ममता खतम नहीं हो गई, जिसके पास अपना कुछ नहीं रहा हो और उसको अपने लिए कुछ नहीं चाहिए, जो ममता और कामना से मुक्त नहीं हो सकता, वह भक्त नहीं हो सकता।

बहुत बार विश्वास-पंथ के साधकों में यह भ्रम हो जाता है कि मुझे विचार से क्या मतलब, मुझे ज्ञान से क्या मतलब। मैं तो विश्वासी हूँ। लेकिन सच्ची बात यह है कि किसी भी वस्तु के प्रति ममता रह गई जीवन में, तो विश्वास सजीव नहीं होता है। और किसी भी प्रकार का संकल्प रह गया अपने अन्दर, तो विश्वास सजीव नहीं होता है। और दुनिया में किसी से भी सम्बन्ध रह गया, तो ईश्वर के साथ सम्बन्ध, जो बहुत ही कोमल, और आत्मीय सम्बन्ध होता है, वह सजीव नहीं होता। तो क्या होता है ? कि जब तक स्वास्थ्य अच्छा है, उम्र कुछ कम है और इन्द्रियाँ सतेज हैं तो ज्यादा देर तक बैठ सकते हैं, ज्यादा देर तक भजन कर सकते हैं, ज्यादा देर ते लिख-पढ़ सकते हैं, शरीर की सहायता से इस प्रकार की क्रियाओं में अच्छा तो लगता ही है, तो अच्छा लगता रहता है, मन बहलाव होता रहता है, भीतर की नीरसता का उतनी तीव्रता से अपने को दुःख नहीं होता क्योंकि क्रियाओं के आधार पर बाहर के थोड़े-थोड़े सहारे मिल जाते हैं। तो इन सहारों पर ईश्वर विश्वासियों के बहुत से दिन इस तरह से निकल जाते हैं कि भीतर में उस सत्य की अभिव्यक्ति की निश्चिन्तता भी नहीं आयी और क्रियाजनित सुख का राग भी नहीं मिटा और मोह के सम्बन्धियों में शामिल होकर उनके माध्यम से आदर, प्यार का व्यवहार पाकर आदमी संतुष्ट रहता है, अपने को बहलाता रहता है। तो समाज इतना उदार है कि आप कहने लग जायें, परिवार को, समाज को, कि मैं ईश्वर-विश्वासी हूँ, ईश्वर के भरोसे रहता हूँ और भजन-पूजन करने लग जायें और सदाचार पूर्वक रहें, कोई बुराई समाज को, देखने को न मिले तो इतने में खूब आदर और सम्मान भी मिलने लगता है। तो अच्छा ही तो लगता है, कोई घाटा तो नहीं लग रहा है। इस आधार पर बहुत-सा समय उस परम प्रेमास्पद को रस न देने की दशा में ही निकल जाता है।

जब बाहरी सहारे अपने काम नहीं आते हैं तब भीतर का सूनापन सताने लगता है, तब साधक को सूझता है कि अरे भाई, इतना समय निकल गया और मेरा तो यह काम बना ही नहीं। अन्दर से यह बात

पूरी हुई नहीं, तब उसको परेशानी होती है। इसलिए स्वामीजी महाराज ने विश्वास-पंथ और विचार-पंथ दोनों ही तरह के साधकों को यह अच्छी तरह से बताया कि भाई देखो ! अविनाशी की विद्यमानता का अनुभव और उनकी विभूतियों से जीवन का भरपूर होना तभी सम्भव होगा जब तुम नाशवान से अपना सम्बन्ध-विच्छेद करोगे। यह सम्बन्ध मानी हुई बात है, असलियत तो है नहीं। असलियत होती तो उसी में सन्तुष्ट हो जाते। हम लोगों ने मान लिया है तो उस सम्बन्ध का प्रभाव अपने पर चढ़ा हुआ है। उसको अस्वीकार कर देंगे तो असलियत में तो वह कभी था ही नहीं, इसलिए वह मिट जायेगा। कभी-कभी महाराजजी कहते थे क्या बतायें, कितने दुःख की बात है कि ईश्वर में ही विश्वास करने वाले लोग, मरे हुए सम्बन्धियों को नहीं भूलते हैं, और नित्य विद्यमान परमात्मा की उनको विस्मृति हो जाती है। दुःख की बात है कि नहीं ? मेरी माँ ऐसी थी, मेरे पिता ऐसे थे। तो ईश्वर के लिए ऐसा कहना कि माता-पिता तुम्हीं हो, तुम्हीं हो बन्धु-सखा, ऐसा कहना मेरा झूठ हो गया। अगर उनके अतिरिक्त मेरा और कोई है, अगर उनके अतिरिक्त मेरा और किसी पर ध्यान जाता है, तो सब सम्बन्ध एक सम्बन्ध में विलीन नहीं हुआ, और नहीं हुआ तो ईश्वर सम्बन्ध की सजीवता होती ही नहीं, और भक्तजनों के जीवन में आपने देखा है कि जैसे-जैसे उनका विश्वास सजीव होता जाता है, इधर का लगाव जो है वह तो पहिले ही से अस्वीकार कर दिया होता है और नित्य सम्बन्ध के प्रभाव से जब रस की निष्पत्ति होने लगती है तो सब पुराने लगाव जो बनाये थे, उनकी जरा-सी भी निशानी, मैमरीट्रेस अर्थात् स्मरण का लेशमात्र जो स्नायु में रह जाता है वह भी सब अपने आप मिटने लगता है।

स्वाभाविक बात तो यह है कि हम जब ईश्वरीय सम्बन्ध पर अपने को समर्पित करने के लिए तैयार हैं तो इस तैयारी में अपने पुराने सारे सांसारिक सम्बन्धों को अपनी ओर से अस्वीकार कर दें। और फिर जितनी भी वस्तुएँ हमने अपनी करके रख लीं थी उन सबको उनके समर्पित कर दें। संतवाणी के आधार पर इस [illegible] को स्वीकार

कर ही लें कि सृष्टि का मालिक वह ही एक है और सब कुछ उसी का हैं। सचमुच इस बात को मान लें तो बहुत आराम मिलता है।

छोटे से परिवार और घर की वस्तु और सम्पत्ति को सँभालने की चिन्ता में आदमी व्याकुल रहता है। लेकिन ईश्वर विश्वास को जीवन में धारणा कर लो और सब कुछ उनका है, इस सत्य को मान लो तो उसके बाद किसी भी वस्तु के प्रति आपको ऐसी चिन्ता नहीं रहेगी कि हाय! इसका क्या होगा? फिर क्या होता है? प्यारे की वस्तु है, तो वस्तु को सँभालने में तो बड़ी सरसता आ जाती है, अच्छा लगने लगता है। यह उनकी चीज है तो फेंक कैसे देंगे? अनादर कैसे करेंगे? ये सब बातें निकल गयीं तो वस्तुओं को सँभालने में और अधिक सरसता आ गयी और भीतर में निष्कामता है कि ये सब चीजें मेरी नहीं है। मेरी नहीं है तो ममता का लगाव खतम हो गया और प्यारे की है तो उनके उपयोग करने में सरसता आ गई और जितना अपने को दिखाई दे रहा है, और जितना वर्तमान कर्त्तव्य में सूझ रहा है, उस को सँभालने के लिए उसको बहुत ही सरसता के साथ और सजगता के साथ प्रयत्न कर लेने के बाद भी अगर कुछ उलट-पुलट हो जाये, तो ईश्वर-विश्वासी घबड़ाता नहीं है और चिन्ता भी नहीं करता है।

जब हमारे हाथ से कोई बात निकलने लगती है, और मुझे ऐसा लगता है कि अब यह अपने वश की बात नहीं रही, तो एकदम से याद आता है कि अरे भाई! जो अनन्त कोटि ब्रह्माण्डों को सँभाल सकता है उसकी चीज है। उसमें मेरी कहीं ममता का लेश रहा होगा तो मुझको दिखाने के लिए, कि तुम्हारा वश नहीं चलेगा, इसलिये आ गई होगी कठिनाई। फिर उसके आगे मुझे स्वयं भी सूझता है और साथ के साधकों को भी कहती रहती हूँ कि देखो भाई, इस शरीर से दुनिया में हम कुछ करने के लायक जब नहीं थे, अथवा यह शरीर जब उत्पन्न नहीं हुआ था तब भी सृष्टि चल रही थी कि नहीं चल रहीं थी? और जिस दिन अपना राम नाम सत् हो जायेगा उसके बाद संसार खतम हो जायेगा या चलेगा? तो मैं बहुत ही आनन्दित होती हूँ यह सोच करके, कि जिसके संकल्प मात्र से सब कुछ हो जाता है और अप्रयास

होकर जो सारा सँभाल रहा है, उसके रहते अपने को चिन्ता करने की कौन सी बात है ? चिन्ता बिल्कुल नहीं होनी चाहिए, ईश्वर-विश्वासी के जीवन में। हाँ, इस बात की प्रसन्नता मुझे जरूर रहती है कि इतनी बड़ी तुम्हारी मशीनरी, उसमें तुमने एक छोटा सा पुर्जा मुझे बना कर कहीं पर फिट कर दिया, छोटे से छोटे काम के लायक मुझे बना कर तुमने कुछ करने का अवसर मुझे दे दिया, इसी के लिये मैं बहुत अनुगृहीत हूँ। यह मुझे बहुत अच्छा लगता है। ईश्वर-विश्वासी के जीवन में किसी बात के लिए चिन्ता का कोई स्थान ही नहीं है। होना भी नहीं चाहिए।

MILTON (मिल्टन) की कविता हमको पढ़ाई जाती थी "ऑन हिज ब्लाइन्डनैस" (On his Blindness) बहुत ही प्रतिभाशाली कवि था और अधिक आयु न होते हुए भी उसकी आँखें खराब हो गई थीं, तो बहुत दुःखी हुआ और उस दुःख में उसने एक कविता लिखी, आप लोगों में से जिन्होंने कविता पढ़ी, उनको याद होगा, उसमें पहिले तो उसने दुःख प्रकट किया कि मेरे जीवन का आधा भाग भी नहीं बीतने पाया कि रोशनी चली गई। फिर वो अपनी उमंग लिखता है। सात-आठ स्टैंजा हैं, उससे कोई मतलब नहीं। आखिरी बात जो उसने लिखी कि आपके संकेत पर अनेकों-अनेकों समुदों में, जल और थल में तुम्हारी हजारों-हजारों एजेन्सियाँ तुम्हारे संकेत मात्र पर काम कर रही हैं, सृष्टि का संचालन हो रहा है, इसलिए मेरी रोशनी चली गई तो क्या ? और जो मैं काम करना चाहता था, सो नहीं कर सका तो क्या ? फिर भी मैं तुम्हारा सेवक हूँ। अच्छी स्प्रिट अर्थात् भावना वाला आदमी था, अन्त में उसने कहा कि "Those also serve who stand and wait." वे भी तुम्हारे सेवक हैं जो सेवा का अवसर पाने के लिए खड़े हैं और प्रतीक्षा कर रहे हैं अर्थात् मैं भी उनमें से हूँ, जब तुम अवसर दोगे तुम्हारी सेवा करूँगा। बार-बार मुझे उसकी बात, याद आती है। चिन्ता के लिए कोई स्थान नहीं है क्योंकि यह सब कुछ उनका है और सच्ची बात है कि उन्हीं की सत्ता से सब कुछ हो रहा है तो जो ईश्वर-विश्वासी साधक हैं उनके लिए भी अहं-शून्य होना अनिवार्य है।

अहं-शून्य कब होगा व्यक्ति ? यदि वस्तुओं को अपना माना तो सीमित वस्तुओं से लगाव बन गया और सीमित अहम्भाव पोषित हो गया। अगर संसार से किसी प्रकार की कामना रखोगे और संसार की सीमित वस्तु तुम्हें चाहिए तो उसकी जड़ता के प्रभाव से तुम्हारे भीतर जड़ता छा जायेगी और उसकी सीमा के प्रभाव से तुम्हारा अहम्भाव जीवित रहेगा। और वह वस्तु मिल गई तो उसके मिलने के सुख भोग के फल में सीमित अहंभाव पोषित होता रहेगा और कुछ काम करने का राग है, और उससे प्रेरित होकर काम किया, सफलता मिल गई, तो कर्त्तापन का अभिमान पोषित हो गया, और कर्तापन का अभिमान पोषित हो गया कि यह मेरी बहादुरी है कि मैंने ऐसा काम कर लिया तो आप उस नित्य तत्त्व से उस परम प्रेमास्पद से अपने को बहुत दूर पायेंगे। आपके भीतर जो अपने और उसके बीच की दूरी भासित हो रही हैं, उसका खास कारण यही है कि सीमित अहम्भाव को हम लोग पोषित करते रहते हैं। तो विश्वास-पथ के साधक भगवान का नाम लेना बहुत आसान मानते हैं, ले नहीं पाते हैं, लेकिन लेना बहुत आसान मानते हैं।

एक बहुत पढ़े-लिखे विद्वान पुरुष थे, अब उनका शरीर नहीं रहा। उन्होंने बहुत दिनों तक अपने को भ्रम में रखा। किस भ्रम में ? कि अरे भाई, जो होता है, प्रभु की कृपा से होता है। और मैं जब स्वामीजी महाराज के पास बैठकर, अपनी पूर्व तैयारी जो होती है, कि मैं निर्मम हो जाऊँ, मैं निष्काम हो जाऊँ, मेरे में से सब सम्बन्ध खतम हो जायें, मेरे में से सब विश्वास निकल जायें, एक ही विश्वास रह जाये, एक ही सम्बन्ध रह जाये, उसके लिये हमेशा स्वामीजी के पास बैठकर अपने पुराने दुर्गुणों की चर्चा करती रहती, उनका विश्लेषण करती रहती और उसमें से रास्ता निकालने की कोशिश करती तो वे सज्जन जो मुझे प्यार भी करते थे, छोटी बहिन की तरह मानते भी थे, वे विनोद में मुझको चिढ़ाते और कहते, देखिये बहिनजी ! आप तो बड़ी-बड़ी तैयारी करके जा रही हैं और मैं तो भाई, बैठा हूँ उनके भरोसे, तो बड़ी तैयारी करके आप फर्स्ट क्लास में बैंठेगी और मैं बेतैयारी के

थर्ड क्लास में बैठूंगा, लेकिन स्टेशन आयेगा तो मैं पहुँचने में पीछे रहूँगा क्या ? (हँसी............) अर्थात् बेतैयारी के चले जायेंगे तो उनका यह कहना भी सिद्ध नहीं हुआ और मेरी ओर से तैयारी करना भी सिद्ध नहीं हुआ। मेरी तैयारी में मेरा अहं था और उनकी बेतैयारी में उनकी लापरवाही थी, दोनों ही अधूरे रहे। अनुभवी संत ने दोनों को सुलझा दिया। मेरे को तो यह कहा कि लाली ! तुम अपनी सुन्दरता से उस अनन्त सौन्दर्यवान को रिझाना चाहती हो तो वह पट्ठा तुमसे कम सुन्दर नहीं है कि तुम्हारी सुन्दरता पर रीझ जायेगा। तो मेरा तो अभिमान गया। (हास्य...........) जो सारी सृष्टि को समझदारी दे सकता हैं, उसको किस समझ से पकड़ लोगे तुम। तो समझ-बूझ के आधार पर कोई भक्त नहीं बनता है। तुम्हारी समझदारी उसको पकड़ने में काम नहीं आयेगी। तो ऐसा-ऐसा कह के मेरी समझदारी का अभिमान मेरे भीतर से गलाया और अगर लापरवाही रखो कि हम कामना भी रखेंगे, ममता भी रखेंगे, हम माने हुये सम्बन्धियों का मोह भी रखेंगे और उनके सुख-दुःख का अपने पर प्रभाव भी बनाए रखेंगे, उनको खुश करने की चेष्टा भी करते रहेंगे, तो भाई, वे इतने प्रेमी हैं, तुम्हारे इतने प्रेमी कि और कोई दूसरा सम्बन्ध, दूसरा ध्यान, दूसरा चिन्तन उनको सुहाता ही नहीं हैं।

महाराज कहते, देखो देवकीजी ! अगर दुनिया के एक तुच्छ से पदार्थ का भी राग तुम्हारे भीतर है, ममता और कामना तुम्हारे भीतर है, तो वे ऐसे हृदय में प्रवेश करना पसन्द नहीं करते हैं। लाली ! अपने को पूरा का पूरा खाली करो, झोली में जो भरकर के लायी हो, उसको झाड़ दो, बिल्कुल तुम खाली हो जाओ, तब मैं सगाई की बात करूँ। तो विनोद की भाषा होती थी और बड़ा सत्य भी है। भक्तिपंथ के साधकों को इस बात का बहुत ही ध्यान रखना चाहिए कि भक्ति के साथ अगर ज्ञान का पक्ष नहीं रखोगे, निर्मम और निष्काम होने की शर्त अपने पर नहीं लगाओगे तो मानते ही रहो, मानते ही रहो, प्रत्यक्ष अनुभव का जो आनन्द होता है, उससे वंचित रहना पड़ेगा।

इसलिए महाराजजी ने कहा, कि निर्विकारता तो पृष्ठभूमि में

होनी ही चाहिए। भक्त कौन होता है, जो मुक्त होता है अर्थात् जिसको कुछ नहीं चाहिए वही भक्त हो सकता है। जिसको कुछ भी चाहिए वह भक्त नहीं हो सकता। तो हजार प्रकार की कामनायें भी रखो, अपने विविध प्रकार के संकल्प भी रखो और भक्ति के आधार पर अपने व्यक्तित्व की पूजा भी पसन्द करो और चाहो कि भक्तिरस से तुम्हारा जीवन पूर्ण हो जाये तो यह सम्भव नहीं होता।

समर्पण पक्का हो उसके लिए आवश्यक क्या है ? तो महाराज की बात देखिये, एक सभा में बैठे तो किसी ने प्रश्न किया- स्वामीजी महाराज जयपुर के बाद आपका कहाँ का प्रोग्राम हैं ? तो कहते हैं, भैया, गेंद को क्या पता कि खिलाड़ी किधर फेंकेगा ? इसको समर्पण कहते है। गेंद को क्या पता कि खिलाड़ी किधर फेंकेगा ? मुझे क्या मालूम जिधर भेज देंगे, चला जाऊँगा। जिधर लुढ़का देंगे, लुढ़क जाऊँगा।

एक दूसरे प्रसंग में पाँच-सात दिन पहले मैं स्वामीजी महाराज के वचन सुन रही थी- उसमें चर्चा आई कि अब तो ऐसी आवश्यकता मालूम होती है साधक समाज की सेवा के लिये, कि ऐसे-ऐसे रहना चाहिए। परन्तु उसी के साथ कह रहे हैं कि हे प्रभु ! यह मेरा संकल्प हो तो कभी मत पूरा करना.........और साधकों की भलाई के लिये तुम्हारा संकल्प होगा तो अपने आप पूरा हो जायेगा। मैं काहे को सोचूँ! तो ईश्वर विश्वास में सजीवता लाने के लिए सब प्रकार के संकल्पों से फ्री होना कितना जरूरी है ? अब हजार तरह के संकल्प हम लोग अपने भीतर रखते हैं, अब ऐसा करेंगे तो अच्छा होगा, अब यहाँ जायेंगे तो अच्छा होगा, अब यों रहना, अब किस प्रकार का रहन-सहन मिले तो अच्छा होगा ? और जिसके ऊपर आप सर्वस्व न्यौछावर करने बैठे, उसी के आगे हजार दरखास्तें। हे भगवान ! ऐसा हो जाये तो बड़ा बढ़िया हो। हे प्रभु यों कर देना तो बड़ा मजा आयेगा। यह क्या समर्पण हुआ भाई ? हम उनके काम आने के लिये अहम् शून्य होकर हर प्रकार से उनकी प्रसन्नता पर अपने को छोड़ने गये थे कि उनसे सम्बन्ध बनाकर कुद अपना ही मन्तव्य पूरा करने गये थे। तो जिसके पास

अपना मन है, जिसके पास अपने संकल्प है, जिसका दुनिया में और किसी से भी सम्बन्ध है उसका समर्पण सफल कैसे होगा ? मन बहलाव तो हो जायेगा। मन बहलाव तो हो जाता है। अच्छा भी लगता है। परिवार में, समाज में, कुछ आदर, सम्मान, सुविधायें भी मिल जाती है लेकिन भगवत् सम्बन्ध सिद्ध कहाँ होता है ? इसलिए भाई ! आप सब भाई-बहिन जो बैठे हैं, आप में से कई भाई-बहिन विश्वास-पंथ के साधक होंगे। बात तो सभी साधकों के लिए है, लेकिन विश्वास-पंथ की बात मैं विशेष रूप से कह रही हूँ।

स्वामीजी महाराज ने विचार-पंथ वालों को निराश्रय और स्वाश्रय और विश्वासियों के लिये, हरिआश्रय, ऐसा बताया था। तो चाहे स्वाश्रय लो, चाहे हरि आश्रय लो। दुनिया का आश्रय छोड़ना सभी साधकों के लिए आवश्यक है। यह बात आपको जँच रही है कि नहीं? जी ? (श्रोता-जँच रही है) अगर विश्वास-पंथ में सजीवता लाना ही चाहते हैं कि भाई ! नाम को याद करने की जरूरत न रह जाये, अपने आप ही स्मृति जाग्रत हो जाये, ऐसा अगर हम लोग पसंद करते हैं तो इस दिशा में प्रयास जो हमारा होगा वह केवल इतना होगा कि उत्पत्ति, विनाश की तरफ मेरा लगाव है, उसको तोड़ने में हमें अपनी सब शक्ति लगा देनी चाहिए। तो वृद्ध माता-पिता की सेवा नहीं छूटेगी, छोटे नन्हें बच्चों की सेवा नहीं छूटेगी, कि आये हुए अतिथियों का आदर-सत्कार बंद नहीं होगा। ये सब बाहर की बातें नहीं बदलेंगी लेकिन भीतर की बातें बदल जायेंगी। उनका बदलना बहुत जरूरी है। जब एक को जगत् का मालिक माना, तब फिर एक भी शरीर पर अपना अधिकार न मानना बहुत जरूरी है, और जगत् का मालिक जब उनको माना तो फिर किसी भी वस्तु को अपनी नहीं मानना, उस पर अपना अधिकार नहीं जमाना, बहुत जरूरी है, और एक ही से अपना सम्बन्ध है तो और किसी से अपना सीधा (डायरैक्ट) संबंध नहीं मानना, एक ही से सम्बन्ध मानना जरूरी है। तो बाकी सबसे कैसा सम्बन्ध मानना है ? तो बाकी जो चलती-फिरती मूर्तियाँ हमारे आस-पास दिखाई देती है, उनको अपने प्यारे का प्यारा जान करके उनकी खातिर कर दो।

अपना मानने से, ममता का सम्बन्ध बढ़ाने से उन पर अधिकार भी बन जाता है। फिर सहायता की आशा भी बन जाती है और सहायता मिलने लग जाती है तो राग भी बन जाता है। तो जिस हृदय में पवित्र-प्रेम की धारा हम पसन्द कर रहे हैं, उसमें रागद्वेष का दूषण न आवे इसके लिए अपने को सावधान रहना है। अगर विवेक के प्रकाश की सहायता नहीं लीजियेगा तो प्रेमतत्त्व जो है, वह राग-द्वेष से दूषित हो जायेगा। जी ? ठीक है ना ? तो ये सब प्री-कन्डीशन्स है। अर्थात् पहले पूरी करने की शर्ते हें। ये सब पहले ही की जाने वाली तैयारियाँ हैं। जिनमें हम लोगों को काफी सावधान रहने की जरूरत है। और आगे बात ऐसी है कि भाई अपनी ओर से जो कुछ हम कर सकते हैं सब सावधानी पूर्वक करें और जो बाकी रह जायें उसकी चिन्ता न करें।

आपको यह अवसर दिया गया है कि काम करते समय प्यारे प्रभु की प्यारी सृष्टि की पूजा में हाथ बटाओ, सहयोग दो और काम करने का अवसर निकल जावे, तब अकेले हो जाओ, शान्त हो जाओ। अपने समर्पण भाव को याद करके, उनकी कृपामयी गोद में अपने को छोड़ दो, तो उस विश्राम काल में, उस अहम् शून्यता की घड़ी में, सत्य की अभिव्यक्ति का अनुभव साधक को हो जाता है। सेवाकाल में भी समय-समय पर होता है। प्यारे की दृष्टि और उसको सहयोग देने में उनको प्रसन्नता होगी। तो इस बात की याद आने मात्र से रस की वृद्धि होने लग जाती है। प्रवृत्तिकाल में भी उस रस के प्रवाह से रोम-रोम ऐसे ही आप्लावित होने लग जाता है और बहुत अच्छा लगने लग जाता है और निवृत्तिकाल में, समर्पण भाव में, अब इस समय मुझे कुछ नहीं करना है तो कुछ नहीं करेंगे। अहंकृति शान्त हो गई तो अहं का अभ्यास भी, उस समय खतम हो जाता है। एक सन्त ने कहा है कि उसी क्षण में, जरा सी भी देरी नहीं लगती, सत्य की उपस्थिति का, सत्य के स्पर्श का अनुभव होता है।

माँ आनन्दमयी ने कहा और स्वामीजी महाराज ने भी कहा है कि उसकी उपस्थिति का अपने को अनुभव हो जाता है। एक बार मैं

वृन्दावन में वार्षिकोत्सव के समय ऐसे ही बोल रही थी। उन दिनों में मुझको अपनी असमर्थता की पीड़ा बहुत थी। हाय ! मुझसे ममता भी नहीं छूटी। हाय ! मेरे संकल्प भी नहीं गये। बहुत दुःखी थी मैं। उसी दुःख के आवेग में बोल रही थी। तो पता नहीं क्या-क्या कहा होगा ? जब बोलना खतम हुआ तब स्वामीजी महाराज कहने लगे कि आप आज सत्य से अटैच्ड अर्थात् संलग्न होकर बोल रही थीं। मुझे तो पता ही नहीं चला कि मैं क्या कह रही थी। महाराज ने मुझको ऐसा सुनाया कि चाहे तो अपनी असमर्थता की पीड़ा से अहम् गल जाये और चाहे उनकी कृपा की महिमा में अहम् गल जाये। कृपा की महिमा से भी काम हो जाता है। उन महामहिम की महिमा। अब मुझे क्या चिन्ता है। मैं उनका बालक, उनकी कृपामयी गोद में विश्राम लूँ। मैं विश्राम लूँ। मैं कुछ नहीं कर रहा हूँ, इस भाव के आनन्द में भी अहंकृति शान्त हो जाती है। और अपनी असमर्थता की वेदना में भी अहं गल जाता है। तब भी यह बात हो जाती है। शरीर को लेकर धरती पर बैठे हुए भी उस अशरीरी परम-प्रेमास्पद की उपस्थिति का, उनकी करुणा और कृपा का अनुभव आप तत्काल कर सकते हैं। प्रयोग करके देखिए- महाराजजी कहते थे, कि न हो जाये तो मुझको गोली मार देना। न होने की कोई बात नहीं है। हो जाएगा जरूर।

(37)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

मानव जीवन के सबसे ऊँचे विकास के लिए जो सर्वमान्य सार्वभौम सत्य है, वह संतवाणी में हम लोगों ने अभी सुना। कह रहे हैं कि सेवा, त्याग, और प्रेम के बिना किसी भी प्रकार से सर्व दुःखों की निवृत्ति, परमशान्ति, जीवन मुक्ति और भगवत् भक्ति संभव नहीं है। पिछले कई दिनों से हम लोगों ने जीवन के अलग-अलग पहलुओं पर अलग-अलग ढंग से विचार किया। अब सारे विवेचन के समापन के रूप में मैं ऐसा आवश्यक मानती हूँ कि एक साधन युक्त जीवन के क्रम

को सँभाल लेना चाहिए। जो भी भाई, जो भी बहिन उस क्रमिक ढंग से चलना चाहें तो उनके लिए एक बार पाठ की पुनरावृत्ति हो जाये।

भौतिक दर्शन के आधार पर हम लोगों ने इस बात को जाना कि जब तक शरीरों में कुछ भी करने का बल है, तब तक उस बल का सदुपयोग आवश्यक है, इसलिए कि करने का राग मिट सके और एक शरीर का अनेकों शरीरों के साथ कुशलतापूर्वक अभियोजन हो सके। इसलिए प्रवृत्ति में हाथ डालना मानव-जीवन का एक अनिवार्य व्रत होता है। अब क्या करें और कैसे करें ? उसके सम्बन्ध में बताया गया कि जो भी कुछ शरीरिक बल, सामर्थ्य, मानसिक योग्यता, बुद्धि 'तुम्हारे' पास है उसका दुरुपयोग कभी मत करना अर्थात् उस बल को लेकर कभी किसी को क्षति मत पहुँचाना। बुराई करेंगे नहीं, तो बुराई छोड़ देने के बाद, समाज में रहकर शारीरिक बल से हम जो कुछ करेंगे वह भला ही होगा। शरीर और संसार की जातीय एकता मान करके एक शरीर पर अपनी ममता रख लेना, अपनी आसक्ति रख लेना, उसके माध्यम से व्यक्तिगत सुख भोगने की सोचना, यह असाधन है, भूल है। और मिले हुए बल को अपना न मानना, समाज का मानना, जगत का मानना, परिवार का मानना और उनके लिए हितकारी कार्य में उस बल का सदुपयोग कर देना और प्रीतिपूर्वक, उदारता पूर्वक समाज जो कुछ दे दे उस से शरीर का निर्वाह कर लेना, यह साधन की बात है।

अध्यात्म दृष्टि से, जीवन के दार्शनिक दृष्टिकोण से प्रतिदिन प्रातःकाल प्रवृत्ति के क्षेत्र में प्रवेश करने से पहले जीवन के सत्य को पाठ के रूप में हर भाई-बहिन को दुहरा लेना चाहिए। कौन सी बात दुहरा लेनी चाहिए कि मुझमें जो "मैं" पन है, जिस "मैं" को हम "मैं" कहते और अनुभव करते हैं, उसकी रचना अलौकिक तत्त्व से हुई है, वह जब तक अलौकिक से अभिन्न नहीं हो जाता तब तक उसे शान्ति नहीं मिलती है, सन्तुष्टि नहीं मिलती है, निश्चिन्तता नहीं आती है, स्वाधीनता नहीं मिलती है, दुःखों का नाश नहीं होता है, यह सब खूब विस्तृत विवेचन के साथ हम लोग सुन चुके हैं। और आज समापन के

रूप में मुख्य-मुख्य बातों को दुहरा रही हूँ, इस आशा में कि आपको ये सब बातें याद हैं। हैं कि नहीं हैं ? बोलो जी, डर लगता है, हाँ कहने में। ठीक है.........अभी सत्संग में आना खतम ही नहीं हुआ और आप सब भूल गये तो बेकार ही हो जायेगा। इन सब बातों पर खूब विवेचन हो चुका है और मुख्य-मुख्य बातें आपको याद हैं।

अब इस दृष्टि से आगे देखिए कि अपने लोगों को किस तरह से भौतिक दृष्टि, दार्शनिक दृष्टि और आस्तिकता की दृष्टि तीनों को जीवन में संग लेकर चलना है। संसार में कोई-कोई व्यक्ति विशेष ऐसे भी होते हैं कि जिनमें शुद्ध विचारों की बड़ी प्रधानता होती है। सामान्य कोटि के लोग जो हम और आप हैं, हम लोगों के जीवन में भाव भी हैं, विचार भी है, कर्मठता भी है और विशेष रूप से कोई एक पक्ष बड़ा प्रबल हो, Strong हो, ऐसा नहीं है। सब मामूली, मामूली स्तर का मालूम होता है। तो मैंने अपने को सामने रखकर देखा और अनुभवी संत के पास बैठकर विचार किया तो उन्होंने कहा कि सब तरफ से अपने को इन्तजाम शुरू करना चाहिए। कर्म के क्षेत्र में भी पक्के हो जाओ एकदम, कि भलाई तो छोटी-मोटी जो बन पड़ेगी वह करेंगे, पर बुराई किसी के साथ नहीं करेंगे। तो आपका कर्म का जो क्षेत्र है, वह साधनामय हो गया। और ज्ञान की दृष्टि से, दार्शनिक दृष्टिकोण से अपना नाश तो हम स्वीकार ही नहीं करेंगे।

इस 'मैं' पन का नाश तो कभी नहीं होगा। मृत्यु जो होती है, जिसको हम लोग मृत्यु कहते हैं, वह तो नाशवान का नाश हैं। अविनाशी का नाश नहीं होता। तो हमारे साथ मनुष्य के व्यक्तित्व में जो भौतिक तत्त्वों के बने हुए शरीर हैं जिनकी उत्पत्ति हुई है उन्हीं का नाश होता है। आपका नाश नहीं होगा। आपकी मृत्यु कभी नहीं होगी। आप मरेंगे कभी नहीं। और महाराजजी की वाणी मैं बोलूँ तो कहूँगी- लाइये, कागज में लिखकर हस्ताक्षर कर देती हूँ कि मरेंगे कभी नहीं, क्योंकि जिस ''मैं पन'' को लेकर हम जीवन-यापन कर रहे हैं, वह 'मैं' अलौकिक तत्त्वों से बना है इसलिए उसका नाश नहीं होता। अब प्रश्न कितना रह गया, हम लोगों के सामने, कि भाई यह

जो मृत्यु का भय सताता है उससे मुक्त कैसे हो जायें ? दुःख से कैसे छूटें ?

तो प्रतिदिन प्रातःकाल आँख जब खुले तो पहला प्रोग्राम अपना यह रखिए कि हम अकेले-अकेले बैठकर सत्संग करेंगे, तब उसके बाद संसार की प्रवृत्ति में शामिल होंगे। ऐसा कर सकते हैं कि नहीं ? जी कर सकते है। यह नियम नहीं है कि गंगाजी में स्नान करके आओ तब बैठो, कि साफ कपड़े पहनो तब बैठो, कि मन्दिर में जाओं तब बैठो, किसी सत्संग भवन में जाओ तब बैठो, ऐसी बात नहीं है। सामूहिक सत्चर्चा का अवसर जब मिलेगा, उसका तो लाभ हम उठायेंगे ही, लेकिन वह हमारा दैनिक कार्यक्रम (routine) नहीं बन सकता, क्योंकि सामूहिक सत्चर्चा का अवसर सब दिन सबको मिले, यह सम्भव नहीं हैं। परन्तु जैसे ही आँख खुली और अपने में सजगता आई कि सवेरा हो गया, तो नींद का और आलस्य का प्रमाद छोड़कर सजग होना है। सजगता आते ही बिना स्नान किए, बिना किसी प्रवृत्ति में शामिल हुये, जो आश्यक क्रिया हो वह पूरा कर लीजिए और बिस्तर में ही जहाँ हैं वहीं पर बैठे-बैठे थोड़ी देर के लिए शान्त रहकर अपने सम्बन्ध में विचार कर लीजिये। इसमें आर्यसमाजी, सनातनी, हिन्दू या अहिन्दू और दुनिया के किसी मजहब के व्यक्ति हों, कोई अन्तर नहीं आता है। क्योंकि अपनेपन का भास सभी को हैं, और अपने सम्बन्ध में विचार करने की सामर्थ्य मानव-मात्र को जन्म-जात मिली हुई है, इसलिए मजहब का भेद इसमें नहीं है।

मानव सेवा संघ मजहब की सीमाओं के पार की बात कहता है। एकदेशीय चर्चा इसमें नहीं होती हैं। तो किसी भी मजहब का, किसी भी देश का, किसी भी युग का रहनेवाला व्यक्ति है और उसमें अगर दुःख-निवृत्ति का प्रश्न है और वह जीवन की सम्पूर्णता पर दृष्टि रखकर जीना पसन्द करता है, तो उसे प्रातःकाल सबसे पहला प्रोग्राम जीवन की दार्शनिकता और आस्तिकता पर विचार कर लेना है। क्या विचार कर लेंगे- मैं तो अविनाशी तत्त्व से बना हुआ हूँ और नाशवान शरीरों की आसक्ति में पड़कर दुःख का, मृत्यु के भय का भार ढो रहा

हूँ। तो मेरा पहला पुरुषार्थ क्या है ? पहला पुरुषार्थ यह है कि अविनाशी स्वरूप का होते हुये नाशवान से मुझको अपना सम्बन्ध नहीं मानना चाहिए। फिर दुहराती हूँ, फिर सुनो- सजगता पूर्वक बैठ जाओ बिस्तर में और अपने को समझाओ, मैं अविनाशी स्वरूप का हूँ। अविनाशी स्वरूप होते हुए मुझे नाशवान के साथ अपना सम्बन्ध नहीं रखना है। नाशवान की आशा नहीं करनी है। नाशवान की आवश्यकता का अनुभव नहीं करना है। नाशवान का सहारा नहीं लेना है। याद दिलाइये अपने को, याद दिलाना जरूरी है कि नहीं है ? और नहीं है तो इस सत्संग भवन में, प्रार्थना मन्दिर में क्या केवल हाँ करने गये थे।

सच्ची बात है, अविनाशी का नाशवान के साथ सम्बन्ध मानने से ही सब प्रकार के दुःखों की उत्पत्ति हो गई, सीमा लग गई कि जन्म-मरण के बीच की अवधि में बँध गये, सुख-दुःख के द्वन्द्व में झूलते फिरे, ऐसा तो सुना था और स्वीकार किया था कि हमको ऐसा नहीं करना है। तो इस पाठ को हर भाई को, हर बहिन को, यहाँ रहते हुए, यहाँ से जाने के बाद जो जहाँ रहे, शरीर को लेकर संसार में ही रहेंगे, तो एक बार प्रतिदिन प्रातःकाल इस पाठ को याद करना जरूरी है। इस दार्शनिक सत्य के आधार पर अपनी भूतकाल की भूलों का त्याग हम नहीं करेंगे तो कोई विधि-विधान हमारे काम नहीं आयेगा। आसन-मुद्रा साधो, खूब अभ्यास करो, प्राणायाम करो, लम्बी-गहरी श्वास लो, तो आसन मुद्रा साधने की जो विधि है और प्राणायाम की लम्बी गहरी श्वास लेने की जो विधि है यह सारी विधियाँ आपको भौतिक सीमा के भीतर बलशाली बना सकती हैं, परन्तु इस नाशवान भौतिक सीमा से पार पहुँचने में कोई सहयोग नहीं दे सकती।

इसका मतलब यह नहीं है कि सब अभ्यास बेकार हो गया, सो नहीं हो गया। लेकिन हर एक की अपनी-अपनी सीमा है, हर एक का अपना एक क्षेत्र है। स्थूल शरीर, सूक्ष्म शरीर, कारण शरीर की स्थूल और सूक्ष्म शक्ति की वृद्धि के लिए ये सारी क्रियायें बहुत उपयोगी हैं। कभी-कभी तो उस चमत्कार में साधकों का बहुत सा समय चला जाता है। मैं तो उसको भी बड़ी बहादुरी मानती हूँ। उसमें भी मनोयोग

चाहिए, संयम चाहिए, उसमें भी नियमित होना पड़ता हैं, उसमें भी आलस्य और विलास का त्याग करना पड़ता हैं। तो बातें तो सब बहुत अच्छी हैं, लेकिन अन्तिम बात क्या हैं ? वो अन्तिम बात यह है कि अपने द्वारा, मैंने नाशवान के साथ सम्बन्ध स्वीकार किया तो उसकी आसक्ति में, उसकी पराधीनता में, उसके चिन्तन में फँस गया। सत्संग के प्रकाश में मैंने क्या सीखा ? मैंने यह सीखा कि अपने द्वारा जिस अन्तिम सम्बन्ध को मैंने मान लिया था, उसको मुझे अस्वीकार कर देना है। यह तो सिद्धान्त की भाषा हो गई।

स्वामीजी महाराज ने बोलचाल की भाषा में बड़ी लम्बी सी प्रक्रिया और लम्बे से विवेचन को छोटे दो वाक्यों में हम लोगों के सामने रख दिया। याद कर लो, कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए। यह मानव-जीवन के दार्शनिक सत्य का साधन सूत्र है। उसके बाद जो सबसे सुन्दर, सबसे मधुर और सबसे ऊँचा जीवन होता है, नाशवान शरीरों के साथ रहते हुए सीमित व्यक्तित्व वाला मनुष्य उस अलौकिक, अविनाशी, अनन्त परमात्मा का प्रेमी बनता है। यह सबसे ऊँची बात है, सबसे बढ़िया बात है और विलक्षण बात है। तो इसके लिए क्या करना है ?

सबसे पहिले आपको यह तय कर लेना है कि अब जब मैं संसार में प्रवेश करूँगा, मैं समाज का, परिवार का काम करूँगा तो बुरा किसी का नहीं करूँगा, यथासम्भव भलाई करूँगा। दार्शनिक सत्य को सामने रखकर तय कर लिया आपने कि जो भी कुछ करना है, करने के राग की निवृत्ति के लिये हैं, अपने प्यारे की पूजा के लिए है। न मुझे शरीर से कुछ चाहिए, न मुझे संसार से कुछ चाहिए। तब जो दार्शनिक सत्य का प्रैक्टिकल अर्थात् व्यावहारिक प्रयोग है वह आपके जीवन में सिद्ध हो जायेगा। उसके बाद क्या है, कि यदि आप अध्यात्मवादी हैं, ज्ञान पंथ के साधक है तो मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, मुझे कुछ नहीं करना है, ऐसा याद रखकर थोड़ी देर के लिए बिल्कुल शान्त हो जाइये। न कोई कर्म कीजिए, और न कोई चिन्तन कीजिए। तो सब कर्मों से, सब चिन्तन से, असंग हो कर बिल्कुल निश्चिन्त होकर जहाँ

के तहाँ बैठे रहिए। शरीर और संसार की असंगता में अविनाशी का अविनाशी योग होता है। इस सत्य को आप प्रत्यक्ष अनुभव कीजिए। यह कहलाता है स्वाश्रय। स्वयं अपने आप पर आश्रित होकर निज-स्वरूप की अनुभूति में उस सत्य को पाना, उससे अभिन्न होना। यदि आप ईश्वर विश्वासी हैं, विश्वास पंथ के साधक हैं, तो उसी समय, उतनी ही देर में, एक बार याद कीजिये। क्या याद कीजिये ? कि मुझमें जो "मैं" पन हैं, उसका जो आधार है, जिसको भक्त भगवान कहते हैं, उसी भगवान का सहारा लेकर, उसी के आश्रित होकर, उसी का सम्बन्धी होकर, उसी की प्रसन्नता के लिए मुझे स्वयं अपने को समर्पित करना है। ऐसा सोच लिया, ध्यान में आ गई बात, गुरु ने जो सिखाया था, उसे याद कर लिया, जिस प्रकार से उन्होंने दीक्षा दी थी, सम्बन्ध दिलाया था उसे याद कर लिया। और याद करके खूब अच्छी तरह से, पक्का विश्वास लेकर के, कि मुझे जिसका सहारा दिलाया गया, वह इसी वर्तमान में, इसी स्थल पर, हमारे भीतर-बाहर सब प्रकार से विद्यमान है। तो उसकी उपस्थिति में विश्वास करके अपने को उसकी शरण में डाल करके, थोड़ी देर के लिए अपने आपको बिल्कुल छोड़ दीजिए। न कर्म करना है, न चिन्तन करना है, न नाम लेना है, न जप करना है, न कुछ सोचना है, न ध्यान करना है।

मंत्र जपना, ध्यान करना, चिन्तन करना, आगे-पीछे की सोचना या सक्रिय पूजा करना यह सब जो आपका विधि-विधान हो उसके लिए आप समय लगाइयेगा। उठने के बाद, स्नान करने के बाद, पूजा घर में जाकर के जैसा आपका नियम हो वह सब नियम आप पूरा करिये, जो भी जिसको सुलभ हो, जो भी जिससे बनता हो। उसके लिए अलग समय रखना, लेकिन सब सामान से छुट्टी लेकर, सब साथियों से छुट्टी लेकर, सबसे अलग होकर और जन्म-जमान्तर की की हुई भूतकाल की भूलें जो हो गई थीं, उनको न दुहराने का व्रत लेकर ही निश्चिन्त निर्भय होकर निरीह बालक की तरह करुणामयी परम कृपालु, जगत् जननी की गोद में अपने को डाल दो थोड़ी देर के लिये, कि अब इस समय मुझे कुछ नहीं करना है और परम कृपालु की

कृपामयी गोद में थोड़ी देर के लिए विश्राम ले लो। यह समर्पण योग कहलाता है।

उस विश्राम काल में थोड़ी ही देर में आप अहं-शून्य हो जायेंगे। क्यों हो जायेंगे ? क्योंकि कुछ करना नहीं है, कुछ सोचना नहीं है। अपनी जिम्मेदारी अपने पर नहीं है, किसी सामर्थ्यवान के जिम्मे अपने को लगा दिया। वह बड़ा कृपालु है, बड़ा महामहिम हे, मुझमें विद्यमान है, मेरे ऊपर बहुत कृपा दृष्टि रखता है, मुझको अपनी सत्ता से सत्तावान बनाकर रखता है, मुझको अपनी चेतना से ज्ञानवान बनाकर रखता है, मुझको अपने प्रेम से सींचता रहता है, ऐसा जो मेरा अपना है, दिखाई न देने पर भी, जान-पहचान न होने पर भी वह विद्यमान है और मैं उसकी शरण में हूँ। तो कोई अनन्त सामर्थ्यवान अपना हो और उसकी शरण में जाकर पड़ जाऊँ तो उसके बाद अपनी रक्षा के लिए क्या मुझे सोचना पड़ेगा ! कोई अपार क्षमा-सिन्धु मेरा अपना, एक जन्म की कौन कहे, जो अनेक जन्म के पापों का नाश करने वाला, पतित पावन हो मेरा अपना, उसकी शरण में जाने के बाद फिर मैं पापी हूँ ? जी ! नहीं हूँ। फिर अपने को अपराधी मत मानना। उस परम दयालु, क्षमा सिन्धु, परम कृपालु, अनन्त ऐश्वर्यवान, अनन्त सामर्थ्यवान, अनन्त माधुर्यवान ऐसा जो मेरा अपना है, उस अपने की शरण में स्वंय को डालकर थोड़ी देर के लिए निश्चिन्तता की श्वास लो। हे परमकृपालु ! मैं तुम्हारी शरण में हूँ, ऐसा एक बार अपने को याद दिलाओ। उनके लिए बार-बार कहने की जरूरत नहीं है। वह तो जानते ही हैं। उनको मालूम ही है। बिना बोले ही वे समझ जाते हैं।

आप लोग कहते हैं कि क्या करें बहिनजी, आपने जो बताया सो याद नहीं रहता है। तो भूल न जावें, इसलिए अपने को याद दिलाओ। नहीं तो समर्पण एक बार होता है, बार-बार थोड़े ही होता है। बार-बार तो तब न होगा, जब दिया हुआ वापस ले लोगे। तभी फिर देने जाओगे। जैसे किसी मित्र को दी हुई वस्तु को आप वापस ले आवें, तब आप कहते हैं, अरे भाई ! मैंने तो आपको दे दिया था, भूल से उठा ले गया था तो फिर देने आया हूँ, ले लो। तो फिर दे आओगे, थोड़ी

देर बाद फिर देने की जरूरत पड़ेगी, कब जब फिर वापस लाओगे, ऐसा नहीं हैं।

अनन्त परमात्मा का जो आश्रय लेता है, हरि-आश्रय जिसके जीवन में आता है, उसके बाद फिर उसके जीवन में तन का आश्रय, धन का आश्रय, जगत् का आश्रय नहीं आता है। यह दोहरी बात कैसे होगी ? एक ही तुम हो और तुमने एक बार अपने को उस एक के समर्पित कर दिया, तो फिर विभाजन कैसे होगा ? अब बार-बार इसकी पुनरावृत्ति कैसे होगी ? उसके टुकड़े कैसे किये जायेंगे ? तो साधक की सजीवता किसमें है, कि जीवन के सत्य की स्वीकृति में उसको अविचल आस्था रखनी चाहिए। मुझे बड़ा दुःख होता है जब कभी-कभी कोई-कोई साधक कहने लग जाते हैं कि मैंने परमात्मा के आगे अपने को समर्पित तो किया था, लेकिन ऐसा लगता है कि मेरे समर्पण में ही कोई दोष है। ऐसा क्यों कहते हो भाई, अपनी ही साधना में, अपने ही सत्य में, सन्देह क्यों हो गया तुमको। तो सन्देह इसलिए हो गया कि मैंने समर्पण तो किया था, उनको दिया था, लेकिन उन्होंने कुछ सुधारा नहीं। शाबास ! तब तो बढ़िया समर्पण है भाई ! नहीं सुधारा उन्होंने, काम के नहीं निकले तो वापस ले लो उनसे। वापस ले लिया तुमने। अपने जीवन के आप स्वंय ठेकेदार बन गये। तब कैसे आशा करते हो कि उनकी कृपा-शक्ति का प्रभाव तुम्हारे जीवन पर दिखाई देगा ? गलती हो जाती है न ? तो उनमें भी सन्देह मत करो। उनकी महिमा में भी सन्देह मत करो। उनके अपनेपन में भी सन्देह मत करो और अपने द्वारा की गई सत्य स्वीकृति में भी सन्देह मत करो। अरे भाई ! जिस धातु से उन्होंने हम लोगों को रचा है, वह घटिया चीज थोड़े है।

मैंने जब बहुत शिकायत की थी, अपने बारे में स्वामी महाराज को, तो स्वामीजी महाराज ने एक बार तो विनोद किया। कहने लगे, तुम्हें मालूम नहीं है मैं उस अनन्त परमात्मा का वकील हूँ, उसकी आलोचना तुमको नहीं करने दूँगा। फिर दुहराकर यह कहा, कि देवकीजी ! तुमको बनाने के लिये परमात्मा ने धातु कहीं से उधार नहीं

मँगवाई। घटिया मैटीरीयल (Material) कहीं से मँगवाया नहीं। उनके अतिरिक्त और कुछ है ही नहीं। तुमको बनाने के लिए वे घटिया चीज कहाँ से लायेंगे ? अपने ही में से रचा है उन्होंने, हम सभी भाई-बहिनों को। इसलिए अपनी मौलिक अच्छाई में सन्देह मत करो। तुम्हारे भीतर जो तत्त्व है, उसे बुरा मत समझो। मौलिक अच्छाई तो हमेशा ही रहती है, उसका नाश तो होता ही नहीं है। अपनी भूल से जो बुराइयाँ पैदा हो गई हैं इस समर्पण में, इस हरि आश्रय में वे सब नष्ट हो जायेंगी। जो बुराइयाँ बन गई हैं वे मिट जायेंगी। जो मौलिक गति है वह कायम रहेगी। उसका आनन्द आपको आ जायेगा। इसलिए ईश्वर विश्वास की दृष्टि से यह बात मुझे बहुत अच्छी लगती है कि मेरा कुछ नहीं है, मुझे कुछ नहीं चाहिए, मुझे कुछ नहीं करना है, मैं कुछ नहीं हूँ। ये जो जीवन के तत्त्व हैं, वे बिल्कुल ही सत्य होकर आपके अनुभव में आ जायेंगे।

हरि-आश्रय जो लेता है वह क्या करता है ? जब अपने को ही परमात्मा को दे दिया तो उसके बाद भी कोई सम्पत्ति अलग है क्या ? जब तुम्हीं नहीं रहे, तुम्हारे पर ही तुम्हारा अधिकार नहीं रहा, तो क्या कोई सम्पत्ति होगी जिस पर तुम्हारा अधिकार होगा ? नहीं होगा। सबसे पहले क्या होगा ? तो हे प्रभु ! यह सब कुछ तेरा, यह सब कुछ तेरा। तो सब कुछ उसका है। मेरे कहने से है कि वास्तव में है ? वास्तव में है। हम फँस गये, क्यों ? पराये माल पर अधिकार जमाया इसलिए। नहीं तो नहीं फँसते। भूल हो गई। सृष्टि का मालिक एक है। एक मिल्कियत के दो मालिक कैसे होंगे ? दो मालिक होंगे तो बरबादी होगी। जो सच्चा मालिक है वह तो सदा-सदा से हैं, सदा-सदा तक रहेगा। तुम झूठ-मूठ के मालिक बने थे, तो सँभाला भी नहीं जाता है, भार से दबे जाते हो, मुट्ठी में पकड़ कर रख भी नहीं सकते, छूट जाने से रोते हो, यह दशा होती है कि नहीं ? सँभाल कर रख भी नहीं सकते। मालिक तो वह है जो सबको अपनी मुट्ठी मे रख सके। ऐसा दम है ? नहीं है, तो मालिक बनने की सामर्थ्य भी नहीं है और वस्तु सचमुच में हम लोगों की है भी नहीं। सच्चा मालिक तो एक ही है।

उस मालिक के हवाले सब कुछ कर दो अर्थात् अपनी तरफ से अपनी भूल मिटालो। प्रार्थना करो कि अब तक इस तन का मैं भूल से मालिक बना बैठा था। हे प्रभु ! यह आप ही की वस्तु है और आप ही को समर्पित है। अब तक कमाये हुए धन का मालिक मैं बनकर बैठा था, यह मेरी भूल थी। हे प्रभु, यह सारी सृष्टि तुम्हारी है, तुमको समर्पित है, मेरा कुछ नहीं हैं, तो काम हो गया कि नहीं।

अब प्रभु के प्रेम से कुछ और बढ़िया है क्या, जो अपने को चाहिए ? कुछ नहीं है। इसलिये अपने को कुछ चाहिए भी नहीं। और फिर उनसे बढ़कर उनसे अच्छा और कोई निश्चिन्त एवं निर्भय करने वाला आधार है क्या ? नहीं है। इसलिये तुम्ही सर्वाधार हो, तुम्हीं मेरे जीवन के आधार हो, सब कुछ तुम्हीं हों, और बहुत दिनों से तुमसे भटक करके, बिछुड़ करके, बहुत कष्ट झेल करके, अपनी बड़ी दुर्दशा करके, मेरे प्यारे ! आज तुम्हारी शरण में आया हूँ, मुझे अपनाओ, ऐसा कह सकते हैं कि नहीं ? जी ! कह सकते हैं। साकार, निराकार, उपासना का कोई भेद रहेगा इसमें ? राम, कृष्ण, शंकर, दुर्गा, किसी रूप का भेद रहेगा इसमें ? किसी विधि-विधान का भेद रहेगा ? नहीं रहेगा। जितने भी ईश्वर विश्वासी साधक हैं, विश्वास के पंथ की साधना जिनको पसन्द है, सबके लिए यह अचूक मंत्र है। आँख खुले, जीवन में सजगता आये तो इस मंत्र को एक बार दुहरा करके, याद करके थोड़ी देर के लिए बिल्कुल ऐसे छोड़ दो जैसे कि कोई बच्चा अपनी माँ की गोद में निश्चिन्त होकर पड़ जाता हो। दो मिनिट, कि चार मिनिट, पाँच मिनिट कि, दस मिनिट, घड़ी नहीं देखना, समय का नियम नहीं बाँधना, क्योंकि घड़ी देखने की याद यदि रहेगी, तब भी अहं-शून्य नहीं रह पाओगे।

आस्तिकता की पृष्ठभूमि में भी दार्शनिक सत्य ज्यों का त्यों कायम है। अपने निज स्वरूप से अभिन्न होने में, अपने परम प्रेमास्पद से, प्रियतम प्रभु से अभिन्न होने में बाधा है अपना सूक्ष्म अहं भाव। जब तक कुछ भी करने का ख्याल है, कर्म के रूप में नहीं तो चिन्तन के रूप में, चिन्तन के रूप में नहीं तो अन्तर्निरीक्षण के रूप में, अन्तर्निरीक्षण

के रूप में नहीं तो अपने विकास के रूप में, कि देखें अब क्या हो रहा है ? सूक्ष्मातिसूक्ष्म संकल्प भी यदि बाकी है तो अहंभाव का लोप नहीं होगा। और अहं में सूक्ष्मातिसूक्ष्म संकल्प उठा तो आपको सत्य से विमुख कर देगा। इस समर्पण योग में प्रधानता किस बात की है, अहं-शून्य होने की। और किसी सामर्थ्यवान की कृपामयी गोद में अपने को डाल देने के समान अहं-शून्य होने का और कोई सहज उपाय नहीं दिखता है। इसलिए उसके हो जाओ। उस समय भूतकाल के अभ्यास से किसी जपे हुए मंत्र की पुनरावृत्ति होने लगे या इष्ट का ध्यान आने लगे या नाम आने लगे तो घबराना नहीं चाहिए, क्योंकि किये हुए अभ्यास के फल से शान्ति काल में ये सब बातें पुनरावृत्ति के रूप में आती हैं, तो आने लगें, चिन्ता नहीं करना। किया हुआ अभ्यास अपना फल दिखाकर अपने आप लुप्त हो जायेगा। लेकिन उसको अपनी ओर से याद नहीं करना, इतना ही काम अपना है। अपने आप होता रहे तो होने दो और आप उस कृपा का आश्रय लेकर चुपचाप रहो।

संतवाणी में मैंने ऐसा सुना कि दो-चार मिनिट का समय तो काफी लम्बा होता है। मनुष्य के मस्तिष्क की क्रियाशक्ति का नाप-तौल करने में एक सैकेण्ड का एक हजार भाग, इस प्रकार की मशीन पर मानसिक क्रियाओं की जाँच भी प्रयोगशाला में हमने करके देखी। उस हिसाब से मिलाओ तो दो-चार मिनिट का समय काफी लम्बा होता है। मैं आपको जीवन का सत्य निवेदन कर रही हूँ कि प्रभु का अनन्त ऐश्वर्य, प्रभु का अनन्त माधुर्य, उनका अपनापन और अपनी असमर्थता एक सैकेण्ड के किसी भाग के लिए भी प्रधान होकर आपके सामने आ जाए तो उसी क्षण में अहं का लोप होता है, अहंकार गलता है। गलेगा किस आधार पर ? अपनी असमर्थता के आधार पर। शान्ति सुरक्षित किस आधार पर रहेगी ? उनकी महिमा के आधार पर। ठीक है न, कोई घबराया हुआ निर्बल आदमी हो, उसको भरोसा हो जाय कि हमारे पास एक ऐसा सहायक है कि दुनिया में कोई उसे हरा नहीं सकता तो निश्चिन्तता आयेगी कि नहीं ? जी ? आयेगी। मुख से आवाज नहीं निकल रही है घबराहट के मारे, परवश हो जाता है

आदमी, लेकिन आपको भरोसा हो जाय कि मेरे पास एक ऐसा मालिक है जो "बिन बोले मेरी व्यथा जानी" जो बिना मेरे मुख से बोले, हृदय की पीड़ा को जानलेता है, तो धीरज आ जायेगा कि नहीं। तो इस प्रकार से थोड़ी-थोड़ी देर के लिये भी उस महिमा से अभिभूत होकर आप अहं-शून्य रह सकेंगे तो जहाँ इस सीमित अहं का भास लोप हुआ कि उसी क्षण में उस नित्य विद्यमानता के आननद में आप अपना आपा भूल जायेंगे। ऐसा मैंने साधन काल में अनुभव करके देखा है। कल्पना नहीं, कथा नहीं, भविष्य का मिथ्या आश्वासन नहीं, पढ़ी हुई, सुनी हुई बात जो संतवाणी में आपने सुनी है, सद्ग्रंथों में आपने जो पढ़ा है, वह आपके लिये अपने में प्रत्यक्ष हो जायेगा।

हरि आश्रित होकर कुछ न करो, अप्रयत्न हो जाओ, तो जो हरि का आश्रय लेता हैं, उसको अप्रयत्न होने में तकलीफ नहीं होती है। अपने को अकेला निराधार छोड़ना पड़े तो व्यक्ति घबराता है। हाय क्या हुआ ! सब डूबा, सब डूबा लेकिन एक इतना जोरदार आश्रय कि जिस पर अनन्त कोटि ब्रह्माण्ड आश्रित है, जो अखिल लोक विश्राम है, जो सर्व उत्पत्ति का आधार है ऐसे का आश्रय लेने में कोई घबराहट नहीं होती। और कुछ समय वह भाव बना रहे और याद बनी रहे तो क्या पूछना। तब तो कुछ करने की बात ही नहीं रहीं। लेकिन हम भूल जाते हैं। यह दोष जब तक बना है तब तक इस साधना को चौबीस घण्टे में तो मैंने एक ही बार का नाम लिया अभी, जितनी बार जिसको मौका मिले वह बारम्बार इसको दुहराता रहे तो फिर न कहीं जाना होगा, न किसी से पूछना होगा, न कुछ कहना होगा, न कुछ करना होगा। जहाँ आप होंगे, वहीं रहते-रहते, थोड़े-थोड़े विराम काल का इस प्रकार उपयोग आप करते रहेंगे तो जो कुछ मैं कह रही हूँ उससे अनन्त गुना अधिक आपके भीतर अभिव्यक्त हो जायेगा। ऐसी विलक्षण महिमा है उस महामहिम की।

मैं क्या बताऊँ, बड़ी विलक्षण महिमा है उनकी [illegible]नी, और उसी में से विलक्षणता देकर बनाया है उन्होंने हम लोगों को। तो ऐसा कहने में कोई संकोच नहीं होना चाहिए कि जितने विलक्षण वे हैं वैसी

विलक्षणता उन्होंने हमको भी दी है। और यह मुझको क्यों मालूम होता हैं, ऐसा मैंने कब अनुभव किया कि अभी-अभी विविध रूप संसार दिखाई दे रहा है, अलग-अलग प्रकार की वस्तुएँ, दिखाई दे रही हैं, अलग-अलग प्रकार के भाव-विचार आ रहे हैं, जा रहे हैं, और अभी आपको बैठे-बैठे याद आ गया कि अरे भाई ! इन बनने-बिगड़ने वाली परिस्थितियों से अपने को क्या लेना है ? हम तो उसके हैं, जो सर्व उत्पत्ति का आधार है, हम तो उसके हैं जो अनन्त ऐश्वर्यवान है, जिस पर कोई विजयी नहीं हो सकता और हम तो उसके हैं जो हमसे अपनेपन का नाता मानता है। तो ऐसा याद आया नहीं कि दृश्य गायब हो जाता है, ऐसा जैसे कि सिनेमा का चित्र बदलता हो। इतनी जल्दी बदलता है, इतनी जल्दी आप उस भ्रम में से निकलकर, सत्य के आनन्दमय अनुभव में खो जाते हैं कि पता ही नहीं चलता कि कहाँ गया संसार, कहाँ गया झंझट, कहाँ गया भार और कहाँ गई चिन्ता, ऐसा होता है। वह सत्य इतना जोरदार है कि उसकी याद आने मात्र से आपका अहं परिवर्तित हो जाता है और भ्रम का नाश हो जाता है। उसके अत्यन्त निकट होने के अनुभव में कुछ अर्से का तो कौन कहे, जन्म-जन्मान्तर का कलुष धुल जाता है।

(38)

उपस्थित महानुभाव, सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

ईश्वर-विश्वास की दृष्टि से अपने सम्पूर्ण जीवन को साधनमय कैसे बनायें ? इस विषय पर हम अनुभवी संत की वाणी सुन रहे थे। उसमें उन्होंने हमें यह सलाह दी कि जिस जीवन की माँग अपने भीतर अनुभव करते हो उस माँग की पूर्ति में विश्वास करो। इस बात को मानो कि जो जीवन मुझे चाहिए वह विद्यमान है। वह है और अपने को मिल सकता है। बड़ी भारी कमी रह जाती है हम लोगों में इस बात की, कि ईश्वर की आवश्यकता अनुभव करते हुये भी हम लोग इस बात को मानते नहीं हैं कि वे अभी विद्यमान हैं और अभी मिल सकते हैं।

ईश्वर की विद्यमानता मुझ पर उतना प्रभाव नहीं डालती है जितना अपने प्रंपची होने का, दोषी होने का, भटका हुआ होने का प्रभाव रहता है। हमने अन्य विश्वासों को छोड़कर एक विश्वास को जीवन में रखने का निश्चय किया और निश्चय करने के बाद भी स्वयं अपने ही द्वारा हम ही इस बात को मानते रहते हैं कि क्या बतायें, अभी तो मेरा विश्वास बहुत जगहों में बँटा हुआ है। आप ही ने कहा था कि मैंने सब विश्वास छोड़कर एक विश्वास धारण कर लिया, तो अपनी स्वीकार की हुई स्वीकृति को आप ही खंडित क्यों कर रहे हैं ? आप ही ने कहा था कि मैंने सारे सम्बन्धों को समेट कर एक भगवत् सम्बन्ध में विलीन कर दिया तो जिस समय आपने ऐसी धारणा अपने भीतर जमाई, ऐसी स्वीकृति अपने भीतर स्वीकार की तो उसी समय से इसको पक्का क्यों नहीं मानते हैं ? फिर उसके बाद क्यों शंका करते हैं कि मेरे तो अभी बहुत से सम्बन्ध बने हुये हैं, मेरे तो अभी बहुत से विश्वास बने हुए हैं। तो मैं आपको फिर अहं रूपी अणु की रचना की याद दिलाऊँ कि जिस समय आप सम्बन्धों को इन्कार करेंगे उस समय अनित्य का प्रभाव मिट जायेगा और फिर दुबारा उसमें शंका कर लेंगे और उसको स्वीकार कर लेगें तो फिर वह आपके सिर पर चढ़ जायेगा। यह बात समझ में आती है ?

प्रातःकाल सत्संग के समय व्यक्तिगत सत्संग में बैठकर आपने निश्चय किया कि मुझे की हुई भूल को नहीं दुहराना है अर्थात् अब तक जो भूल कर चुके हैं उसे फिर से नहीं दुहराना है तो आपने स्वयं ही सोचकर पक्का कर लिया और फिर काम करते समय आप अपने बारे में यह सोचने लग जाते हैं कि अरे भाई ! मैं तो बड़ा दुर्बल हूँ। बड़े-बड़े लोग अपनी भूलों को नहीं मिटा सके तो मैं कैसे मिटाऊँगा, तो भूल छोड़ने वाली बात पक्की रही कि मैं भूल करता हूँ यह बात पक्की रही ? इसलिए प्रातःकाल का निश्चय किया हुआ आपके काम नहीं आया। ऐसी अजीब बात है कि मैं क्या बताऊँ। मुझे बड़ा आश्चर्य होता है। अपने जीवन के अध्ययन का जो अवसर मुझे मिला उससे पहले सब लोगों का जैसा मस्तिष्क होता है वैसा मेरा भी था। दुनिया

की बड़ी-बड़ी आश्चर्यजनक घटनाओं के विषय में पढ़ना, जानना, उनके बारे में सोचना, उनको मस्तिष्क में संग्रह करना, इसमें बड़ी बहादुरी मालूम होती थी। स्वामीजी महाराज के पास आ जाने के बाद, मनुष्य के जीवन की कथा जब सुनी तब सुनी तब समझ में आया कि इस सृष्टि में सबसे अधिक आश्चर्यजनक जो बात है वह मनुष्य का अपना स्वयं का अहं ही है। उसके समान आश्चर्यजनक बात और कोई है नहीं।

आप कहते हैं कि मैंने तो कितनी बार अपने को भगवत् समर्पित किया है, कि हे प्रभु ! मैं तेरा हूँ, हे प्रभु ! यह मन तेरा, यह तन तेरा, यह धन तेरा, यह सर्वस्व तेरा, यह सब कुछ तेरा है, ऐसा कहा हैं और कहते हुए भी इतने दिन बीत गये, जीवन में परिवर्तन नहीं आया। तो ऐसा नहीं है कि उस साधना में कोई त्रुटि है। ऐसा नहीं है कि सत्य में किसी प्रकार का खोट है। गलती कहाँ हो रही है कि अपने ही द्वारा हम सर्वस्व समर्पण करने का सत्य स्वीकार करते हैं और फिर अपने ही द्वारा अपनी स्वीकृति में संदेह करते हैं। क्या जानें, मैंने सच-सच समर्पण किया या नहीं। इस दुविधा में किया कराया सब डूब जाता है। नित्य और अनित्य के बीच में दोनों तरफ के आकर्षक में फँसे हुए ऐसे अद्भुत विलक्षण प्राणी हम लोग हैं। संसार का आकर्षण खींचता है तो झुकाव इस तरफ हो जता है कि यह बड़ा अच्छा है, यह बड़ा बढ़िया है, बड़ा अनकूल है, इसे देखना चाहिए, यह सुनना चाहिए, ऐसा करना चाहिए और जब भीतर की माँग जाग्रत होती है और परमात्मा का आकर्षण खींचता है तब हम लोग उधर झुकते हैं कि भजन करना चाहिए, भगवान से मिलना चाहिए, निर्दोष होना चाहिए, तो ऐसी विलक्षण रचना है आपकी, कि जब आप अपने ही द्वारा अनित्य के आकर्षण से अपने को आक्रान्त होने देंगे, तो अनित्य का प्रभाव चढ़ जायगा और जब आप नित्य परमात्मा के प्रभाव को अपने पर असर डालने देंगे तो आपका खिंचाव उस ओर हो जायगा।

अब आप देखिये, कि हमारी, आपकी जो वर्तमान दशा है वह दशा इसी प्रकार की है कि दोनों ओर के आकर्षण के बीच में हम कभी

इधर झुकते हैं, कभी उधर झुकते हैं। कभी शरीरों के आधार पर संसार का सुख अच्छा लगने लगता है, उसकी याद अच्छी लगने लगती है, तो इस तरह एक द्वन्द्व भीतर-भीतर बना रहता है। अब उसमें जिन लोगों ने सत्य में विश्वास किया, प्रभु की महिमा में विश्वास किया, अपने द्वारा पुरुषार्थ किया, उन्होंने अनित्य को अनित्य जानकर उसके आकर्षण को त्याग करके अपने को उसमें से निकाल लिया। तो मैंने ऐसा सुना है, ऐसा माना है, संत कृपा से, भगवत् कृपा से ऐसा अनुभव किया है कि परम प्रेमास्पद अनन्त माधुर्यवान प्रभु में इतना घना आकर्षण है, आपको पकड़कर अपनी तरफ खींचने का और उस आकर्षण में आपको अपनी ओर लुभा लेने की जो मधुरता है उसकी तुलना संसार की किसी भी सुखद परिस्थिति से नहीं हो सकती।

अपन लोगों का उदाहरण ले लो- परिवार में, समाज में, टोला-मोहल्ला में, कहीं भी कोई एक प्रेमी स्वभाव का आदमी होता है और वह अपने कुटुम्बीजनों के और पड़ौसियों के भी छोटे-मोटे अपराधों की ओर ध्यान नहीं देता। प्रेमी के हृदय की मधुरता कटुता पैदा होने नहीं देती। छोटी-मोटी आपकी त्रुटियों पर ध्यान न देकर प्रमपूर्वक व्यवहार करता हो, मीठा बोलता हो, समय पर सहयोग देता हो, आपके सुख-दुःख में सहानुभूति रखता हो, तो ऐसे व्यक्ति की ओर सहजभाव से अपन लोगों का खिंचाव होता है कि नहीं ? जी ! आकर्षण होता है। किसलिए ? इसलिए कि उसके प्रेमी स्वभाव को हम लोग पसन्द करते हैं, अच्छा लगता है। मीठी बोली अच्छी लगती है। समय पर साथ में खड़े हो जाना, सुख-दुःख में हाथ बँटाना, यह सब अच्छा लगता है। अच्छा लगने से हर व्यक्ति का उसकी ओर खिंचाव होता है। यह मैंने पशु-पक्षियों के जीवन में भी देखा है। आपने भी देखा होगा, सुना होगा।

जो प्रेमी स्वभाव के होते हैं, जो सहृदय होते हैं, जो सुख-दुःख अपने में अनुभव करने वाले होते हैं, सबका उनकी ओर खिंचाव होता है और सहजभाव से हम उनकी ओर खिंच जाते हैं। उसके बदले में अगर वह आपसे कुछ चाहता हो, तब तो आदमी थोड़ा सावधान हो

जाता है। अरे भाई ! बहुत मुश्किल है, यह तो ऐसा-ऐसा चाहेंगे ही, और अगर कोई ऐसा आदमी है जिसका स्वभाव ही है मीठा बोलने का, आदर देने का। उसके बदले में कुछ न चाहता हो तो कैसा लगेगा ? और अधिक अच्छा लगेगा, और अधिक आकर्षण होगा। अब आप अन्दाज लगाइये कि जिस अनन्त परमात्मा के अनन्त माधुर्यवान होने के प्रभाव से उनकी उस मधुरिमा का एक-एक कण हम लोगों को मिला और उस ज्ञान और प्रेम का आपने आदर किया तो आपके प्रति संसार आकर्षित होने लगा, क्योंकि उसी के हम सब एक अंश हैं न, चाहे अत्यन्त क्षुद्र अंश हैं। उनके ज्ञान और प्रेम का जो अंश हम लोगों के अहंरूपी अणु में है, उस ज्ञान और प्रेम का आदर आपने किया तो परिवार में, समाज में सबका आकर्षण आपकी ओर हो गया।

अब सोचकर देखिए कि आपके थोड़ा सा ज्ञान व प्रेमी होने से जो आकर्षण पैदा होता है, तो जो ज्ञान स्वरूप ही है, ज्ञान और प्रेम का भण्डार ही है, उसमें कितना आकर्षण होगा ? आपसे कम होगा या ज्यादा होगा ? ज्यादा होगा। क्या बराबर हो सकता है ? बहुत ज्यादा होगा। एक दिन मैं बैठकर सोच रही थी, ऐसे ही बैठे-बैठे ही कोई बात चिन्तन में आ जाती है तो हम लोगों ने सुना है कि मुझमें और उनमें कोई अन्तर ही नहीं है, 'वह' है सो ही मैं हूँ। "तत्त्वमसि"। जो मैं हूँ सो 'वह' है। ये अध्यात्म पंथ के वचन हैं। आपने पहिले सुना होगा जो ब्रह्म है वह 'यह' है और जो यह है वह 'वह' हैं, तो अपने में और उसमें कोई भेद नहीं हैं। इस तरह के बहुत अच्छे-अच्छे वाक्य हैं जो वास्तविकता को दर्शाने के लिए ऋषिजनों ने सुझाये हैं।

एक दिन मैं बैठकर सोच रही थी तो महाराजजी की एक बात मुझे याद आई। बम्बई में अध्यात्म विद्या भवन एक स्थान बना है सत्संग का। प्रेमपुरीजीमहाराज एक महात्मा थे। वह उनकी देख-रेख में उनकी सत्प्रेरणा से बना, जहाँ बहुत अच्छा काम होता है। वहाँ सत्संग हो रहा था, स्वामीजी महाराज बैठे थे। कई अच्छे संत भी उनके साथ बैठे थे। कई लोग बैठे थे। एक संत ने प्रश्न किया महाराजजी से, स्वामी महाराज ! ब्रह्म का बोध किसको होता है ? तो

स्वामीजी महाराज ने खूब प्यार से उनकी जाँघ थपथपाई, हाथ फेरा और फिर कहा- यार ! ब्रह्म का बोध ब्रह्म को होता है। हम लोगों को जो कि शरीरों से तादात्म्य रखकर बैठे हैं, सुनने में यह बात बहुत अटपटी सी लगती है लेकिन प्रेमपंथ के जो अनुभवी संत हुए- सबके वचनों में आपने ऐसा सुना होगा कि "मैं" पन की जो एक परिच्छिन्नता है, एक सीमा है, इसके मिट जाने के बाद उस अविनाशी, अनन्त अमरत्व से अभिन्नता होती है।

तो ईश्वर विश्वास की दृष्टि से मेरे ध्यान में आया कि यदि मेरे भीतर उस अनन्त तत्त्व की आवश्यकता जाग्रत हुई है तो मैं उसकी ओर आकर्षित होऊँगी। लेकिन उसकी ओर का आकर्षण इतना विशाल है, कि मेरी सम्पूर्ण अहंभाव की सीमा को वह अपने में समाहित कर लेने में समर्थ है। जो मधुर आकर्षण का एकदम लहराता हुआ सागर है उसकी ओर से जब खिंचाव पैदा होता है और उसका जो मिठास होता है उसको साधक कभी resist नहीं कर सकता। रोक ही नहीं सकता। वह बहुत प्रबल होता है। इस आधार पर हम भाई-बहिनों को यह सलाह दी गई कि भाई ! तुम इस बात में अविकल्प विश्वास करो कि तुमको जिस जीवन की माँग है, वह जीवन है अवश्य। तो परमात्मा की चर्चा हम लोग कर रहे हैं, परमात्मा है अवश्य। जो लोग इस बात को मान लेते हैं कि परमात्मा है अवश्य, तो उनका सहज आकर्षण परमात्मा की ओर बढ़ जाता है। यह मैं कहना चाह रही थी।

अब हम लोग क्या करते हैं कि इस पंथ का जो प्रारम्भिक पुरुषार्थ है, उसमें विकल्प रखते हैं। अविकल्प विश्वास के आधार पर जिन महापुरुषों ने उस अनन्त माधुर्यवान के आकर्षण से आकर्षित होकर इधर का सब कुछ छोड़ दिया उनकी महिमा गाना पसन्द करते हैं और यह कहने लग जाते हैं कि उनके संस्कार बड़े अच्छे थे और उन्होंने पहले बहुत पुरुषार्थ किया होगा, साधना की होगी, इसलिए उनका आकर्षण परमात्मा की ओर हो गया और इतना जोरदार हो गया कि न उन्होंने दिन जाना न रात जानी, न भूख जानी न प्यास जानी, न जीना न मरना जाना सारी बातें पीछे रह गई और उस अनन्त

माधुर्यवान के आकर्षण ने उनको ऐसा अभिभूत कर दिया कि वे शरीर और संसार से ऊपर उठकर, परमात्मस्वरूप होकर, परमात्मा में लीन हो गये, अभिन्न हो गये। उनसे मिल गये सदा के लिए। तो जो प्रारम्भिक शर्त है वह तो हम लोग भी पूरी कर सकते हैं न, और उसे पूरी करो नहीं और जिन्होंने उसे करके आगे कदम बढ़ाना चाहा उनके समान होना चाहो तो हो नहीं पाते।

इसलिए इस बात को मैं बारम्बार याद दिला रही हूँ कि जो साधन के लिए अनिवार्य स्वीकृतियाँ हैं, जो जीवन के सत्य के रूप में स्वीकृतियाँ हैं, उन स्वीकृतियों को अपनाने के बाद फिर दुबारा उनमें शंका मत कीजिये। अपनी भूतकाल की दशाओं को याद करके वर्तमान में अपने को दोषी मत मानिए। इतना उपकार तो अपने पर करना ही है। जिस स्वधर्म पालन के रूप में आपने इस सत्य को स्वीकार किया कि परमात्मा है, अवश्य है, क्योंकि उसकी माँग है मुझमें, और मुझे उसकी नित्यता का, नित्य विद्यमानता का अनुभव इसी वर्तमान में हो सकता है। तो ऐसा सोचिए, अपनी त्रुटि पर ध्यान मत दीजिए।

बहुत से भाइयों का रिजर्वेशन २५ . २६ का, २७ का हो गया है। अब आप बैठे-बैठे सोचकर देखिए कि २७ ता० का मेरा रिजर्वेशन हैं, मैं वहाँ जाऊँगा, ऐसा-ऐसा करूँगा। माताओं का, भाइयों का, बहिनों का रिजर्वेशन है। हम २६ को वहाँ पहुँच जायेंगे, २७ को पहुँच कर ऐसा कर लेंगे, यह बात आपके भीतर जितनी सजीव लग रही हे, उसमें कोई सत्यता नहीं है। हो सकता है कि २७ ता० को जाना हो या न भी हो। हो सकता है कि २५ ता० का रिजर्वेशन आपके काम आ जाये या कैन्सिल कराना पड़े। यह बात सन्देहात्मक है कि नहीं है ? है। लेकिन इस सन्देहात्मक बात में अपने को उतना सन्देह नहीं। नित्य विद्यमान परमात्मा अभी भी मुझमें ही विद्यमान है। और मैं उसकी विद्यमानता को स्वीकार करूँ और कुछ नहीं करना है। भूखा रहूँ कि नंगा रहूँ, सिर नीचे करके, पैर ऊँचे करके कुछ अभ्यास करूँ या लम्बी गहरी श्वास लूँ, आँखें बन्द करूँ, कान बन्द करूँ, सो नहीं करना है।

केवल यह स्वीकार करूँ कि वह विद्यमान है और सर्वत्र है, भीतर-बाहर समानरूप से विद्यमान है इसलिये मुझमें भी है। वह सभी का है इसलिए मेरा भी है। इस सत्य को स्वीकार करने मात्र से अहं में परिवर्तन आरम्भ हो जाता है। ऐसा नहीं है कि उनसे आत्मीय सम्बन्ध की स्वीकृति तो आपने वैष्णवी दीक्षा के रूप में ले ली, अब इसके बाद वर्षों तक उस दीक्षा के अनुसार कुछ-कुछ व्यवहार करते ही रहेंगे, तब शायद कालान्तर में अन्तर होगा या दो-चार जन्म और लेने पडेंगे, तब शायद कालान्तर में अन्तर होगा या दो-चार जन्म और लेने पड़ेंगे। इस प्रकार का सन्देह रखना ही अपनी सफलता में सबसे बड़ी बाधा है। जो सदा के लिए मेरा होकर नहीं रह सकता उसमें तो हम लोगों की निष्ठा जम जाती है, विश्वास बैठ जाता है, और जिसने साथ कभी छोड़ा ही नहीं, जिसका इतना forceful जोरदार आकर्षण है, उसको अनुभव करने के लिए फुर्सत ही नहीं है।

मैंने जो सुना, सुनने के आधार पर समझने की चेष्टा की और समझे हुए में से थोड़ा-सा मान करके देखा, श्रद्धालु व्यक्ति की तरह नहीं, एक विज्ञान के छात्र की तरह प्रयोग के रूप में, कि जैसा स्वामीजी महाराज कहते हैं, ऐसा करके देखो कैसे होता है, अगर ठीक लगेगा तो मानेंगे, नहीं तो छोड़ देंगे। ऐसे ही न होता है। प्रयोग करके देखो- अगर सत्य प्रमाणित हो जाए तो मान लेना, नहीं तो छोड़ देना। ऐसा करके मैंने देखा, तो बड़ी रहस्य भरी बात आपकी सेवा में निवेदन कर रही हूँ और मजा आता है मुझे। अपने प्यारे को भी खूब आनन्द आता होगा सुन-सुन करके।

मनुष्य के अहं रूपी अणु की रचना इतनी विलक्षण है कि जैसे ही उसने इस सत्य को स्वीकार किया कि परमात्मा है और सभी का होने से मेरा भी है, सदैव होने से मुझमें हैं, अभी है और मेरा है ऐसा करके जिसने स्वीकार किया तो इस स्वीकृति के बाद उसको कुछ अभ्यास करना पड़ेगा तब अनुभव होगा ऐसी बात नहीं है। इस स्वीकृति मात्र से अहं में एक परिवर्तन होता हैं। वह परिवर्तन कैसा होता है कि अभी तक जो कभी अनित्य आकर्षण की ओर झुकना और

कभी नित्य आकर्षण की ओर झुकना हो रहा था, जिससे कारण आप बार-बार द्वन्द्व के झूले पर झूल रहे थे, तो अहं रूपी अणु में इतना बढ़िया विकास होता है कि वह द्वन्द्व खतम हो जाता है। फिर इधर का खिंचाव बहुत ही ढीला हो जाता है और उस अनन्त माधुर्यवान की ओर से जो मधुर आकर्षण आ रहा था वह भीतर-भीतर आपके सम्पूर्ण व्यक्तित्व को सरस बनाने लगता है, उसमें तरावट आने लगती है और जैसे-जैसे, भीतर रस की वृद्धि होती है, भूतकाल की सब कामनायें, वासनायें और उनसे उत्पन्न हुए ताप, द्वन्द्व एकदम शान्त हो जाते हैं। अतृप्त वासनाओं की गर्मी में बहुत ताप होता है। आपने अनुभव किया है कि नहीं किया है। अगर किसी को १०३-१०४ डिग्री बुखार चढ़ जाये तो केवल स्थूल शरीर का रक्त जलेगा, लेकिन अतृप्त वासनाओं के वेग से तो मनुष्य के शरीर की सूक्ष्म शक्तियाँ जल जाती हैं। यह सब मैंने मनोविज्ञान के अध्ययन में पाया है।

आपने नाम जप की इतनी संख्या पूरी की या नहीं की, माला पूरी की कि नहीं की, यह तो आपकी निष्ठा बतायेगी। यदि सचमुच आपने दीक्षा ली है और गुरु के बताये हुए वाक्य में आप निष्ठा रखते हैं तो जरूर पूरी करेंगे, क्यों नहीं करेंगे, सब कुछ छोड़कर पूरी करेंगे। लेकिन किसी की निष्ठा पूरी हो या न हो, कोई पूरी कर सकता हो या न कर सकता हो, यह तो उसकी उस समय की सामर्थ्य, रुचि और योग्यता बतायेगी। लेकिन इन सबकी अपेक्षा न रखते हुए अगर आपने सत्य को स्वीकार किया है तो अहं रूपी अणु में ही उस शक्ति का विस्फोट होगा, उस शक्ति का उद्भव होगा, जो आपके अनित्य आकर्षणों को काट देगी, ढीला कर देगी। आपके इष्ट का दर्शन तो भविष्य में जब आप उसको बर्दाश्त करने के लायक होंगे तो दिला देंगे। तो दर्शन तो पीछे होगा, संभाषण तो पीछे होगा, रूप तो पीछे दिखाई देगा। कब दिखाई देगा ? यह आप जानें, आपके प्यारे जानें। लेकिन मैंने जो जाना है वह यह है कि सत्य की स्वीकृति का इतना जोरदार प्रभाव होता है कि उस अनन्त परमात्मा की विभूतियाँ जो आप ही के अहं रूपी अणु में बीज रूप से तत्त्व रूप में विद्यमान थीं

उनका उद्‌भव आरम्भ हो जाता है। उनका विस्फोट आरम्भ हो जाता है। अहं रूपी अणु में से वे तत्त्व अभिव्यक्त होने लगते हैं। उनकी अभिव्यक्ति धीरे-धीरे होती है, क्रमिक होती है।

कितने हितचिन्तक हैं परमात्मा अपने प्यारे-प्यारे बच्चों के, अपने साधकों के, कि हर कदम उनको ठीक तरह से मालूम है, कि किस साधक को कितनी उपलब्धि किस क्षण देना है, कि जितनी वह बर्दाश्त कर सके, सहन कर सके, Balance रख सके और उसका लाभ उठा सकें। वे यह सब इतना धीरे-धीरे इतने सहज भाव से करते जाते है कि साधक को ऐसा लगता है कि यह सब मेरी ही बहादुरी है। जिस परमात्मा को कुछ नहीं चाहिए, जो सब प्रकार से अपने आप में ही पूर्ण है वे कभी हम लोगों को यह दिखलाना नहीं चाहते हैं कि तुम पर मैंने कुछ उपकार किया है। ऐसा नहीं करते हैं। बहुत सहज भाव से धीरे-धीरे करके अपनी अलौकिक विभूतियों से आपके थके-माँदे, भूखे-प्यासे, अतृप्त व्यक्तित्व को धीरे-धीरे सींचते जायेंगे। अपने प्रेम के रस से, अपनी कृपा से, अपनी महिमा से, अपनी विभूतियों से भरते चले जायेंगे। आपको पता ही नहीं चलेगा कि कब मेरी ऐसी दशा थी कि हम एक-एक क्षण में संसार की ओर, और एक-एक क्षण में परमात्मा की ओर झुकते थे और द्वन्द्व में कब सक हम झूल रहे थे और कैसे अनित्य आकर्षण सब खतम हो गये। और क्या हो रहा है, कैसे निष्ठा इस ओर गाढ़ी होती जा रही है, कैसे उनकी उपस्थिति से निश्चिन्तता, निर्भयता आती जा रही है, आपको कुछ भी पता नहीं चलेगा और जीवन शान्त स्वाधीन होता चला जायेगा।

ऐसा मधुर लगने लगता है कि व्यक्ति के लिए बहुत सहज हो जाता है कि वह सत्पथ पर चलता जावे। संसार उसके पीछे छूटता जाता है और "मैं" छूटता जाता है। इस शब्द का प्रयोग जान-बूझकर कर रही हूँ कि ऐसे छूटता जाता है कि साधक को उस बात का अभिमान भी नहीं होने पाता कि परमात्मा के लिए मैंने सब छोड़ दिया है। ऐसा होता जाता है। बहुत स्वाभाविक ढंग से होता है। ऐसा हम सब भाई-बहिनों के साथ होना चाहिए। इसलिए जो सत्य है वह नित्य

है, जो सदैव है वह जीवन तत्त्व है। उसकी उपस्थिति में सन्देह मत करो। उसके मंगलमय विधान में सन्देह मत करो। मेरा सन्देह ही तो मुझको रोक कर रखता है। संसार तो रोकता नहीं है। संसार में सामर्थ्य नहीं है कि अमर जीवन के अधिकारी को रोक सके। जड़ में सामर्थ्य नहीं है कि अनन्त स्वरूप को, परमात्मा के प्रेमी को रोक सके। संसार तो नहीं रोक सकता है, लेकिन आप अपनी महिमा में स्वयं ही सन्देह करके बैठे हैं। हमारा सन्देह ही हम लोगों को रोक रहा है। सन्देह नहीं करना है। नहीं तो सोचिए, कि संसार का आकर्षण आज तक हम लोगों को सन्तुष्ट नहीं कर सका, ऐसा कहना चाहिए कि संसार का आकर्षण मुझ तक पहुँच ही नहीं सका। अगर संसार के आकर्षण से प्रेरित होकर कोई सुख लेने हम जाते हैं और वह सुख मुझ तक पहुँच जाता तो मुझमें और उस सुख में भेद भी नहीं रह जाता। यह बड़ा दार्शनिक सत्य है। खूब ढंग से आप विचार करके देख लीजिये।

आप लोग बड़े पुराने सत्संगी हैं। जरा इस ऊँचे अमरत्व को, इस चिन्तन को भी ग्रहण करके देख लीजिए। संसार का कोई भी सुख अगर आप तक पहुँच पाता तो आप में और उस सुख में भेद नहीं रह जाता और आप उस सुख के भोक्ता होकर के यह नहीं कह सकते थे कि यह बड़ा भारी सुख है। समझ में आया ? अगर कोई बात सुखद लगती है तो आप कहते हैं कि यह बड़ी सुखद है। इसका मतलब क्या हुआ कि वह सुखद बात आपसे भिन्न है। तभी कह सकते हैं कि बड़ी सुखद है। आप तक तो वह नहीं पहुँची। आपसे अलग रही। इसलिए कहते है, बड़ी सुखद है। आप में और उस अनन्त परमात्मा में इतनी एकता है कि आपका उससे जब मिलन होता है तो वह मिलन वाला जीवन और आपका अपना सीमित अहंभाव, ये दोनों दो नहीं रह जाते। तब क्या होता है ? तब पता ही नहीं चलता है। तो ज्ञान के प्रभाव में भी ऐसा होता है और प्रेम के प्रभाव में भी ऐसा ही होता है।

मुझे याद आता है कि स्वामीजी महाराज कभी-कभी गाते अपनी मस्ती में- ''मिले रहें, पर कबहूँ मिले ना'' ऐसे करके गाते रहते। और भक्त कवि विद्यापति के वचन साहित्य में हमें पढ़ाये जाते थे। बहुत

अच्छे-अच्छे संतों का साहित्य हम लोग महाविद्यालय में पढ़ते थे। उस समय का पढ़ा हुआ मुझे याद आता है - मैथिली भाषा है, भक्त कवि विद्यापतिजी ने लिखा है -"सखि की पूछसि अनुभव मोय, से हो विरति अनुराग बरनव इति, तिल-तिल नूतन होय"। कतु मधुजामिनी गमामिलन जाने कैसन केल"- वे कह रही है कितनी बार उनके साथ मधुर-क्रीड़ा में कितनी रात्रियों को बिताया हमने, लेकिन आज तक पता ही नहीं चल सका कि क्रीड़ा कैसी होती है। कैसे नहीं पता चला कि क्या होता है ?

तो जिससे हमारी जातीयता है, जिससे हमारे बीच में स्वरूप की एकता है, जिससे हमारा नित्य सम्बन्ध है, जिससे हमारा आत्मीय सम्बन्ध है, उससे अभिन्नता होने पर फिर दो नहीं रह जाते। तो कौन-सा आकर्षण जोरदार होगा। बताओ तो, जो कभी आपमें मिल नहीं सकेगा उसका, या जो स्वरूप से एक है उसका ? उसका आकर्षण जोरदार होगा न। पता नहीं आदमी कहाँ-कहाँ भटकता फिरता है और किसको-किसको दोष देता रहता है। हमारी तरह अपने को बुद्धिमान मानने वाले लोग तो भगवान को ही दोषी बताते हैं।

"माया के इस मोहक वन की क्या कहूँ कहानी परदेशी" एक साहित्यकार की रचना पढ़कर आई थी, वह स्वामीजी को सुनाती थी कि महाराजजी ! उन्होंने ऐसा मोहक वन बनाया है कि इसके आगे हम भूल जाते हैं। तो परमात्मा को दोष दे देना, संसार को दोष दे देना, अपने को क्षमा कर देना, अपने को ही बर्बाद करना है और क्या करना है। जो सत्य है, जो नित्य है, जिससे आपकी आत्मीयता है, जातीयता है, उससे मिलना जब होता है तो भेद नहीं रह जाता। भेद मिट जाता है, भिन्नता मिट जाती है।

एक ज्ञानी संत ने अपने विचार को ऐसे कहा कि --

गई पूतली नौन की थाह समुँद की लेन।
आपुनि मिल पानी भई, उलटि कहे को बैन।।

नमक की पुतली अगर समुद्र की थाह लेने जाय और नमक पानी

के साथ मिलकर पानी हो जाय तो आकर बतायेगा कौन कि समुद्र में कितना जल है ? उसमें बहुत जोरदार आकर्षण है। उस आकर्षण की अभिव्यक्ति आपके व्यक्तित्व के भीतर सहज भाव से अपने आप होती चली जाती है। होती है, बिल्कुल होती है।

हमारे जान-पहचान के लोग, शरीर के सम्बन्ध से नाते-रिश्ते वाले, वे सब लोग सुनें और कहें कि देखो भाई ! तुम लोगों के यहाँ नियम कायदा कुछ सिखाया ही नहीं जाता और पाठ-पूजा का, भजन का तुम लोगों के यहाँ समय ही नहीं हैं, ऐसी कैसी भक्ति होती है ? हमने कहा कि भाई मैंने तो प्रवेश किया है, मैं देख रही हूँ कि क्या होता है, क्या नहीं होता है। बाद में मैं बताऊँगी।

भरी सभा में बैठकर अपने जीवन की आवश्यकता पर प्रश्न करो और भगवत् अनुरागी ने उत्तर दे दिया कि भाई परमात्मा तो है और सभी का होने से तुम्हारा भी है और सदैव होने से अभी भी है और सर्वत्र होने से तुम्हारे में भी हैं। तुम्हारा कोई प्यारा हो, तुम्हारे में ही विद्यमान हो और इसी वर्तमान में विद्यमान हो तो उसको बुलाओगे, पुकारोगे कि उसको प्यार करोगे ? क्या करोगे ? प्यार करोगे। बुलाने वाली बात तो रही नहीं, कोई दूर हो, उसको सुनाई न देता हो, तो पुकारो, पुकारने का अर्थ क्या हुआ ? पुकारने का अर्थ यह हुआ कि मुझे इस बात का भरोसा नहीं है कि सर्वज्ञ जो हैं वे बिना पुकारे मुझको व मेरी व्यथा को जानते हैं। मेरे प्यारे जो हैं, इसी वर्तमान में, इसी क्षण में मुझमें ही विद्यमान हैं, इस सच्ची बात पर हम विश्वास न करें तो इस सत्यता के आधार पर जो विचार-प्रणालियाँ बनी हैं, उस भाव को सजीव करने के लिए, उस भाव को पुष्ट करने के लिए जो उपाय बने हुए हैं, आप उस सत्य को ही स्वीकार न करें, तो नींव ही न हो तो महल खड़ा कैसे होगा ? तो पहिले इस सत्य की स्वीकृति अनिवार्य बात है।

इस स्वीकृति के आधार पर जितनी भी विध्यात्मक प्रणालियाँ हैं- वे सब सजीव हो जाती हैं, सब सहायता देने वाली होती हैं। जितने

भी अपनी-अपनी निष्ठा के अनुसार बाहरी वेश-भूषा, साधन, भजन, नियम, बनाये गये हैं सबके सब सार्थक हो जाते हैं। कब ? जब मूल में सत्य की स्वीकृति मौजूद हो तब, और उस स्वीकृति के अभाव में सब विधि-विधान निर्जीव रहता हे। करते भी जाते हो, सन्तोष भी नहीं मिलता है। सच्चे ईमानदार साधक इस बात को स्वीकार करते हैं।

महाराजजी के सामने भी मैं सुना करती थीं और अब भी सुनती हूँ। साधक लोग कहते हैं कि इतने दिन हो गये, पूरी पक्की रीति से ऐसा-ऐसा नियम पालन करते, परन्तु भीतर-भीतर कुछ उजाला नहीं लग रहा है। तो उधर का बन्धन ढीला हो, उधर का चिन्तन खतम हो, और इधर का आकर्षण बढ़े तो भीतर रस बढ़े। वह प्रिय लगने लगे तब न आदमी को मालूम हो कि बल बढ़ रहा है, रस बढ़ रहा है, विश्वास बढ़ रहा हैं, प्रियता बढ़ रही है। तो कहना पड़ेगा या किसी से पूछना पड़ेगा ? कोई पूछता है तो बताने के लिए फुर्सत नहीं है, कोई जानना चाहता है तो जी खोलकर कहना अच्छा नहीं लगता, क्योंकि व्यक्ति अपने भीतर इतना खिंच जाता है कि शरीर और संसार से सम्बन्ध रखना उसके लिए भार बन जाता है। है तो यह बात बिल्कुल स्वाभाविक और मेरी तरह आपकी बुद्धि भी बहुत ज्यादा प्रयोग पर टिकती हो तो किसी भाई की, तो करके देखो, आसान हो जायेगा। बिना किसी बाहरी प्रयास के भीतर-भीतर का परिवर्तन अहं रूपी अणु में होता है और वह सत्य की स्वीकृति से होता है।

अब शान्त हो जाएँ।

(39)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

सन्तवाणी में अभी हम लोगों ने सुना, कि हम जो जानते हैं, उसको मानना जरूरी है। उसके अनुसार अपने को बनाना जरूरी है। जानकारी खूब हो जाती है, सत्य की चर्चा सुनने के आधार पर और

सद्ग्रन्थों के आधार पर। जानकारी बढ़ जाती है, परन्तु उसका अनुसरण हम नहीं करते तो जीवन की समस्यायें सुलझती नहीं है।

ऐसा एक रहस्य है मनुष्य के जीवन का, कि विवेक के प्रकाश में उसे मार्ग दिखाई देता है परन्तु उसके साथ अगर उसकी जिन्दगी की शक्ति लगी हुई नहीं है, जीवनी शक्ति कहें - life force कहें, जिस शब्द से अपने को समझ में आवे, वैसे समझें कि उसके साथ अगर गति नहीं है तो मार्ग दिखाई देने पर भी व्यक्ति के जीवन की समस्या सुलझती नहीं है। जीवन के पारखी सन्त ने हृदय और मस्तिष्क की एकता की चर्चा की थी। मस्तिष्क में विचार के आधार पर, कोई अच्छी बात समझ में आ गई, तो उसके अनुसार अपने को बदल डालने के लिए हृदय के भाव की पवित्रता भी चाहिए। यह बहुत जरूरी बात है।

जो निजज्ञान का आदर करता है, वही गुरु की वाणी का आदर करता है, वही सद्ग्रन्थों के आदेश का आदर करता है और जो व्यक्ति निजज्ञान के आदर करने में लापरवाही करता है, उसकी ओर सजग नहीं रहता तो उसके लिए सन्तवाणी का आदर करना, सद्ग्रंथों के वाक्यों का आदर करना सम्भव नहीं होता।

एक घटना स्वामीजी महाराज ने हम लोगों को सुनाई थी। बहुत पहले की बात है। इलाहबाद में कुम्भ के मेले मे महाराज वहाँ ठहरे हुए थे। एक युवक आये, इलाहबाद यूनीवर्सिटी के Student थे, आकर उन्होंने कहा कि बाबाजी ! मैं कई दिनों से आपकी बातें सुन रहा हूँ, आपकी बातें बहुत अच्छी लगती है, कुछ बताइये हमको। तो महाराजजी ने उसे पूछ लिया कि तुम क्या करते हो भाई ? तो उसने कहा कि हम Post-graduate Student हैं। M. A. की पढ़ाई कर रहे होंगे। तो महाराजजी ने कहा, भैया ! मैं तुम को कौन सी अच्छी बात बताऊँगा, तुम तो मुझे बीस बरस तक पढ़ाओगे, मैं तो बेपढ़ा-लिखा आदमी हूँ। उस लड़के ने माना नहीं, कहा कि नहीं-नहीं बाबाजी, आप बहुत अच्छी बातें जानतें हैं, आप कुछ तो बताइये ? स्वामीजी ने कहा कि अच्छा मुझे तुम बताओ कि कोई अच्छी बात तुम जानते हो कि नहीं ? तो

उसने कहा- हाँ कुछ तो जानता हूँ। फिर महाराजजी ने पूछा, जो अच्छी बात तुम जानते हो, वैसा करते हो क्या ? तो उसने कहा, नहीं महाराज ! वैसा करता तो नहीं हूँ। तब उन्होंने कहा, जब अपनी ही बात नहीं मानते हो, जो जानते हो उसी के अनुसार नहीं चलते हो तो मैं अपनी अच्छी बात तुमको बताकर उसका अनादर क्यों कराऊँ। लड़का बहुत प्रसन्न हो गया, समझदार था। उसने कहा कि आपने सबसे अच्छी बात मुझे बता दी, अब क्या बताइयेगा। कौन सी बात ? कि जो जानते हो सो करो। तो प्रश्नकर्ता और उत्तरदाता दोनों का उद्देश्य सिद्ध हो गया। बहुत आवश्यक बात है।

आप खुद सोच-विचार कर देखिए कि कितनी अच्छी बातों को हम लोग जानते हैं। अपने परिवेश में सुनने को मिली हैं। सन्त महापुरुषों के पास बैठने पर मालूम होती हैं। सद्ग्रन्थों के पढ़ने से मालूम होती हें। बहुत सी अच्छी बातों को हम जानते हैं और जानते हुए भी उनके अनुसार करते नहीं हैं, इसलिए जीवन की समस्या सुलझती नहीं हैं। कुछ लोगों का ऐसा एक भाव बन जाता है कि बढ़िया-बढ़िया सद्ग्रंथों को पढ़ते ही रहेंगे, पढ़ते ही रहेंगे, जितना मिलेगा उतना सब पढ़ेंगे। ठीक है, पढ़ने से जानकारी बढ़ती है, अच्छी बात है, लेकिन सद्ग्रन्थों में जो अच्छी बातें लिखी हुई है, उन अच्छी बातों का प्रभाव ग्रन्थ के पन्नों पर ही रहेगा कि मनुष्य के व्यक्तित्व पर होगा। जी ? व्यक्तित्व पर होगा। जो जिन्दा दिल है, जो सजग व्यक्ति है, जिसके भीतर अविनाशी बीज रूप से विद्यमान है, जो अपनी वर्तमान दशा को बदलने के लिए तत्पर है, उस पर अच्छी बातों का प्रभाव होता है। इसलिए मनुष्य के जीवन में अपने विकास के लिए बड़ी आवश्यक बात है कि अच्छी बातें जो हम जानते हैं, उनको मानकर उसके अनुसार चलना आरम्भ करें, तो आप देखेंगे कि बहुत-सी अच्छी बातों को जानना आवश्यक नहीं है, जितनी आवश्यकता है, थोड़ी-सी अच्छी बात को जानकर के उसका अनुसरण करने की।

मैंने ऐसा अनुभव किया और सत्य की चर्चा में हम लोगों ने सुना, कि शरीर और संसार नाशवान है। अपने द्वारा इस बात को अनुभव

किया कि दस-बीस बरस पहले, शरीर जैसा था, आज वैसा नहीं है। क्या इसके लिए ग्रन्थ पढ़ना पड़ेगा ? नहीं। यह अपनी जानी हुई बात हैं। पक्की बात है। बीस बरस पहले जो शरीर का हाल था वह आज नहीं है। तो यह निर्णय युक्ति-युक्त है, कि आज जैसा है आगे वैसा भी नहीं रहेगा। तो एक बात हमारी जानकारी में आई कि सबसे निकट अपना साथी यह शरीर, मालूम होता है, उसी में स्थिरता नहीं है, उसी पर अपना अधिकार नहीं हैं, उसी को हम अपने नियन्त्रण में चला नहीं सकते। उसी में स्थिरता नहीं है, तो इसके अतिरिक्त इससे दूर जो कुछ दिखाई दे रहा है उस सब पर अपना नियन्त्रण चलेगा ? नहीं चलेगा। इतनी बात जानने की सामर्थ्य मनुष्य में है कि नहीं है। जी ? है। इतनी बात हम लोग जोनते हैं। तो अब इस जानी हुई बात का प्रभाव अपने पर नहीं हैं, तो गुरु और ग्रन्थ के वाक्य का प्रभाव कैसे होगा ? अगर किसी सद्ग्रन्थ का अध्ययन आप करें तो उसमें आपको इसी बात का विवेचन मिलेगा, कि जो तुम्हारा दृश्य हैं, वह तुम्हारा जीवन नहीं हैं। जो तुम्हारी जानकारी का विषय बन सकता है, वह तुम्हारा जीवन नहीं है। जो अपने से भिन्न प्रतीत हो रहा है, उसमें स्थिरता नहीं है। ये बातें मिलेंगी कि नहीं ? अनेक भाषाओं में, अनेक शब्दों में, अनेक विधियों से, जो बनने-बिगड़ने वाला क्रम है, वह तुम्हारा नहीं हो सकता, वह सदा के लिए तुम्हारे साथ नहीं रह सकता।

ये बातें तो हम लोगों ने अपनी जिन्दगी में अपने ही द्वारा जान ली हैं। इस जानकारी का प्रभाव क्या होना चाहिए ? इस जानकारी का प्रभाव यह होना चाहिए कि शरीर और वस्तु और संगी-साथी जितने हैं, इन सबका महत्त्व मेरे जीवन में से निकल जाना चाहिए। इतना ही तो है। फिर और क्या सुना हमने ? और यह सुना कि सदा-सदा का रहने वाला नित्य सम्बन्धी परमात्मा तुम्हारे ही में विद्यमान है। उससे तुम्हारा साथ कभी छूटा नहीं। उससे विच्छिन्न कभी तुम हुए नहीं। वह ज्ञान-स्वरूप है, वह रस-स्वरूप है, वह शान्ति-स्वरूप है, सामर्थ्य-स्वरूप है और ऐसा अविनाशी परमात्मा है, जो सर्व उत्पत्ति का आधार है, जो सर्व प्रतीति का प्रकाशक है।

यह तो उसकी महिमा हो गई। उसके साथ एक बहुत बढ़िया बात हम लोगों को सुनने को मिली कि ऐसा जो महान् है और सब प्रकार से सहज, आनन्द-स्वरूप, रस-स्वरूप, है, उस अलौकिक, अद्वितीय, विलक्षण परमात्मा का मनुष्य के साथ एक direct सीधा सम्बन्ध है। और वह नित्य सम्बन्ध है, जो कि कभी छूट नहीं सकता, कभी मिट नहीं सकता। उस अनन्त के विद्यमान होते हुए भी, हम लोगों के दुःखी रहने का कोई कारण नहीं दिखाई देता। वह शान्तिस्वरूप मुझमें विद्यमान हैं, तो मुझे शान्ति के लिए किसी और का मुँह ताकना नहीं है। ज्ञान स्वरूप मेरे भीतर विद्यमान है तो ज्ञान को खोजने के लिए बाहर दौड़ना नहीं हैं। प्रेमस्वरूप परमात्मा मुझमें विद्यमान है तो अपना बनाने के लिये दुनिया की ओर देखना नहीं है। ठीक है कि नहीं ? तो इतना हम लोगों ने कर लिया क्या ? किया नहीं। तो अब और क्या सुनना चाहते हैं ?

दो ही बातें मुझे मुख्य लगती हैं। जो नहीं है, उस पर से अपनी दृष्टि हटा लो। जो सदा-सदा से है, उसका होना स्वीकार कर लो। बस ! तो इसी बात को मैं कब तक कहूँ, कब तक सुनूँ। कितना लिखना हो गया, पढ़ना हो गया, कितना सुनना हो गया, कितना सुनाना हो गया। अगर जिन्दगी का भार नहीं उतरा, चिन्ता और भय से मुक्ति नहीं मिली तो फिर कौन-सा उपाय करना बाकी रहा ? ऐसा सोचिए, बहुत ही विचारणीय बात है कि जानकारी में तो कमी नहीं है। कामनाओं का त्याग कर दो तो, शान्ति ही शान्ति है, अशान्ति का कोई प्रश्न ही नहीं है। गुरु के वाक्यों में श्रद्धा करके, ग्रन्थ के वाक्यों में श्रद्धा करके, अनन्त परमात्मा की कृपा को स्वीकार कर लो। उनको तुम्हारे साथ जो direct सम्बन्ध है, सीधा, बीच में किसी और की आवश्यकता नहीं है, उस सम्बन्ध को याद कर लो, तो उनकी विद्यमानता का मजा तुम्हें आ जाय। इस बात से मुझको बहुत आराम मिला था। परमात्मा की महिमा तो सुनती ही रही मैं, दीनबन्धु हैं, करुणा-सिन्धु हैं, पतित-पावन हैं, सृष्टिकर्त्ता हैं, विश्वम्भर हैं, सबका भरण-पोषण करते हैं और क्या-क्या नहीं सुनते हैं हम लोग ? स्वामीजी महाराज के पास सुनने

को मिला कि जितना तुम कहते हो,उतना भी है, जितना तुम सुनते हो उतना भी है। आज तक जिस किसी ने जो कुछ अनेक बार में कहा है वह सब भी है और सबसे विलक्षण भी हैं। तो अब कितना कहेंगे, कितना सुनेंगे ? पहले इन सारी बातों के होते हुए भी मेरा ध्यान परमात्मा पर जाता नहीं था। अपनी समस्याओं के समाधान के लिए मैं उनके बारे में कुछ नहीं सोचती थी। हैं महामहिम, तो होंगे अपने लिए। मेरा क्या ? करुणा सिंधु हैं, तो किसी पर करुणा की होगी वह जानता होगा, मैं क्या जानूं ? दीनबन्धु हैं, तो किसी दीन को सँभाला होगा। मेरा क्या ? भीतर से ऐसी एक उदासीनता Indifferent attitude जिसको कहते हैं, वह थी। ठीक है, होंगे बाबा। ना कहने का तो साहस नहीं था और जो अपनी training की laboratory थी, उसमें बड़ी सच्चाई से इस बात को माना जाता है कि जो भी कुछ आपकी जानकारी में आया, सुनने में आया, तो बिना उसकी जाँच किए, प्रमाणित किए, हाँ भी नहीं कह सकते, ना भी नहीं कह सकते। जाँच करो, प्रयोग करो, प्रमाणित करो, सही निकले तो हाँ कहो, गलत निकले तो न कहो। तो परमात्मा के बारे में ऐसा प्रयोग तो मेरा कुछ था ही नहीं। तो मैं ना भी नहीं कहती थी और हाँ भी नहीं कहती थी। लेकिन जब भगवत् अनुरागी संत ने, परमात्मा की विद्यमानता का इतना सीधा सम्बन्ध मनुष्य के जीवन से है, इस बात की जानकारी दिलाई, विश्वास दिलाया, ऐसा कह सकती हूँ, कि सन्त कृपा से, भगवन्त कृपा से, मुझे अनुभव भी कराया गया तो यह बात मेरे लिए सही प्रमाणित हो गई कि परमात्मा का मनुष्य के व्यक्तित्व के साथ सीधा सम्बन्ध है, और न किसी के बीच में आकर सहयोग देने की आवश्यकता है और न कोई व्यवधान अर्थात् रुकावट है। उसके बाद से मुझमें बहुत निश्चिन्तता आई।

सचमुच सृष्टिकर्त्ता स्वयं हमारे साथ सम्बन्ध रखते हैं, हमारा ध्यान रखते हैं। हम लोगों को बनाकर दुनिया में भेजा है, तो जैसे मैं उनकी ओर से विमुख (Indifferent) हो कर बैठी रहती थी, वैसे वे हमारी ओर से उदासीन (Indifferent) होकर नहीं बैठते हैं। आप

भाई-बहिनों की सेवा में, इस बात को निवेदन करने में मुझे बड़ा हर्ष हो रहा है और इस बात की बड़ी आवश्यकता भी मालूम होती है, कि किसी तरह आपके जीवन में, जिन भाई-बहिनों को जरूरत है उन सबके जीवन में, कि हमारे उनके बीच कोई व्यवधान हैं नहीं, और उनकी ओर से सम्बन्ध कभी टूटता नहीं है, वे हमें कभी भूलते नहीं हैं, उनमें न तो विस्मृति का दोष है और न उनमें हम लोगों पर कोई क्रोध-क्षोभ है, यह सब कुछ नहीं है। तो उनकी तरफ का आधा भाग तो निश्चित ही है, केवल आधा हिस्सा अपनी तरफ का रह जाता है। वह क्यों रह जाता है कि जब तक हम उनके सम्बन्ध में निःसन्देह नहीं हो जाते कि उनके हमारे बीच कितना सीधा सम्बन्ध है, कितनी जल्दी हमारी दशाओं का उनको परिचय हो जाता है और उसके अनरूप उनकी प्रतिक्रिया हो जाती है, तब तक अपने ही में विद्यमान उस आनन्दस्वरूप, रसस्वरूप की तरफ हम ध्याान नहीं देते और हम भूखे-प्यासे, दुनिया की ओर ताकते हुए पता नहीं क्या-क्या दुर्गति अपनी करते फिरते हैं।

एक जगह पर जहाँ प्रेम की चर्चा आई, वहाँ पर महाराज के मुख से एक वाक्य निकला। उसमें मनुष्य के लिए उन्होंने यह कहा कि- "चाहने वाले को चाहना पशुता हैं।" समझ में आता है ? चाहने वाले को चाहना पशुता है। अब अपनी दशा तो देखो, कि जो सब प्रकार से पूर्ण है, जो हम लोगों से सिवाय प्रेमभाव के और कुछ नहीं चाहता और उसी का दिया हुआ प्रेमभाव उसी के अर्पण करो तो उन्हें इतनी प्रसन्नता होती है कि उन्हीं का दिया हुआ प्रेमभाव उन्हीं के प्रति अर्पित करने वाले प्रेमी पर वे अपने आप को न्यौछावर कर देते हैं। ऐसा होता है, ऐसा हम लोगों ने सुना है, ऐसा अनेक भक्तों के जीवन में हुआ हैं। उसको भूल कर, उसकी ओर से विमुख होकर, हम सब लोग जो संसार में अनगिनत सम्बन्ध बनाए बैठे हैं, जिसके कारण उस अनन्त प्रेमस्वरूप परमात्मा से विमुख हैं, उन व्यक्तियों के चिन्तन को देखो तो वे सब चाहने वाले हैं कि सब अचाह है ? जी ? चाहने वाले हैं। तो जो खुद कुछ चाहता है उसके साथ हमारा आपका प्रेम का नाता निभ

नहीं सकता। स्वामीजी महाराज ने लिखा-"चाहने वाले को चाहना पशुता है।" मनुष्यता से नीचे की बात है। तो चाहने वाले के साथ क्या करना चाहिए। चाहने वाले की सेवा कर दो, सहयोग दे दो। यह तो कर सकते हैं। चाहने वाले के प्रति सद्भाव रखो। वस्तु है तो वस्तु दे दो। उसको आपके शरीर के बल की जरूरत है तो शारीरिक बल से सहयोग दे दो और कुछ न बन पड़े तो हृदय से कल्याण मनाओ उसका। सहयोग देना, सक्रिय सेवा करना, सद्भाव रखना, उसका भला मनाना यह तो संसार के व्यक्तियों के साथ और प्राणीमात्र के साथ हम कर सकते हैं। सहयोग देना, सेवा करना, भला मनाना इतना तो कर सकते हैं।

लेकिन अपने अन्तर की जो प्यास है, वह तो परम-पवित्र, परम-मधुर, प्रभु प्रेम के बिना मिट नहीं सकती। उससे विमुख होकर चाहने वाले को चाहना और उसी के पीछे दौड़ते रहना बुद्धिमानी तो नहीं मालूम होती। जी ? अब सोचकर देखिए। प्रभु-प्रेम के रस की अभिव्यक्ति हमारे भीतर क्यों नहीं हुई ? क्या उनके प्रेम का दरवाजा बन्द है ? क्या उनकी कृपा का दरवाजा बन्द है ? क्या उन्होंने हमारी ओर से अपनी आँखें बन्द करलीं हैं ? नहीं। तो क्या हो गया ? मुझे ऐसा सूझता है कि और कुछ नहीं हो गया, बात केवल इतनी-सी हो गई, कि जिन्दगी में मैंने, अपने लिए मैं कह सकती हूँ, आप सभी मेरे पूज्य हैं, प्रेममय हैं, मेरे प्यारे प्रभु के प्रतिरूप हैं, दोष दर्शन मैं अपना करके बता रही हूँ, कि मैंने ऐसा पाया कि जड़ता के आधार पर स्थूल दृष्टियों से दिखाई देने वाले संसार में मैंने इतना विश्वास किया कि यही संसार मेरी सभी समस्याओं का समाधान कर देगा। तो बुद्धि भगवती सलाह दे रही है कि देखो यहाँ तुम्हारे समाधान लायक कुछ है नहीं, फिर भी इन्द्रिय दृष्टि को महत्त्व देकर मैंने दिखाई देने वाले की ओर दौड़-दौड़ कर जीवन की बहुत सी शक्ति गँवा दी।

अब प्रभु के मंगलमय विधान से, सन्त की करुणामयी दृष्टि से, अनन्त परमात्मा की कृपालुता से सत्संग मिला, और सत्संग में उस महामहिम की महिमा सुनने को मिली। जीवन की आवश्यकता ने प्रेरित

किया कि यहाँ संसार में तो तुम्हारे लायक कुछ है ही नहीं। और बेसहारे तुमसे रहा नहीं जाता। तो सन्त की वाणी को मानो, ग्रन्थ के वाक्यो को मानो, उस महामहिम की महिमा को स्वीकार करो। जैसे कि कहावत है-"डूबते को तिनके का सहारा" ऐसे ही परिवर्तनशील, नाशवान संसार में कहीं कोई स्थिति नहीं है, अपने लिए कोई आधार नहीं है, और निराधार रहा नहीं जाता। क्या करें ? ऐसी घड़ी में सन्त ने परमात्मा का सहारा पकड़ा दिया। यही होता है। असत्य की जानकारी अपने को होती है। मैंने व्यक्तियों से सम्बन्ध माना तो यह मेरी भूल हो गई, मैंने संसार से आशायें कीं तो निराशा मिल गई, मैंने व्यक्तियों के संयोग में सुख माना तो वियोग का घोर दुःख सहन करना पड़ा। अपने अनुभव के द्वारा इन बातों की जानकारी मिल गई तो इसका प्रभाव यह होना ही चाहिए कि फिर हम संसार से आशायें छोड़ दें। चाहिए कि नहीं ? अगर पक्की जानकारी होने के बाद भी संसार से आशाएँ हम नहीं छोड़ते हैं, स्वयं अपने द्वारा उन्हें नहीं त्यागते हैं तो दूसरा कौन है जो जबरदस्ती त्याग करा देगा ? नहीं करायेगा।

इसलिए निजविवेक के प्रकाश के रूप में ज्ञान गुरु अपने में विद्यमान हैं, परमात्मा की मंगलकारी योजना इस जीवन में काम कर रही है, और संतजन अपने अनुभव के आधार पर अपना प्रसाद बाँटते ही रहते हैं। यही सब आधार है कि हम मिटने वाले का सहारा छोड़ें। सहारा ही छोड़ना है और कुछ नहीं छोड़ना हैं, क्योंकि संसार में यह सामर्थ्य नहीं कि यदि आप स्वयं न छोड़ें तो वह सहारा छुड़वा देवे। निज विवेक के प्रकाश में ही आगे हम बढ़ जाएँ तो उसकी शक्ति का सामना संसार में तो नहीं है। हम सभी मनुष्य हैं और मनुष्य होने के कारण ही अविनाशी से मिलने का साहस करते हैं। अनन्त परमात्मा के प्रेमी होने का साहस करते हैं। नहीं तो और कौन कर सकता है। जिसके भीतर अलौकिक तत्त्व की विद्यमानता है, जो उसके प्रकाश में नाशवान को नाशवान करके जानता है, जो हृदय के भाव के आधार पर अलख अगोचर की विद्यमानता को मानता है, वही तो ऐसा साहस करेगा, और कौन करेगा ? तो आप देखिये मैं तो जितना-जितना

सोचती हूँ, मुझको मनुष्य के जीवन की ऐसी विलक्षणता, ऐसी महिमा दिखाई देती है कि तारीफ करती हूँ उस कारीगर की, जिसकी प्रशंसनीय रचना मनुष्य के रूप में प्रकट हुई है।

एक खिले हुए पुष्प को देखकर महाकवि टेनिसन बहुत दिनों के लिए संसार को भूल गये थे। चले जा रहे हैं मार्ग में, एक गिरा हुआ खण्डर है और उसमें एक पुष्प खिला था। रास्तें से कुछ दूर। कवि भी थे, दार्शनिक भी थे, महात्मा भी थे। नजर पड़ गई, जाकर बैठ गये उसके पास। देखने लगे, उससे बात करने लगे। अपनी कविता में बहुत कुछ लिखा है उसके सम्बन्ध में। अन्त में यह कह कर उठते हैं कि देखने में तू छोटा-सा है, अकेला ही खिला है, अकेला ही मुरझा जायेगा लेकिन हे पुष्प, तुम्हारे भीतर वह रहस्य है, वह सत्य है कि तुम्हारे रहस्य को मैं जान लूँ तो सारी सृष्टि का रहस्य मैं जान जाऊँ। वह खिला हुआ पुष्प, जो सौन्दर्य उपासक की दृष्टि को अपनी ओर आकर्षित कर लेता है, उस पुष्प को नहीं पता है कि मेरी भी सत्ता वही है जो सारी सृष्टि की है। उस पुष्प को नहीं मालूम है कि मुझको सुन्दरता उस परम सुन्दर से मिली है, मुझको सुगन्ध उस परम सुगन्धवान से मिली है। जो कुछ यहाँ दिखाई देता है वह सब उसी का विस्तार है। यह वस्तुएँ नहीं जानती हैं। यह वनस्पति को नहीं मालूम है। यह पशु-पक्षियों को नहीं मालूम है। यह मनुष्य ही है, यह उसी की विशेषता है कि जहाँ भी वह दृष्टि डाले उसी में से अपने लिए अर्थ निकाल ले।

इस लौकिक जगत् में नाशवान शरीर को लेकर विचरण करता हुआ अलौकिक परमात्मा के प्रेम का जो विस्तार कर सकता है, वह मनुष्य ही तो है। जी ! तो आप अपनी इस विशेषता को ध्यान में रखेंगे तो आसान हो जायगा, संसार के बन्धन को तोड़ना। क्योंकि संसार की ओर से बन्धन है ही नहीं। मैंने अपना मूल्य घटाया, अमर पद का अधिकारी होने पर भी मैंने सांसार की वस्तुओं से ममता जोड़ ली। अनन्त परमात्मा के प्रेम का पात्र होने के लायक मुझको बनाया गया है, अपनी उस महिमा को भुला करके हाड़-मांस के पुतले भूखे दुनिया

में घूम रहे हैं, उनको पकड़ कर यदि तृप्ति चाहूँ तो अपना मूल्य मैंने ही घटा दिया। अपने मूल्य को मैं सँभाल सकती हूँ। यह मनुष्य ही तो है, आप ही तो है, जिनके सामने सृष्टि का वैभव धूल के समान हो सकता है।

राजकुमार सिद्धार्थ गहन चिन्तन में बैठे हैं, मन्त्री-मण्डल के लोग जाकर राजा को सम्वाद देते हैं कि राजकुमार बहुत चिन्तित रहते हैं, क्या बात है ? तो राजा कहते है- मेरा चौथापन आ गया। पुत्र सब प्रकार से योग्य हो गया, विवाह हो गया। अब भी मैं गद्दी पर बैठा हूँ। पुत्र को गद्दी नहीं देता हूँ, तो युवक राजकुमार उदास नहीं होगा तो क्या करेगा ? यह सोचकर उन्होंने मंत्रियों को भेजा कि जाओ, राजकुमार से कहो कि उनका राज्याभिषेक कराने के लिए महाराज बुला रहे हैं संसार का वैभव रखा है उनके सामने। मन्त्री जाकर राजा की बात निवेदन कर रहे हैं, तो राजकुमार क्या कहते हैं ? हे मन्त्रीगण ! आप जाकर पिताजी को कह दीजिए कि मुझे वैसी गद्दी नहीं चाहिए जिस पर से उतरना पड़ेगा। ऐसी गद्दी नहीं लूँगा कि आज पिताजी बुलाकर बैठायेंगे और कल फिर उतरना पड़ेगा। वह नहीं चाहिए मुझको। तो मनुष्य का ही यह साहस है, उसी की सामर्थ्य है कि त्रिभुवन के वैभव को स्वेच्छा से ठुकरा दे। नहीं, नहीं, नहीं, मुझे नहीं चाहिए, और बिना देखे, बिना जाने परमात्मा को अपना मानकर अपना सर्वस्व उस पर न्यौछावर कर दें।

स्वामीजी महाराज कहते हैं, प्यारे प्रभु ! तुम चाहे जैसे हो और तुम चाहे जहाँ रहो और चाहे कुछ करो, तुम मेरे हो, मैं तेरा हूँ। और यार तुम भी क्या कहोगे ? तुम भी आजाद रहो, मैं भी आजाद हूँ। वह प्रेमी क्या, जो प्रेमास्पद को अपने संकल्पों में बाँधे। और वह प्रेमास्पद क्या, जो प्रेमी को अपने अधीन रखना पसन्द करे। भक्त कहता है, हे प्रभु ! तुम्हारी प्रसन्नता के लिए मैं तुम पर न्यौछावर हूँ। तो भगवान कहते हैं- हे भक्त ! तुम्हारी प्रसन्नता के लिए मैं तुम पर न्यौछावर हूँ। तो आजाद का आजाद के साथ प्रेम का सम्बन्ध चलता है। कामनाओं को लेकर मनुष्य प्रेमी नहीं हो सकता है, और कामनाओं से ग्रस्त मनुष्य

प्रेम का प्रतिदान भी नहीं दे सकता है। यह तो ऐसा अनमोल तत्त्व है कि मनुष्य ही, और परमात्मा ही परस्पर प्रेम के आदान-प्रदान में समर्थ हैं। इतने ऊँचे पद पर पहुँचने के लिए आपको बनाया गया है। ऐसी अच्छी योजना से आपका निर्माण हुआ है।

पण्डित लेखराजजी आर्य समाज के बड़े कार्यकर्त्ता थे। उनका नौजवान लड़का मरणासन्न बिस्तर में पड़ा था और उसी समय उनको समाचार मिला कि तीन सौ हिन्दू, अहिन्दू के घेरे में पड़ गये हैं और उन पर यह आपत्ति आ गई है कि जान दे दें या धर्म छोड़ें। समाचार मिलते ही एकदम जाने को तैयार हो गये। उनकी पत्नी रो रही थीं। कहने लगी, पण्डितजी ! यह लड़का तो एकदम मरणासन्न पड़ा है और आप कहाँ जा रहे हैं। तो पण्डितजी कहते हैं कि मैं क्या करूँ, मेरे तीन सौ लड़कों की जिन्दगी आफत में पड़ी है, मैं जा रहा हूँ। एक लड़के के बारे में कैसे सोचूँ ? मैं जाऊँगा। तो क्या व्यक्ति का मोह और धन का लोभ और संसार का सुख, किसी आदमी को पकड़ सका ? आदमी को तो नहीं पकड़ सकता। धन का लोभी उसमें फँस सकता है। कामनाओं से प्रेरित व्यक्ति उसमें फँस सकता है। तो हम यह नहीं कह सकते कि संसार बड़ा माया जाल है। संसार कुछ नहीं कर सकता, आपको पकड़ नहीं सकता। तो जो लोग पकड़े गये हैं, वे अपनी दुर्बलता से, अपनी भूल से पकड़े गये हैं।

जो आदमी अपने उच्च आदर्श से उतर जाय, जो मानवता की श्रेणी से नीचे उतर जाय तो वह संसार में क्या अनर्थ नहीं करेगा ? मैंने तो साधन काल में यह अनुभव करके देखा और स्वामीजी महाराज के मुख से भी सुना, दोनों ही बातें हैं। मनुष्य अपनी ओर से कितना भी दुर्बल भाव और कितने भी दोषों, विकृतियों से भरा हुआ भूतकाल लेकर के परमात्मा के सम्बन्ध को पसन्द करने की हिम्मत करे, केवल एक बार ऐसा भाव उसके जी में उपजे और निकले तो परमात्मा जैसे कि पहिले से हर प्रकार से तैयार रहते हैं, उसके विश्वास को दृढ़ करने के लिए, उसके भाव की वृद्धि के लिए, उसको प्रेम स्वरूप बनाकर, अपने प्रेम के आदान-प्रदान के लिए, हर तरह से तैयार रहते हैं।

(40)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

हम सब लोग जीवन के सत्य पर विचार करने बैठे हैं और विचार-विनिमय के लिए भी समय रखा है। एक भाई ने मुझे लिखकर दिया है कि मानव सेवा संघ की साधन प्रणाली के विषय में कुछ कहा जाए। प्रातःकाल इसी विषय पर स्वामीजी महाराज का टेपांकित प्रवचन हो रहा था। मानव सेवा संघ की साधन प्रणाली में अपनी एक विशिष्टता है। सत्य तो चिर नवीन है, चिर पुरातन है, उसमें कुछ बदलाव हो नहीं सकता। सत्य वही है जो सदा-सदा से है। उस सत्य की अभिव्यक्ति हमारे जीवन में हो जाए, इसके लिए जो मौलिक उपाय हैं, जिनके बिना कोइ भी साधना सफल हो नहीं सकती, उन्हीं सब मौलिक उपायों को एक जगह संगठित करके, उनको मानव सेवा संघ की साधन प्रणाली का नाम दिया गया। तो अब हम इसी विषय पर विचार करें कि ईश्वर विश्वासी होते हुए भी और ईश्वर के साथ आत्मीयता रखते हुए भी अभी तक मेरा जीवन उनसे दूर क्यों लग रहा हैं ?

जैसा मीराजी ने कहा, जैसा गोस्वामी तुलसीदासजी ने कहा वैसे अब तक हम क्यों नहीं बन पाए ? जैसा महात्मा ईसा ने कहा, भक्त प्रह्लाद जी ने कहा वैसा क्यों नहीं हुआ ? यह तो हो ही नहीं सकता कि ईश्वर भी है और मैं भी ईश्वर-विश्वासी हूँ और दोनों की भेंट-मुलाकात न हो। हम से उनकी भेंट-मुलाकात क्यों नहीं होगी, जब कि वे दुर्बल से दुर्बल, असमर्थ से असमर्थ, पतित से पतित साधक, यदि वह विश्वासी हो तो उससे मिलने के लिए वे स्वयं ही सब समय तैयार खड़े हैं। ऐसा क्यों होगा कि मिलन न हो। पहला कारण मुझे यही लगता है कि हम लोग भौतिक तत्त्वों से बने हुए उन शरीरों से, जिनको हमने अपना माना, जिनके, उनके साथ रहने और उनकी

संगति में सुख उठाने पर विश्वास करते हैं, जो संगति संभव नहीं, टूट भी जाती हैं, बिछुड़ भी जाती हैं, निराशा मिल जाती है। और जो सदा-सदा से अपना है जो सब समय मुझको अपनाने के लिए तैयार हैं, जिसका साथ आज तक कभी छूटा नहीं, आगे कभी छूटेगा नहीं, उससे सम्बन्ध होने का जो अनुभव है वह हम लोगों को कठिन लगता है।

परमात्मा अपने से दूर मालूम होता है और ऐसा कठिन लगता है कि पता नहीं कब ऐसा अनुभव होगा ? कब ऐसा होगा ? यह सन्देह पहले अपने जीवन मे से निकाल देना चाहिए। सन्देह मत करिए। ईश्वर-विश्वासी को ईश्वर-मिलन का आनन्द आ सकता है कि नहीं आ सकता है, ऐसा नही सोचना चाहिए। जीवन की वैज्ञानिक प्रक्रिया से जीवन का विश्लेषण करने की जो एक पृष्ठभूमि मेरी बनी हुई थी उसके आधार पर मैंने अपने को विश्वास-पथ का साधक माना और मानकर भी उस सारी प्रणाली को उसी ढंग से समझने की चेष्टा की।

एक बात समझ में आई और वह बहुत अच्छी लगी मुझे, कि परमात्मा हैं, ऐसा तो हम सब लोग मानते हैं न ! अगर कोई भाई-बहिन ऐसे बैठे हों जो यह कहना पसन्द करें कि भाई हम तो नहीं मानते, तो मानव सेवा संघ की साधन प्रणाली में उनके लिए भी गुंजाइश है। वे भी हमसे दूर नहीं है। उनकी बात छोड़ दीजिए अभी थोड़ी देर के लिए। ईश्वर-विश्वास की दृष्टि से हम सब लोग ऐसा मानते हैं कि परमात्मा हैं। तो परमात्मा का होनापन, उनकी सत्ता, मेरे लिए, एक ठोस सत्य है। उसके बाद एक और बढ़िया बात है कि परमात्मा है और परमात्मा से अपना नित्य सम्बन्ध है। यह तो भक्तों की शैली हो गई कि उनसे अपना नित्य सम्बन्ध हैं और दार्शनिक शैली क्या हैं ? वह यह है कि परमात्मा के अतिरिक्त और कोई दूसरी स्वतन्त्र सत्ता है ही नहीं। हम भाई-बहिनों को भास होता है कि "मैं हूँ"। जो व्यक्ति अपने द्वारा अपने अस्तित्व को अनुभव करता है वह परमात्मा के अस्तित्व से

इंकार नहीं कर सकता। 'मैं हूँ' ऐसा आपको महसूस होता है कि नहीं ? अगर मैं किसी भाई का नाम लेकर पुकारूँ तो वे जल्दी से उठकर खड़े हो जायेंगे और कहेंगे कि 'मैं हूँ'। जी ? अगर किसी का नाम लेकर पुकारूँ मैं, कि वह यहाँ है कि नहीं है- जो जल्दी से आप बड़े विश्वास के साथ उठकर खड़े हो जायेंगे और कहेंगे- मैं हूँ। 'मैं हूँ' मेरा अस्तित्व है, मेरी सत्ता है तो महाराजजी कहते हैं कि भाई, जरा सोचकर देखो तो कि इस 'मैं' को जिसे तुम बड़े तपाक से कहते हो कि मैं हूँ, इस 'मैं' को तुमने स्वयं बनाया है क्या ? जी ? नहीं बनाया। खेत में उपजाया क्या ? नहीं। तो इस 'मैं' की उत्पत्ति जो है वह भौतिक पदार्थो से नहीं हुई है। जल में सेवार उपजती हैं, खेत में गेहूँ उपजता है, लेकिन इस 'मैं' की उत्पत्ति जल में से, थल में से या हवा में से नहीं हाती है। इस 'मैं' की उत्पत्ति उस अलौकिक तत्त्व में से हैं जिसका कि कभी नाश नहीं होता, जिसको कि भक्तजन भगवान कहते हैं, जिसको कि विचारक जन परमतत्त्व कहते है।

हमें "मैं" पन का भास अभी इस वर्तमान में ही हो रहा है। तो इसी वर्तमान में जो मौजूद है, वह जिसमें से उत्पन्न हुआ, उसकी अनुपस्थिति कैसे मानिएगा ? जी ? नहीं मानेंगे। वह उपस्थित है। तो परमात्मा है यह भक्तों की शैली हैं, 'भगवान है' यह भक्तों की शैली है। और अविनाशी तत्त्व है यह विचारकों की शैली है। उस अविनाशी तत्त्व में से हम सब भाई-बहिनों के मैं पन की उत्पत्ति हुई है। इसलिए भी हम उसको इन्कार नहीं कर सकते। मानना ही पड़ेगा। बड़े जोरदार शब्दों में स्वामीजी महाराज ने १७ दिसम्बर की प्रातःकाल मुझको वह युक्ति बताई और कहा कि जाओ तुम सत्संग करो। १६ दिसम्बर को रात्रि के समय लगभग दस बजे बड़े जोर का हार्ट-अटैक हुआ। सारी रात तो वैसे ही बीत गई, सवेरे तीन बजे थोड़ी आवाज निकलने लगी। तो पहली बात कहने लगे कि- देवकी जी ! सत्संग का

समय हो गया है। मैंने कहा कि हाँ महाराज ! हो गया। तो जाओ सत्संग करो, यह कह करके दो-चार वाक्य मुझको सुनाये। 'मैं' का अस्तित्व जो स्वीकार करता हैं वह व्यक्ति परमात्मा के अस्तित्व से इन्कार कर ही नहीं सकता क्यों कि "मैं" की उत्पति उसमें से हुई है जिसमें से हमारी उत्पत्ति हुई है और जिसकी सत्ता हम अपने द्वारा अनुभव करते हैं उसी को भक्तजन भगवान कहते हैं। तो परमात्मा है और परमात्मा में से उत्पन्न हुए हम सब लोग है। वह अविनाशी, अलौकिक, नित्यतत्त्व है और उसमें से हम सभी भाई-बहिनों के अहं रूपी अणु की उत्पत्ति हुई है। तो ऐसे करके मैंने हिसाब लगाया तो मुझको ऐसा मालूम हुआ कि जिसमें से मुझको बनाया गया, वह अविनाशी है, उसका नाश नहीं होता, इसलिए 'मैं' पन का भी कभी नाश नहीं होता। वह भी अविनाशी हो गया। भौतिक तत्त्वों से बने हुए शरीरों का नाश होता है। उसमें भी स्थूल शरीर यहीं मिट करके मिट्टी में मिलता है। सूक्ष्म शरीर उससे अधिक समय तक टिकने वाला है और कारण शरीर उससे भी अधिक लम्बे अरसे तक टिकने वाला है। फिर भी इन तीनों शरीरों का नाश होता है, लेकिन 'मैं' पन जो अलौकिक तत्त्व से रचा गया है, उसका नाश नहीं होता। तो इस दृष्टि से अगर हम लोग विश्वास पथ के साधक अपने विश्वास को निर्विकल्प करना चाहें, उसमें से संकल्प-विकल्प को हटाना चाहें, सन्देह और संशय को मिटाना चाहें तो इस दार्शनिक सत्य का सहारा ले सकते हैं और अपने विश्वास में बहुत ही दृढ़ता ला सकते हैं कि भाई, मेरा नाश सम्भव नहीं है। परिवर्तन का मुझे पता नहीं है। लेकिन जिसमें से वह 'मैं' निकला है उसका नाश नहीं होता तो इसका भी नाश नहीं होगा। यह बात पक्की हो गई, और उनसे हमारा और आपका जो सम्बन्ध है वह भी अटूट है। यह भी बात पक्की हो गई। अटूट सम्बन्ध भक्तों का भी, विश्वासियों का भी, योगियों का भी है, सभी पंथों के साधकों का है, सभी मतों के साधकों का है, सभी सम्प्रदायों के

अनुयायियों का है। इस अटूट सम्बन्ध में किसी को कोई सन्देह नहीं होता, कोई मतभेद नहीं होता। यहाँ तक तो बात पक्की हो गई।

अब एक चीज आ गई अपने सामने जो कि हम लोगों को हमारी कठिनाइयों से पार करायेगी। वह कौन सी बात है कि भूल मुझसे यह हुई है कि सदा-सदा का नित्य सम्बन्धी जिसे सन्तों ने बताया, ग्रन्थों ने बताया, वेद-पुराण, कुरान, बाइबिल, गीता, रामायण सब में लिखा हुआ है, उसके स्थान पर हमने अनेक शरीरों के साथ अपना सम्बन्ध मान लिया। इतनी सी भूल है। और मैं क्या बताऊँ, ईश्वर से मेरा नित्य सम्बन्ध है इसको तो स्वामीजी महाराज ने कहकर सुनाया और अनेक शरीरों से अपना सम्बन्ध है, यह माता है, ये पिता हैं, यह भाई है, यह बन्धु है, ये मित्र हैं, ये पुत्र हैं, ये पुत्री हैं, ये सम्बन्ध हमने स्थूल दृष्टि से, देह बुद्धि से स्वीकार कर लिए तो इस स्थूल बुद्धि से स्वीकार किए हुए सम्बन्धों का इतना जोरदार प्रभाव मुझ पर है कि जब कभी शान्त रहना पसन्द करो, जब कभी अकेले रहना पसन्द करो और बाहर से आँखें बन्द कर लो तो इन माने हुए अनित्य सम्बन्धों का प्रभाव अपने पर इतना ज्यादा है कि वे ही सब चित्र भीतर ही भीतर दिखाई देने लगते हैं और गुरु के कहने से, सन्त की सलाह से, ग्रन्थ के अनुसरण से, जिसका ध्यान करने को कहा गया उसका ध्यान नहीं बनता। जिसका चिन्तन होना चाहिए उसका चिन्तन नहीं होता। जिसके प्रति प्रीति होनी चाहिए उसके प्रति प्रीति नहीं होती। बड़ी भारी बाधा मालूम होती है। करो और होता नहीं है। करना है और पार नहीं पाते हैं तो ईश्वर को मानना, ईश्वर के प्रति स्वाभाविक प्रियता का उदित होना ऐसा कठिन हो जाता हैं, कि साधक बहुत ही तकलीफ में रहता है।

कह दिया गया कि तुम इतनी देर ध्यान करो। होता ही नहीं है- हैरान हैं। तो स्वामीजी महाराज ने कहा, देखो भाई! साधन ऐसी कोई

मुसीबत की चीज नहीं है कि तुम करना चाहोगे और तुमसे होगा नहीं। संसार में अनेक प्रकार की मुसीबतों से थककर जितना धन कमाना चाहते थे, नहीं कमा सके, जितना सुख भोगना चाहते थे, नहीं भोग सके, जितना सम्मान पाना चाहते थे, नहीं पा सके, जैसे जीना चाहते थे, नहीं जी सके, जिन्दगी नापसन्द हो गई तो मरना चाहते थे तो नहीं मर सके। जी - ठीक है न ? ये मुसीबतें हैं। तो इन मुसीबतों से थककर,हारकर सन्त के पास आये। महाराज ! इन मुसीबतों से छुट्टी दिलाओ।

मैं जब सवामीजी के पास आई तो मेरे से पूछा था सन्त ने, क्या मुसीबत हैं ? तुमको क्या दुःख है, देवकीजी ! हाँ महाराज, बड़ाँ दुःख लेकर आई हूँ। क्या दुःख है ? बिटिया बोलो - तो महाराज जो चाहती हूँ, होता नहीं, बड़ा दुःख है। तो मुसीबत लेकर सन्त के पास आए और उनकी सलाह ली, किसलिए कि मुसीबतों से छुट्टी पायें। तो सन्त ने सलाह दी- आपने अपने को साधक स्वीकार किया, साधना का क्रम आरम्भ किया, तो वह साधना भी क्या जो मुसीबत बनकर सिर पर चढ़ जाए। जी ! अब अपनी दशा हम देखें। हमने ऐसे ढंग से साधना को पकड़ा है कि वह भी सिर पर एक भार बनकर बैठी है। ध्यान करना चाहते हैं, नहीं होता है। भजन करना चाहते हैं, नहीं होता है। तो यह भी एक ऐसी ही मुसीबत हो गई जैसी कि संसार की परिस्थितियों की मुसीबतों में फँसे हुए थे। तब भी बात ऐसी नहीं है। साधना उसको कहते हैं जो आपको स्वाधीन बना दे। साधना उसको कहते हैं जो आपसे इस प्रकार से घुल-मिल कर एक हो जाय कि आपको पता ही न चले कि अब मेरी साधना बन रही है और अब मेरी साधना टूट गई है। उसको साधना नहीं कहते हैं जो लगे कि कभी बन रही हैं, कभी टूट रही है। यह बात नहीं है

यह कैसे होगा भाई ! तो उसके लिए स्वामीजी महाराज ने जो-जो बातें मौलिक रूप में समझी थीं, उनके ज्ञान ने जिनका दर्शन किया

था, वे हमारे सामने रखीं। उन्होंने मानव सेवा संघ की भाषा में क्या कहा ? उन्होंने कहा कि "देखो, ध्यान किया नहीं जाता है, ध्यान होता है। सत्संग करो तो साधन होने लगेगा।" प्रभु की सत्ता को स्वीकार करो, उनसे अपने नित्य संबंध को स्वीकार करो, तो सम्बन्ध की स्वीकृति से उनकी महिमा तुम्हारे जीवन में अंकित होगी। सम्बन्ध की स्वीकृति की स्थिरता जब तुम्हारे जीवन में आयेगी, उनकी उपस्थिति के अनुभव से जब जीवन में सरसता आयेगी तो तुम्हारा मन, तुम्हारी बुद्धि, तुम्हारी इन्द्रियाँ, तुम्हारा ध्यान सब स्वतः ही उनमें लग जायेंगे। तो मौलिक बात क्या है, कि प्रभु की सत्ता को स्वीकार करो।

उसके बाद दूसरा कदम क्या है कि उनके साथ अपने नित्य सम्बन्ध को स्वीकार करो। फिर तीसरी बात जो हम जैसे कमजोर लोगों के लिए है, सबके लिए नहीं। महाराज जी को मुझे फुसलाना था, समझाना था, मेरी घबराई हुई दशा में स्थिरता लानी थी, तो मेरे लिए कहा, कि भाई, नित्य सम्बन्ध के साथ-साथ तुम उनकी महिमा भी स्वीकार करो। महाराजजी ने ऐसा इसलिए कहा कि लालची आदमी तो कुछ पाकर के तब न आगे बढ़ेगा। तो "प्रभु सर्वज्ञ हैं" इस बात से मुझे बड़ा आराम मिला, बहुत आराम मिला, क्योंकि जनसमूह में रहते हुए मैंने अनेक बार ऐसा कटु अनुभव पाया था, कि बिल्कुल निश्छल, निर्मल हृदय से, बड़ी प्रियता से, बात करो, काम करो फिर भी निकटवर्ती जन-समुदाय के कुछ लोग अकारण ही उसके विपरीत अर्थ लगाने और विपरीत व्यवहार करने में लग जाते थे। अब किस-किसको समझाते फिरें। किस-किसको कौनसा सर्टिफिकेट दिखाएँ कि हमारा अन्तःकरण निर्मल है। मैं तो बहुत फील करती थी। मुझे बुरा लगता था कि ऐसा क्या जनसमूह हैं ? ऐसे समूह में क्यों रहना ? ऐसी बातें क्यों करते हैं जो जीवन में बहुत बुरी, बहुत गिरी हुई हैं। तो स्वामीजी ने जब बताया कि वे सर्वज्ञ हैं, तो इतना आराम लगा मुझे कि चलो

उनको तो भ्रम नहीं होगा। बहुत आराम मिल गया और उसके बाद से अब तक उन्हीं की लीला से, अब तो मुझे ऐसा नहीं दिखाई देता कि कौन अच्छा, कौन बुरा और कौन मेरे पक्ष का और कौन विपक्षी है। ऐसा नहीं दिखता हैं।

अब कभी उस तरह की परिस्थितियाँ बनती हैं, तो मजा आता है और हमें लगता है कि अच्छा प्यारे ! क्या जानें कहाँ-कहाँ मेरी वृत्ति अटकती फिरती, तो आप उसे उस ओर से समेट कर अपनी ही ओर खींचना चाहते हैं। ठीक है, आपकी जानकारी में गलती नहीं है। आप, बिल्कुल सैन्ट-परसैन्ट, मैं जैसी हूँ वैसी आप मुझको जानते हैं। इस बात से बड़ा ही Relief अर्थात् शान्ति मिल गयी मुझको। अब न भ्रम होता है और न दूसरों की तरफ ख्याल करके तकलीफ होती है। जिसको मेरी स्थिति जानना चाहिए वह ठीक जानता है। लोग क्या कह रहे हैं, क्या सोच रहे हैं और कहाँ-कहाँ मेरी गलती है, इसकी कोई चिन्ता नहीं, क्योंकि मेरी गलतियों को दूर करने के लिए, मेरी की हुई भूलों को क्षमा करने के लिए, मुझे भूल-रहित होने की सामर्थ्य देने के लिए जो सदैव तत्पर हैं, ऐसे हित-चिन्तक, ऐसे अपने नित्य सम्बन्धी पाकर, भीतर से भय, चिन्ता और घबराहट चली गई है। तो भय चला जाए, चिन्ता चली जाए, घबराहट चली जाए और मेरा एक ही सम्बन्धी ऐसा है, जिसमें सारे सम्बन्ध समाहित हैं। उसके अतिरिक्त और किसी से सम्बन्ध ही नहीं है। जरा-सी सजीवता आपके जीवन में आ जाए तो यह बात आपको बिल्कुल पक्की दिखाई देने लग जायेगी कि उसके अतिरिक्त और कोई है ही नहीं, तो चिन्ता चली जायगी। निश्चिन्तता आ जाय तो साधक बन गया, भय चला गया तो साधक बन गया उसकी सर्वज्ञता की महिमा में विश्वास हो गया तो बाहर की उलझनें खतम हो गई। एक ही है मेरा अपना, एक ही है मेरा अपना। इसके बाद जब कोई बाद भीतर उठेगी तब किससे निवेदन करूँगी। क्या

दो-चार की याद आएगी ? कोई संकट खड़ा होगा ? जगत की ओर देखने की जरूरत रहेगी ? जी ? नहीं।

"एक भरोसो एक बल, एक आस-विश्वास" इसका कोई अभ्यास करना पड़ा कि अपने में से निकल आया ? मेरे भाई ने जो प्रश्न लिखा है उसमें लिखा है-"मानव सेवा संघ की साधन प्रणाली"- इसलिए यह भूमिका तैयार की मैंने। संघ की यह साधन प्रणाली है कि जहाँ आप साधन में लगे और कोई कठिनाई हो रही है तो उस कठिनाई के साथ संघर्ष मत कीजिए। ध्यान नहीं लग रहा है तो बाहर से जबरदस्ती करके ध्यान को पकड़ने की चेष्टा में मानसिक रोग पैदा मत कीजिए। लौट करके चले जाइए पीछे। कहाँ चले जाइये ? ध्यान क्यों नहीं लगा भाई, इस बात के कारण की खोज करिए। स्वामीजी महाराज कभी-कभी गीता भवन में बैठे-बैठे कह देते, अरे भैया ! मरे हुए सम्बन्धियों को नहीं भूलते हो और जीता-जागता सर्वत्र विद्यमान जो परमात्मा है उसको भूल जाते हो। मरे हुए सम्बन्धियों को याद करते रहते हो। हाय मेरा चला गया। तेरा था तो कैसे चला गया भाई ? जो चला गया, वह तेरा कैसा रहा भाई ! और जीता-जागता, सर्वत्र, सदैव, अनादि, अनन्त, विद्यमान परमात्मा है और तुम परमात्मा के विश्वासी हो, तो लाज नहीं आती यह कहने में, कि उसकी याद नहीं आती है। कोई बात नहीं, अगर अपने भीतर हम लोग ऐसा फील (अनुभव) करते हैं कि क्या बताएँ उनकी विस्मृति हो जाती है तो जबरदस्ती याद करने की क्रिया से याद नहीं रहेगी। जबरदस्ती काम नहीं बनता है।

जरा पीछे हटकर देखिए अपनी दशा। सत्संग करने का जो पुरुषार्थ आपने किया था, उसमें कहीं कोई कमी रह गई होगी। इसलिए साधन की अभिव्यक्ति नहीं हो रहीं है। कमी क्या रह गई, उसको अगर ढूँढ़ियेगा तो आपको यह मालूम होगा कि सचमुच जिससे नित्य सम्बन्ध हैं, केवल वही मेरा सम्बन्धी है और कोई है नहीं, अन्य

किसी से सम्बन्ध हो सकता नहीं, इस सत्य की स्वीकृति में कच्चापन रह गया, इसलिए उसके अतिरिक्त और अनेकों जगह मेरा लगाव बना रह गया है। तो अब उसी की याद करने के लिए अभ्यास नहीं करना है और ध्यान को केन्द्रित करने के लिए मानसिक क्रियाओं को चारों ओर से पकड़-पकड़ कर एक जगह लाने की व्यर्थ चेष्टा नहीं करनी है। यह तो बिल्कुल ही मनोवैज्ञानिक तथ्य है कि जहाँ सम्बन्ध मानेंगे उसका स्टैम्प (छाप) लगाना जरूरी है। उसके लिए परमात्मा को हम लोगों ने सुना है तो उन्हीं को मानो। उनकी ही प्रियता को अपने जीवन का लक्ष्य मानो।

सत्य की स्वीकृति से असत्य का नाश हो जाता है और साधन की अभिव्यक्ति हो जाती है और जो बात साधक के जीवन में सहज से आ जाती है, वह बनती, बिगड़ती, टूटती, घटती, बढ़ती नहीं है। तो साधन तत्त्व है और उसकी अभिव्यक्ति होती है। मनुष्य का सम्पूर्ण व्यक्तित्व उस साधन तत्त्व के साथ मिलकर एक हो जाता है। आपने सुना होगा कि एक प्रवचन में महाराजजी ने यह कहा। भाई देखो ! ध्यान कभी लगे और कभी हटे, ऐसा जब तक मालूम हो, तब तक समझो, परमात्मा में ध्यान लगा ही नहीं, क्योंकि उनमें जब ध्यान लग जाता है तब हटने की समस्या नहीं रहती। इसका भी बड़ा भारी वैज्ञानिक, दार्शनिक और आस्तिक आधार है। बड़ी जोरदार पृष्ठ-भूमि है। उसमें लग जाने के बाद फिर हटने का प्रश्न नहीं होता। अब भक्तों के जीवन में आपने सुनी होंगी, कितनी बढ़िया-बढ़िया सरस कथायें हैं। एक बार मन लग गया तो फिर उस साधक को ऐसा कभी याद नहीं आता है। भाई देखो, जिससे हमारी जातीय एकता नहीं है, नित्य सम्बन्ध नहीं है, आत्मीय सम्बन्ध नहीं है उससे हमारा लगाव कभी बना ही नहीं। जबरदस्ती करके श्रम से उसको लगाना पड़ता है और टूटता है तो उससे हमारा जुड़ना कभी होता ही नहीं।

इसका प्रमाण क्या है ? कि दृश्य जगत् में जहाँ-जहाँ आप अपनी ओर से सम्बन्ध मानते हैं, ममता के धागे से उसे बाँधते हैं वे सम्बन्ध आपके साथ घुल-मिलकर एक ही नहीं हो पाते। हमेशा ही आपसे अलग, आपका दृश्य बनकर ही रहते हैं और चिन्तन में आपसे अलग, आपका मानसिक चित्र बनकर रहता है, एक नहीं होता। तो भीतर या बाहर आँखें खोलकर देखो तो भीतर जो आपका दृश्य बन सकता है, उससे आपका कभी एकत्व नहीं हुआ। समझ में आता है ? यह मैं हूँ और यह एक यन्त्र है। यह मैं हूँ और ये भाई-बहिन बैठे हैं, तो जो मेरा दृश्य बन सकता है, इन्द्रियों का दृश्य कहो, बुद्धि का दृश्य कहो, स्थूल दृश्य कहो, सूक्ष्म दृश्य कहो, बाहर का दृश्य कहो, आँख बन्द करके भीतर मानस-पटल पर देखो, जो आपका दृश्य बन सकता है वह जीवन नहीं है। जो दृश्य बन सकता है वह सदैव ही आपसे भिन्न है। ठीक है ? उससे हमारा एकत्व नहीं है। इसलिए श्री स्वामीजी महाराज ने कहा कि भाई जब तक तुमको ऐसा लगता है कि अब ध्यान लग गया और ऐसा लगता है कि अब तो टूट गया तो समझो कि अभी लगा ही नहीं है। लेकिन जिससे हमारा नित्य सम्बन्ध है जिससे हमारी जातीय एकता है, जिससे हमारा आत्मीय सम्बन्ध है, उसमें जब ध्यान लगता है तो वह नहीं रह जाता। जी ? तब वह दृश्य नहीं बन सकता और आप उसके द्रष्टा नहीं रह सकते। तब क्या होता है कि दोनों के बीच की दूरी खत्म हो जाती है तो अनुभवी सन्त क्या कहते हैं-

गई पूतली नोन की, थाह समुँद की लैन।
आपुन मिल पानी भई, उलट कहे को बैन।।

भक्तजन क्या कहते हैं-

जब हम है तब हरि नहीं, अब हरि हैं हम नाहि।
प्रेम गली अति साँकरी, ता में दो न समांहि।।

यह हो गया।

प्रश्न -"माँ, यह तो पराकाष्ठा है।"

हाँ - जी हाँ, बहुत बढ़िया बात है। अपनी आस्था को इसी स्थान पर रखना पड़ेगा कि घर से चलते समय कहाँ का टिकट लिया है ? इसकी जानकारी जरूरी है । कहीं गलत-सलत जगह को तो अपना लक्ष्य नहीं बना लिया, तो फिर पहुँचने में बहुत देर हो जायेगी।

साधक को जब कभी अपने को साधक स्वीकार करना है तो उसको यह बात बहुत स्पष्ट जान लेनी चाहिए कि मेरा साध्य क्या है ? मेरा पन्थ कौनसा है ? इसलिए पराकाष्ठा की बात सामने आ गई और आज हमारा वह अनुभव नहीं हैं, अभी उसको हम लोगों ने जीवन में अनुभव नहीं किया है। लेकिन उस सत्य को अपने सामने रखकर चलना होगा। इसीलिए वहाँ तक की चर्चा जरूरी है इसलिए सुना दी मैंने।

तो साधन प्रणाली क्या हुई ? साधन प्रणाली यह हुई कि जीवन के सत्य को स्वीकार करो। सत्य की स्वीकृति हमारा पुरुषार्थ है और साधन की अभिव्यक्ति अपने आप होती है। जो साधन जीवन में से अभिव्यक्त होता है उसके साथ हमारी एकता होती है। फिर साधक का सम्पूर्ण व्यक्तित्व साधनतत्त्व में बदल जाता है तो साधक साधनतत्त्व होकर साध्य से अभिन्न होता है। यह फॉरमूला है, नियम है। मैंने पुरुषार्थ किया ? जीवन के सत्य को स्वीकार किया। उसका परिणाम क्या हुआ ? सत्य की स्वीकृति से साधन का निर्माण हुआ। उसका परिणाम क्या हुआ ? साधक का व्यक्तित्व और साधनतत्त्व मिल कर एक हो गये। उसका परिणाम क्या हुआ ? सम्पूर्ण व्यक्तित्व साधनतत्त्व होकर साध्य से अभिन्न हो गया। तो प्रक्रिया पूरी हो गई। यह प्रणाली है। और आगे प्रश्नकर्त्ता भाई ने लिखा है- मूक सत्संग ?

इसमें भी हम लोगों के लिए गम्भीर दर्शन है। वह क्या है कि शरीरों के साथ तादात्म्य होने के कारण जीवन में जो जड़ता छाई

रहती है उसी के परिणाम से बनने-बिगड़ने वाला संसार सत्य प्रतीत होता है, और सदा के लिए रहने वाला, छिपा हुआ मालूम होता है। सन्देह रहता है कि है या नहीं है, तो अब जिसको अविनाशी जीवन से अभिन्न होना है उसको क्या करना पड़ेगा ? नाशवान से अपना तादात्म्य तोड़ना पड़ेगा। ठीक है न ? तादात्म्य शब्द को इंगलिश में Identification कहते हैं, जो उसका बहुत अच्छा अर्थ बताता है। अपने को उसके साथ मिला लेना, यही मैं हूँ ऐसा मान लेना। तो शरीरों से तादात्म्य रखकर अविनाशी जीवन के आनन्दमय अनुभव से हम लोग वंचित रह रहे हैं। शरीर से तादात्म्य मानने से थोड़ा-सा सुख तो मालूम होता है, अच्छा लग रहा है लेकिन वह अच्छा लगना निरपेक्ष नहीं है। वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति अवस्था या अनुकूलता पर आधारित है और अलौकिक जीवन का आनन्द जो होता है वह वस्तु, व्यक्ति, अवस्था, परिस्थिति, इन्द्रिय, बुद्धि, मन, सूक्ष्म शरीर, इनके संयोग पर आधारित नहीं रहता। तो अब मूक सत्संग की जरूरत क्यों पड़ गई ? जरूरत इसलिए पड़ गई कि शरीरों से तादात्म्य को तोड़ना, जब अनिवार्य factor है, सब प्रकार के साधकों के लिए, तो उस दशा में मौलिक साधना इस प्रकार की होनी चहिए कि जहाँ हम कह सकें कि आवश्यक कार्य को पूरा करने के बाद, अर्थात् सही प्रवृत्ति के बाद, सहज निवृत्ति में रहो। क्योंकि सही प्रवृत्ति के लिए फिर शरीरों का सहारा लेना जरूरी होगा। तो जहाँ जरूरी है वहाँ उनका सहारा लिया, काम किया फिर उनको रख दो। तो काम ऐसा करना है अपने को, कि आइन्दा बिना किए हम रह सकें, और करने का राग ही मिट जाए। राग रहित होने की जरूरत क्यों पड़ी ? कि हम शरीरों से अपना तादात्म्य तोड़ सकें और अशरीरी जीवन में प्रवेश पा सकें, अशरीरी जीवन के आनन्दमय अनुभव को ले सकें। जब अशरीरी परमात्मा के अलौकिक प्रेम का व्यापक प्रभाव हो जाय तो इस शुद्ध, अति शुद्ध, अहं रूपी अणु की परिच्छिन्नता टूट करके साधक का सम्पूर्ण व्यक्तित्त्व प्रभु

की उस रसमयी विभूति में समा जाय, इसके लिए मूक सत्संग अनिवार्य है।

अशुभ कर्मों का तो मनुष्य के जीवन में कोई स्थान ही नहीं है, परन्तु शुभ कर्म करने का भी जब संकल्प है, तब तक शरीरों का साथ हम नहीं छोड़ सकते। शुद्ध संकल्प को नहीं छोड़ सकते तो शरीरों से असंग होना सहज नहीं बनेगा। शरीरों की आवश्यकता अनुभव करेंगे तो उसका महत्त्व जीवन में से नहीं निकलेगा। शुभ कर्म करने के बाद भी शुभ कर्म करते रहने का राग, कर्मों का फल, और कर्तापन के अभिमान, सबसे छूट सकेंगे तो अशरीरी जीवन में प्रवेश होगा। ठीक है ? तो जिसको अशरीरी जीवन चाहिए, जिसको अलौकिक जीवन चाहिए, उसको लौकिक तत्त्वों से बने हुए शरीरों का साथ छोड़ना जरूरी है कि नहीं ? तो Suicide करने से अर्थात् आत्म-हत्या करने से साथ नहीं छूटता है, आसक्ति छोड़ने की जरूरत है। शरीर को ले जाकर जमुना जी में कछुओं को खाने के लिए दे दो तो भी काम नहीं बनेगा। शरीर की जरूरत आपके भीतर रह गई तो प्रकृति माता को फिर से काम करना पड़ेगा। कहीं से मिट्टी, कहीं से पानी, कहीं से प्राणवायु जुटा करके आपको फिर से बनाकर धरती पर रखना पड़ेगा, तो काम बढ़ाना नहीं चाहिए, न अपना, न प्रकृति का और न परमेश्वर का।

इसलिए कुछ न करने का जो तथ्य है उसको दैनिक जीवन में स्वाभाविक बनाने की सलाह स्वामीजी महाराज ने दी, तो जहाँ जनसमूह को सहयोग देने की बात है वहाँ सहयोग दे दो, जहाँ इस शरीर को सेवा की प्रश्न है उसको छोटा रखकर, स्वस्थ रखकर, पवित्र रखकर, उसकी भी सेवा कर दो।

(41)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो और भाइयो !

हम लोग साधक हैं, साधक के लिए सत्संग स्वधर्म है। सत्संग का अर्थ है जीवन के सत्य को स्वीकार करना। सत्य क्या है ? बुराई रहित होना सत्य है, अचाह होना सत्य है, जीवन-मुक्ति की अभिव्यक्ति सत्य है, भगवद् भक्ति की अभिव्यक्ति सत्य है। सत्य को स्वीकार करना हमारा स्वधर्म है। बुराई रहित जीवन सबसे पहली बात है कि जिससे हम दुःख-निवृत्ति, चिरशान्ति के लिए आगे बढ़ सकें। किसी भी प्रकार की साधना जो हम आरम्भ करते हैं, उसमें सफलता मिलने में देर इसलिए लगती है कि असाधनों का नाश पहिले नहीं हुआ। तो पहिले असाधनों को मिटावें, तो साधन स्वाभाविक बन जाय। असाधन मिटाने में अपना पुरुषार्थ है और साधन की अभिव्यक्ति स्वाभाविक बात है। तो जोर इस बात पर लगाना है हम लोगों को, कि किसी प्रकार का असाधन जीवन में न रहे।

हम में कौनसा असाधन दिख रहा है, इस बात पर मैं विचार करती हूँ तो मुझे ऐसा लगता है कि जो नहीं करना चाहिए वह करते रहो तो असाधन उपजता ही रहता है। जो विवेक विरोधी सम्बन्ध हैं उनको बनाये रखो तो असाधन बनते ही रहते हैं। जो विवेक विरोधी विश्वास है उसे जीवन में स्थान देते ही रहो तो असाधन उत्पन्न होते ही रहते हैं और इन कारणों से भीतरी अशान्ति बनी रहती हैं। असाधनों के नाश में सत्संग का प्रकाश लेकर हम भाई-बहिनों को बहुत ही तत्परता के साथ लग जाना चाहिए। अगर अप्राप्त वस्तु, परिस्थिति की आवश्यकता हम अनुभव करेंगे तो व्यर्थ चिन्तन से मुक्त नहीं हो सकते। व्यर्थ-चिन्तन की उपस्थिति क्या है ? व्यर्थ चिन्तन होता है - यह असाधन है। व्यर्थ-चिन्तन नहीं उठना चाहिए। लेकिन कुछ समय के लिए चुपचाप होकर, शान्त होकर देखिए कि किस

प्रकार का चिन्तन मुझको हो रहा है या अचिन्त जीवन आपको को मिल गया है। अगर अचिन्त जीवन मिल गया है तो उससे आगे अविनाशी जीवन की अभिव्यक्ति के लिए और कुछ भी साधन करना नहीं पड़ेगा। अविनाशी जीवन में, अशरीरी जीवन में, प्रवेश पाने के लिए शरीरों से असंग होना, शरीरों से तादात्म्य तोड़ना आवश्यक बात है। किसी शुभ संकल्प के कारण भी अप्राप्त वस्तु, व्यक्ति या परिस्थिति के चिन्तन में लगे रहो तो अचिन्त नहीं हो सकते और अचिन्त हुए बिना विश्राम नहीं मिल सकता और विश्राम के बिना अलौकिक शक्तियों की वृद्धि नहीं होती और उनके बिना शरीरों से तादात्म्य तोड़ना सम्भव नहीं होता।

इसलिए बहुत आवश्यक बात है कि जिनके जीवन का सही लक्ष्य बन गया, उनको हर एक उपाय इस बात के लिए करना चाहिए कि शान्ति-काल में संसार का चिन्तन हम लोगों को उलझा न दे। अब इस चिन्तन से बचने के उपाय क्या है ? पहली बात तो यह है कि जिन व्यक्तियों का वर्तमान सरस रहता है उनमें भी व्यर्थ-चिन्तन कम उपजते हैं। इस तरह से जो भाई-बहिन अलौकिक अविनाशी जीवन की आवश्यकता करते हैं उनको वर्तमान के सदुपयोग पर विशेष ध्यान देना चाहिए। अप्राप्त के चिन्तन में नहीं लगना चाहिए।

होता क्या है ? एक बड़ा भारी जीवन-दर्शन स्वामीजी महाराज ने हम लोगों को दर्शाया, जो कि मैं आप भाई-बहिनों की सेवा में निवेदन कर रही हूँ। उन्होंने यह कहा कि परिस्थिति विशेष का मनुष्य के जीवन में महत्त्व नहीं हैं। परिस्थिति के सदुपयोग का महत्त्व है। परिस्थिति विशेष का महत्व नहीं हैं। क्यों ? क्योंकि अगर आपके मन के अनकूल परिस्थिति बन गई, ऐसे ही विधि के विधान से बन गई, हम लोगों के करने से तो नहीं बनती है किसी अज्ञात योजना से बन गई, तो अनुकूलता को पोकर आप अविनाशी जीवन की ओर आगे बढ़

ही जायेंगे, इस बात की कोई गारण्टी नहीं है। अगर साधक के भीतर सभी परिस्थितियों से अतीत, अशरीरी, अविनाशी जीवन का महत्त्व नहीं है, तो अनकूल परिस्थिति आने पर आदमी उसका सुख भोगने में लग जाता है। उसका सदुपयोग करके उससे ऊपर उठने की चिन्ता नहीं करता। इसलिए परिस्थिति विशेष का महत्त्व नहीं है। परिस्थितियों में प्रतिकूलता आ जाए तो उसके कारण अपने में दीनता अनुभव करना और परिस्थितियों में अनुकूलता आ जाए तो उसके कारण अभिमान करना- ये मनुष्य के लक्षण नहीं हैं।

आप परिस्थितियों के आधार पर साधक नहीं हो सकते, इस बात को सचमुच आप अपने द्वारा स्वीकार कर लेंगे तो बड़ा संकट आपका कट जायेगा, नहीं तो सद्ग्रंथों का पाठ करते ही रहो और परिस्थितियों के आधार पर अपने जीवन का मूल्यांकन करते रहो, कि कुछ सुखद बन गई तो हम बड़े भाग्यशील हैं, और कुछ दुःखद बन गई, तो हम बड़े भाग्यहीन हैं। जो अमर जीवन का अभिलाषी होता है वह परिस्थितियों के आधार पर अपना निर्णय करता है क्या ? जीवन के अमरत्व का किसी परिस्थिति से मूल्यांकन होगा ? नहीं होगा। तो देखिए कितनी बड़ी बात है।

एक परिवार में दस-पाँच व्यक्ति साथ रहते हैं। एक पिता के दो-चार भाई दो-चार घर बनाकर रह रहे हैं। एक घर में एक साथ दो-चार देवरानियाँ, जेठानियां रह रही हैं। एक दफ्तर में काम करने वाले पाँच-सात सहकर्मी एक साथ रह रहे हैं। परन्तु क्या बाहरी परिस्थितियों में सबकी समानता बनी रह सकती हैं ? सबके बच्चे किसी विशिष्ट स्कूल में पढ़ने जा रहे हैं तो हमारे बच्चों को भी वहीं जाना चाहिए, क्योंकि इसी के आधार पर हमारी उनके साथ बराबरी बनी रहेगी। क्या ऐसी बराबरी बनी रह सकती है ? जी ? नहीं रह सकती है। शादी-विवाह में कहीं पर जा रहे हैं तो उनके ही समान और लोग जिस

प्रकार के कपड़े पहने हुए हैं, ऐसे ही हमारे भी होने चाहिए। वैसे कपड़े नहीं हैं तो घर में विषाद छा गया। क्या यह साधक का लक्षण है ? क्या आप परिस्थितियों के आधार पर अपने सम्मान का Standard बना सकेंगे ? नहीं बना सकेंगे। तो किस आधार पर बनाना चाहिए ? मनुष्यता के आधार पर बनाना चाहिए। भीतर में अगर मनुष्यता का यह लक्षण आप में आ गया कि सुखी मात्र को देखकर प्रसन्न होना और दुःखी मात्र के दुःख में अपने को मिलाना, और उनके दुःख में करुणित होना, तो इस श्रृंगार से व्यक्ति की शोभा जितनी बढ़ेगी, उतना किसी गहने, कपड़े से बढ़ सकती है ? जी ? नहीं। तो साधक होने का अर्थ मैं यह मानती हूँ कि जिस दिन से आपने सत्संग की मण्डली में प्रवेश किया था उस दिन से मनुष्यता के लक्षण आप में प्रकट होते चले जावें। शान्ति आपकी बढ़ती चली जाय। दीनता और अभिमान का दोष मिटता चला जाय। प्रभु से साक्षात्कार कब होगा ? हम उनको प्रेम-रस प्रदान करने के लायक कब बनेंगे ? यह तो आगे की बात है, लेकिन आज सत्संग में बैठकर मैंने सुना कि मनुष्य के जीवन का मूल्यांकन Valuation परिस्थिति के आधार पर नहीं हो सकता है, उसके भीतर की जो मानव सुलभ विशेषताएँ हैं उनके आधार पर हो सकता है। अगर आपने ऐसा मान लिया तो इन बाहरी बेखेड़ों से बच जायेंगे कि नहीं ? तो सत्संग का यह पहला ही प्रारम्भिक लाभ ही अगर हम नहीं उठा सकते तो जो पराकाष्ठा पर पहुँचने की बात कही जाती है, जहाँ जाकर शुद्ध अति-शुद्ध अहं की सीमा भी टूट जायगी और असीम से अभिन्नता हो जायगी, उसका लाभ हम कैसे उठायेंगे। सन्त कबीर की एक वाणी है- उन्होंने अहं को मिटाने की बहुत-सी बातें कहीं और अन्त में कहा--

"कबिरा न कुछ हो जाना"- न कुछ हो जाओ। और जब "न कुछ" हो जाओगे तो क्या होगा ? तब हरि ही हो जाना। तो सारी पंक्तियाँ मुझे याद नहीं हैं। "मतकर मान गुमान कबिरा"- ऐसा बड़ा

अच्छा एक पद है। पहिले गुमान को खा जाने को कहा, मिट्टी बनने को कहा, तो ऐसे करते-करते कहा-"निर्मल जल" हो जाना। जो पराकाष्ठा की बात है वह आखिरी बात है। वह हमारे जीवन का अनुभव हो जाय उसके लिए व्यवहार के जगत् में रहते हुए, परिवार में रहते हुए, अगर छोटी-छोटी बातों में अपनी क्षुद्रता, अपना दोष, अपनी त्रुटि, अपने भीतर का राग-द्वेष, अगर हम नहीं मिटाते हैं तो सत्संग का प्रारम्भिक प्रभाव भी नहीं होगा तो जो प्रभाव पराकाष्ठा पर पहुँचने का होना चाहिए वह कैसे होगा ! ठीक है ? तो आरम्भ कर देना। और एक बात बड़ी जोरदार है। स्वामीजी महाराज साधकों के सभी वर्गों, सभी सम्प्रदायों में एकदम क्रान्तिकारी हलचल मचाने वाली बात कभी-कभी कहते थे। तब यह भी कह देते थे कि देवकीजी ! किसी दिन यहाँ कोई गोली मारेगा, ऐसी बात सुनकर के। तो भाई, सत्य की अभिव्यक्ति के लिए कोई वस्तु, व्यक्ति, परिस्थिति, अवस्था अपेक्षित नहीं है। ये सब बातें नहीं हैं। तो आज हम लोग क्या करें ? कि हमारी जो वर्तमान परिस्थिति है उसी का सदुपयोग करके अपने को परिस्थितियों की दासता से मुक्त करें। संसार की परिस्थितियों को हम बदल डालें, यह तो हमारे हाथ में है ही नहीं।

मेरे सामने बहुत बड़े-बड़े प्रोग्राम लेकर लोग आते हैं ! वे समाज-सेवक कहलाते हैं, साधक कहलाते हैं, धर्म-रक्षक कहलाते हैं। सन्तजनों को भी अपनी मण्डली में मिला लाते हैं। समय-समय पर मुझ पर दबाब डालते हैं कि आप सामाजिक व्यक्ति कहलाती हैं, आपको मेरे कहने के अनुसार इस काम में हाथ डालना ही चाहिए। लेकिन मैं नहीं मानती हूँ। मैं कभी हाँ नहीं करती हूँ और बहुत ही नम्रता के साथ हाथ जोड़कर प्रार्थना करती हूँ कि देखिये- भाईजी ! दुनिया के सब काम करने की सामर्थ्य देकर सब लोगों को नहीं भेजा गया है। हर एक व्यक्तित्व की अपनी-अपनी सीमायें हैं। तो हमारे व्यक्तित्व की जो सीमायें हैं उसके भीतर मेरे लिए जो सम्भव है, वह मैं कर रही हूँ और

कभी भी अपनी सीमा के बाहर किसी कार्य में हाथ डालने की भूल मैंने अभी तक नहीं की है और भगवत् कृपा से आगे भी नहीं करूँगी। खैर, आपकी मर्जी, ऐसा कहकर चले जाते हैं। अब क्या करें ? एक महापुरुष जगत् में ऐसे आये कि जिनके संकेत पर देश की परिस्थितियाँ बदलीं और समाज की परिस्थितियाँ भी बदलीं। धार्मिक आडम्बर जब छा जाते हैं तो अन्धविश्वासों की बहुत वृद्धि हो जाती है। तब उसको भी छिन्न-भिन्न करने वाले आते हैं, विशेष-विशेष अवसरों पर ईश्वर की विशेष-विशेष विभूतियाँ आती हैं जो जगत् में अपने सत्य के प्रभाव से, अपने त्याग के प्रभाव से, अपने ज्ञान से, परिस्थितियों को और परिस्थितियों में फँसे लोगों को बदलने का काम करती हैं।

मेरे सामने जब ऐसी बात आती है तो मुझे ऐसा लगता है कि मानव सेवा संघ के विचारों को जिन भाई-बहिनों ने पसन्द किया और उन विचारों को जो भाई-बहिन आवश्यक मान रहे हैं- ऐसे साधक समाज के भ्रम का निवारण करने के लिए, मैं यह निवेदन कर रही हूँ कि हम सब छोटे-छोटे unit हैं, अपनी छोटी-छोटी सीमा में बंधे हुए चल रहे हैं। तो छोटे यूनिट होते हुए भी और छोटी सीमा में थोड़े से जनसमूह से सम्बन्ध रखते हुए भी, मामूली-मामूली सेवा कार्य करते हुए भी, अविनाशी जीवन में प्रवेश पा सकते हैं और जो अमरत्व और जो परम-प्रेम, दुनिया के किसी भी ऋषि को, किसी भी महामानव को मिला था, वही अविनाशी जीवन और वही प्रेम हम सभी भाई-बहिनों को मिल सकता है। यह वचन महाराजजी का आप लोगों ने उनके वर्तमान होते हुए भी सुना था और आज उनके टेप में अंकित वचनों में भी सुन रहे हैं।

कितनी ही बार उन्होंने इस बात को दोहराया था। इस आधार पर मुझे भीतर से बहुत ही निश्चिन्तता लगती है और शान्ति मालूम होती है। जो काम हो रहा है, बहुत धीरे-धीरे हो रहा है, सही ढंग से

हो रहा है, प्रचार के लिए बड़े-बड़े सुझाव (Suggestions) आते रहते हैं मेरे पास- ऐसा किया जाये तो प्रचार होगा, तो मुझे अपनी ओर से कोई नई बात सोच-विचार कर करने की कोई खास जरूरत पड़ी नहीं। स्वामीजी महाराज ने मानव सेवा संघ की भीतरी और बाहरी रूपरेखा सम्बन्धी सारी बातों को किसी न किसी रूप में कह कर हम लोगों को सुना दीं, समझा दीं, तो मुझे याद आता है कि भाई मानव सेवा संघ का प्रचार तो जीवन के सत्य को स्वीकार करने वाले साधकों के द्वारा होगा, यह खास बात है। संस्था में आश्रम कितने बन गये, मकान कितने बन गये, इससे अधिक महत्त्वपूर्ण बात मुझे मालूम होती है कि जब कोई साधक वार्षिक अथवा आजीवन, चाहे माननीय सदस्य के रूप में मानव सेवा संघ के साथ अपने को जोड़ लेता है, आजीवन कार्यकर्ता या स्थायी साधक होकर जोड़ ले, किसी भी प्रकार से इस विचारधारा के साथ जब व्यक्ति अपना सम्बन्ध जोड़ लेता है तो एक व्यक्ति का इस संस्था में जुड़ जाना मुझको विशेष महत्त्वपूर्ण मालूम होता है। किसलिए ? कि उसके भीतर जीवन है, उसके भीतर सेवा, त्याग, प्रेम बीजरूप में विद्यमान हैं।

यदि एक व्यक्ति ने इस विचारधारा को अपना कर, अपना सुधार कर लिया, तो उसकी तुलना लाखों रुपयों की मदद करने वाले व्यक्ति की अपेक्षा अधिक है। क्या जाने किस समय उसमें से सत्य प्रकट हो जाए, किस समय उसमें ईश्वरीय प्रेम लहरा उठे, तो उसकी प्रीतिभरी दृष्टि से ज्योति जग सकती हैं।

अगर हम लोगों ने सच्चाई से, ईमानदारी से मानव सेवा संघ के विचार को जीवन नहीं बनाया तो बहुत से उदारमना पुरुष अपनी सम्पत्ति हमारे पास छोड़ जायेंगे तो भी उस सम्पत्ति का दुरुपयोग करके हम सम्पत्ति का नाश कर देंगे। संस्था के Standard को नीचे गिरा देंगे। यह बहुत घातक बात होगी। इसका मतलब यह नहीं है कि

उदार लोग पैसा देना बन्द कर दें। जिसके पास है और वह देना चाहे तो जरूर देवें। तो देना बन्द नहीं करना है लेकिन मैं यह बात बता रही हूँ, कि धन देने की अपेक्षा अपने चित्त को शुद्ध करने वाला साधक मानव सेवा संघ की दृष्टि से अधिक महत्त्वपूर्ण है। उदारता पूर्वक आप कुछ मुझे दे जायेंगे तो सेवा प्रवृत्ति चलाने की थोड़ी अधिक जवाब देही मुझ पर आ जायेगी और अपने चित्त को शुद्ध करने के लिए मैं हर्ष पूर्वक नतमस्तक होकर सधन्यवाद आपसे जो आप देंगे सो ले लूँगी, यह बात अलग है। पहले अगर कोई साधक ऐसा आये कि भाई मेरे पास पैसा तो नहीं है, लेकिन इस विचारधारा के आधार पर मैं अपने चित्त को शुद्ध करना चाहता हूँ, मैं बुराई रहित होना चाहता हूँ, मैं सब मजहबी और साम्प्रदायिक भेदभावों को भुलाकर साधक मात्र का भला मनाना चाहता हूँ तो ऐसा अगर कोई व्यक्ति आवे तो वह मेरे लिए बहुत अधिक महत्त्वपूर्ण होगा।

इस दृष्टि से घर-बारी भाई-बहिनों से मैं यह निवेदन कर रही हूँ कि आपका जीवन बड़ा व्यस्त हैं। धन कमाना आज बहुत कठिन हो गया है और विविध प्रकार के लोगों के साथ अपने को मिलाकर रखना और विविध योग्यता और रुचि के लोगों के साथ काम करना, इन बातों में बहुत कठिनाइयाँ है। सभी कठिनाइयों को एक किनारे करके आप आते हैं, सत्संग समारोह में सम्मिलित होते हैं, तो इसका अमिट प्रभाव आप अपने साथ लेकर जाइये। यह बड़ा मँहगा है, सहज से प्राप्त नहीं होता है। किसी प्रकार की समस्याओं को आपने किनारे किया, सामने से हटाया, बहुत कष्ट उठाये और बड़ा झंझट करके आप आप यहाँ पहुँचे तो यह परिस्थिति बारम्बार बनेगी कि नहीं बनेगी, कौन कह सकता है ? जी ? कोई नहीं कह सकता है। क्या जानें कब क्या हो, यह अवसर जो मिला है यह बहुत ही मँहगा है, और इस अवसर को व्यर्थ नहीं जाने देना चाहिए। इसको साधारण बात नहीं मानना चाहिए। एक सप्ताह के समय में हमने जो कुछ सुना है, ऊँची

बात सुनी है, बहुत ही स्थूल स्तर की प्रारम्भिक बातों को भी हमने सुना है, जो कुछ सुना है उसमें से जो कुछ अपने से ग्रहण करता बने, उसको ग्रहण करके, एक अमिट प्रभाव अपने पर लेकर यहाँ से आप जाएँ, ऐसा मेरा भाव है, ऐसी मेरी सद्भावना है, ऐसी मेरी प्रार्थना है। अब और थोड़ा-सा आगे बड़ा जाये। स्थूल स्तर की बात हो गई।

अब एक सत्य को फिर से दुहरा दूँ जिससे कि याद रहे। वर्तमान में जो कुछ अपके पास है, उसी के सदुपयोग से वहीं अविनाशी जीवन मिल सकता है जो किसी भी विशेष सामर्थ्यशाली को मिला होगा। इसको आप स्वीकार करते हैं कि नहीं ? जी ? करते हैं। अब दूसरी बात ले लीजिए, जो हम लोगों के लिए बहुत उपयुक्त मालूम होती है मुझे। महाराजजी ने सबके लिए विश्राम और हरि-आश्रय दो विशेष साधन बताए। तो विश्राम के उपाय तो हो गये कि भाई, जो कुछ अपने पास है बस उसी से जो बन सके वह कर डालो और मनुष्य भाव से कर डालो परन्तु अविनाशी जीवन पर दृष्टि रखकर कर डालो, तो क्या होगा कि काम करने की घड़ी जब खतम हो जाएगी तो थोड़ी देर शान्त रहना आएगा। वर्तमान जीवन जिसका सरस होता है उसमें व्यर्थ चिन्तन नहीं उठता है। वर्तमान को सरस रखने का तरीका क्या हैं ? सुख के आधार पर तो रख ही सकते। लेकिन प्रभु प्राप्ति के आधार पर वर्तमान को सरस रख सकते हैं। मेरी मृत्यु नहीं होगी, केवल स्थूल शरीर का नाश होगा और मैं तो अमर आत्मा सच्चिदानन्द हूँ अर्थात् मैं अविनाशी परमात्मा का अविनाशी अंश हूँ इसलिए मेरा नाश नहीं होगा। तो मेरा नाश नहीं होगा इस बात से अपने को एक आश्वासन मिलता है, एक धीरज मिलता है कि भाई, मेरा नाश तो होने वाला हैं नहीं।

अब जिन बुराइयों की उत्पत्ति हो गई है उनका नाश कर दो तो हम सदा ही आनन्दमय अस्तित्व में रह सकेंगे। तो यह भी एक

आशाजनक बात है। जिससे वर्तमान सरस हो सकता है। और एक बात और होगी, वह क्या है ? कि कितने भी दिनों का पुराना दोष क्यों न हो, अगर वर्तमान में हम उसका त्याग करना चाहते हैं तो वह मिट सकता है। ऐसा नहीं होगा कि अनेक जन्म बीत गये दोषों के साथ, तो अब अनेक जन्म प्रयास करना पड़ेगा। ऐसी बात नहीं हैं। हमको एक कन्शेसन है उस मंगलमय विधान की ओर से, कि चाहे कितने भी जन्म दोषों के साथ में बीते हों लेकिन अगर वर्तमान में आप निर्दोषता पसन्द करते हैं तो भूतकाल का सब किया कराया माफ किया जायेगा। अगर इस पर आप विश्वास करेंगे, क्षमासिन्धु की कृपा की आवश्यकता आप अनुभव करेंगे तो आपका वर्तमान सरस हो सकता है। भूतकाल की भूलों को अपने में आरोप करना छोड़ दीजिए और भूतकाल की भूलों की पुनरावृत्ति करना बन्द कर दीजिए। फिर से उन्हें दोहराइये मत और दोहराने की इच्छा भी छोड़ दीजिए। तो क्या होगा कि पहले की हुई सब बुराइयों को क्षमा किया जावेगा, मिटा दिया जावेगा और वर्तमान काल की निर्दोषता अपने को सरसता देगी। और सबसे अधिक दुर्बल और असहाय के लिए वर्तमान को सरस बनाने में सहारा यह है कि उसके लिए करुणासागर का प्रकाश बढ़ जाता है। और जो बातें पहले बिल्कुल ही दूर, पराई भाषा ग्रीक और लेटिन के समान मालूम होती थीं, उन्हीं को अब पढ़ो तो उसका गहरा अर्थ अपने को समझ में आने लग जाता है।

क्या हो गया भाई ? जिस दिन से आपने सत्संग को पसन्द किया, सत्य को पसन्द किया, प्रभु की कृपा शक्ति की आवश्यकता अनुभव की, समर्पणयोग का साधक अपने को बनाया, उसी दिन से उनकी कृपा शक्ति की सहायता से सब शक्तियाँ बढ़ती चली जाती हैं और साधन का जो पथ है वह अपने लिए सरल तथा सुलभ होता जाता है। अगर इस सत्य में आप विश्वास करेंगे, मेरे लिए यह सम्भव

है, ऐसा अगर आप मानेंगे तो आपका वर्तमान सरस हो जायेगा, भूतकाल चाहे कैसा भी रहा हो। कोई चिन्ता की बात नहीं। वर्तमान की सरसता और भगवत् शरणागति, ये दोनों बातें ऐसी हैं, जो व्यक्ति को व्यर्थ चिन्तन से छुट्टी दिलाती हैं, उसको विश्राम मिलता है, प्रगति होती है, अपने लिए साधना सहज बनती है। इन सब बातों का अनुभव आप भाई-बहिनों में से अनेकों को है जिन्होंने स्वयं ही मुझको बताया है और जहाँ पति-पत्नी दोनों आ जाते हैं वहाँ तो बहुत सहज हो जाता है। कभी तो पति महाशय कहते हैं कि पत्नी को लेकर जब से मैं सत्संग में आने लगा तबसे उनका व्यवहार बहुत ही नरम हो गया, बहुत ही प्रेम पूर्ण हो गया। कोई-कोई पत्नी आकर कहती है कि बहनजी, क्या बतायें, पहले तो इनको बड़ा जोश आता था, बड़े क्रोध में आ जाते थे, जब से सत्संग में आने लगे इनका स्वभाव बड़ा नरम हो गया, कोमल हो गया। अब तो उतना क्रोध नहीं करते हैं, अब तो उतना नाराज नहीं होते हैं। तो बहुत छोटी-छोटी बातें हैं, जिनसे आपको भविष्य के लिए बहुत जोरदार आशा लेनी चाहिए कि सत्संग के प्रकाश में मेरा सुधार हो रहा है और सत्संग का प्रकाश कभी भी निष्फल नहीं जाता।

सत्य को हम स्वीकार करेंगे तो वह हमारा सुधार करेगा। जिस अनन्त परमात्मा की शरणागति हमने ग्रहण की है उनकी कृपाशक्ति मेरे मैल को धोकर साफ कर देगी। यह आशा भीतर से दृढ़ हो जाये तो वर्तमान सरस हो जायेगा। व्यर्थ चिन्तन के लिए कोई विकार नये पैदा होंगे नहीं। नई भूल हम करेंगे नहीं और पुरानी भूलों के परिणाम से डरेंगे नहीं। डरने से आदमी का भीतर से मन ही दुर्बल हो जाता है। जहाँ किसी साधक को हर्ष में, आनन्द में, देखते हैं तो अच्छा लगने लगता है कि देखो ये लोग कितने प्रसन्न हैं, कितने खुश हैं, फिर सोचने लगते हैं कि भाई इनके संस्कार बड़े अच्छे थे, तो ये लोग

जल्दी-जल्दी स्वामीजी की बातों को पकड़ कर आगे बढ़ गये। तो क्या बताएँ मेरे तो संस्कार बड़े खराब हैं। तो इस प्रकार भूतकाल की बातों का भार अपने ऊपर लादने से बेचारा दुर्बल हृदय जो जीव हैं, थोड़ा ढीला हो जाता है, नरम और पतला, मरा-मरा-सा हो जाता है। तो ऐसा क्यों करो भाई ! जब क्षमा-सिन्धु सब प्रकार की भूलों को क्षमा करने के लिए तैयार हैं, जब सत्य का विधान हम लोगों को हर प्रकार का कन्सेशन देने के लिए तैयार है तो दिल को छोटा क्यों करो, उदास क्यों बनो। अपने को छोटा क्यों मानो। पुरानी की हुई भूलों के कारण वर्तमान में हृदय को दबाओ क्यों ? ऐसा मत करो। हो गया सो हो गया। आखिर क्या किया है हम लोगों ने ? किसी के घर में डाका तो डाला नहीं ? ऐसा कुछ नहीं किया। बस, भूल क्या की कि विचार के प्रकाश में जो असत्य दिखाई देता है, मालूम होता है कि दृश्य के साथ मेरा संयोग नहीं रह सकेगा, लेकिन उस विवेक का मैंने अनादर किया, दृश्य का सहारा अब तक पकड़े थे, उसे पकड़े रहो, तो विकारों की उत्पत्ति होती रही। आज उस दृश्य का सहारा छोड़ दिया तो मामला खतम हो गया। अगर छोड़ने में असमर्थता लग रही है तो उस सर्वसमर्थ की शरणागति ले ली, शरीरों से असंग होने की सामर्थ्य नहीं लग रही है तो भाई, रोगी और नीरोग, स्वस्थ और दुर्बल और आसक्ति में बँधा हुआ जैसा भी शरीर है वैसा ही लेकर कहो, हे कृपालु ! अब मैं यह सब गन्दा-गन्दा, टूटा-फूटा रोग युक्त, विकार युक्त शरीर लेकर आपकी शरण आया हूँ। जैसे ही उस सामर्थ्यवान को समर्पित करो, उनके हवाले करके छोड़ दो तो उनकी कृपाशक्ति उसे सुधार देगी, सँभाल देगी।

मैं तो ऐसा भी सोचती हूँ तो मुझे मजा आ जाता है कि महाराज तुम्हारी चीज, जैसी तुम्हारी मर्जी हो वैसे ही रखना। कम से कम हमको छुट्टी दिला दो। बड़ा आनन्द आ जाता है। अरे रोग मिटेगा कि नहीं?

कौन कहे तुमसे कि रोग रहित करो इसको, जैसी तुम्हारी मर्जी। तुम्हारी चीज है तुम सँभालना। तुम रखना, जो जी में आवे सो करना। कम से कम मुझ गरीब को तो छुट्टी दिलाओ, तो बड़ा आराम आता है। बहुत आनन्द आ जाता है। इस तरह से यह सत्संग की चर्चा जो है, हमारे दैनिक जीवन के Routine में आ जानी चाहिए। कलकत्ते में रहो तो क्या ? बम्बई में रहो तो क्या ? कड़ैल में रहो तो क्या ? छोटे से छोटे गाँव में रहो तो क्या ? कोई फर्क नहीं पड़ता।

सत्संग का प्रकाश मेरे जीवन का केन्द्र-बिन्दु बन जाना चाहिए। बोलेंगे तो उसी प्रकाश में, साँस लेंगे तो उसी प्रकाश में, भोजन करेंगे तो उसी प्रकाश में, धन कमायेंगे तो उसी प्रकाश में और खर्च करेंगे तो उसी प्रकाश में। तब तो भाई काम बन सकता है। चन्दन का टीका लगाओ तो भी बन जाए और न लगाओ तो भी बन जाये। राम के नाम लिखी हुई चद्दर ओढ़ो तब भी बन जाय और न ओढ़ो तब भी बन जाय। तुलसी की कण्ठी गले में बाँधने में आप में कुछ पुष्टि मालूम होती हो तो भले बाँध लो। बाँध लो तो भी बन जाए काम, न बाँधो तब भी बन जाए। लेकिन जीवन का सत्य स्वीकार करना एक अनिवार्य तत्त्व है और उसके लिए विशेष तैयारी नहीं चाहिए। इन सब बातों को ध्यान में रखकर श्रम और विश्राम करो। महाराजजी ने कई जगह पर ऐसे लिखा है कि सही प्रवृत्ति और सहज निवृत्ति, ये दोनों अमरपुरी तक पहुँचने की यात्रा के लिए दाएँ-बाएँ पैर के समान हैं। बायाँ पैर टिकता है धरती पर तो दायाँ पैर उठकर आगे जाता है, आगे जाकर यह दायाँ पैर टिकता है, तो पीछे से बायाँ कदम उठा करके हम आगे रखते हैं। तो बिल्कुल दाएँ-बाएँ पैर के समान है- सही प्रवृत्ति और सहज निवृत्ति।

यह प्रणाली शैव के लिए है कि वैष्णव के लिए, सनातनी हिन्दू के लिए कि आर्यसमाजी के लिए, सिख्ख, जैन, बौद्ध, पारसी, ईसाई के

लिए है, यह सब भेद-भाव की चर्चा मानव सेवा संघ करता ही नहीं हैं। हम पूछते ही नहीं हैं कि आप किस सम्प्रदाय में विश्वास करते हैं कि किस मजहब के अनुयायी हैं। ऐसा पूछने से हमें कोई मतलब नहीं है। वह तो आपकी बनावट है, माता-पिता की शिक्षा है, अपनी-पुरानी परम्परा है जिसमें आप दीक्षित हैं। माता-पिता ने जो सिखाया, सो सब ज्यों का त्यों, जैसे के तैसे श्रद्धापूर्वक, प्रेमपूर्वक करते रहो। मानव सेवा संघ उस Detail में नहीं आता। मानव सेवा संघ जीवन का विज्ञान आपके सामने रखता है कि अगर सही प्रवृत्ति को नहीं निभाओगे तो करने का राग नहीं मिटेगा। सही प्रवृत्ति के बाद, सहज निवृत्ति जीवन मे आनी चाहिए। उस निवृत्ति की शान्ति में निवास नहीं करोगे तो प्रवृत्ति की पराधीनता को तोड़ने की शक्ति नहीं आयेगी। सही प्रवृत्ति के बाद सहज निवृत्ति में निवास नहीं करोगे तो शरीरों से अतीत अशरीरी जीवन जो तुम्हारे में ही विद्यमान हैं, उसके प्राकट्य का अनुभव तुमको नहीं होगा। सही प्रवृत्ति आपके जीवन में है कि नहीं ? जी ? किसी प्रकार के कर्म में प्रतिदिन हम लोग लगते हैं कि नहीं लगते हैं ? लगते हैं। किए हुए कर्म के फल से विश्राम लेना आ गया कि नहीं ? अगर आ गया तो सही प्रवृत्ति सिद्ध हो गई।

(42)

सत्संग प्रेमी माताओ, बहिनो, भाइयो !

हमारे जीवन में साधन के पथ में शान्ति तत्त्व का बड़ा महत्त्व है, हम प्रारम्भ ही करते हैं इस उद्देश्य से कि हमें शान्ति मिले। कुछ देर के लिए शान्त रहना आ जाय। यह हम सभी भाई-बहिनों को बहुत पसन्द है और यह बहुत आवश्यक भी है। अब इसमें कठिनाई यह होती है कि जब हम शान्त रहना पसन्द करते हैं, बाहर से कार्य नहीं करते हैं, अकेले में

चुपचाप होते हैं तो उस समय अपने ही भीतर से बहुत प्रकार के विचार उदित होने लगते हैं। बहुत प्रकार की भूली हुई बातों की याद आती है। भविष्य की कल्पनाएँ होती हैं। वर्तमान की कठिनाइयाँ सताती हैं। अनेक प्रकार के चिन्तन में हम फँस जाते हैं। मस्तिष्क लगातार क्रियाशील रहे, उसमें तरह-तरह के विचार आते रहें, हम उनको नापसन्द करते रहें, दबाने की कोशिश करते रहें, और उनमें हम हारते रहें, इस दशा को कोई भी साधक पसन्द नहीं करता है और इस दशा में उलझ जाने से आगे विकास में बहुत बाधा हो जाती है।

इसलिए इस प्रश्न को सुलझाना, इस समस्या का समाधान करना, हम लोगों के लिए आवश्यक हैं। अनुभवी सन्त की सलाह ऐसी है कि इस दशा से घबड़ाना नहीं चाहिए। पहली बात जो हमारे लिए बहुत काम की है, वह यह है कि मेरे बिना चाहे और बिना किये जो कुछ हो रहा है, वह सदैव ही हितकर है, ऐसा मान करके हमें उससे घबराना नहीं चाहिए। अब आप मुझे बताइये- शान्ति काल में, मन में भीतर जो हलचल पैदा होती है, उसको क्या हम लोग पैदा करना चाहते है ? नहीं चाहते हैं और पैदा करने के लिये कुछ करते हैं, उस काल में ? नहीं करते हैं। तो वह सब कैसे हो रहा है ? मेरे बिना चाहे हो रहा है और बिना किए हो रहा है। तो मैंने किया भी नहीं और मैंने चाहा भी नहीं, और मुझको पसन्द भी नहीं है, ऐसी हालत में जो प्राकृतिक ढंग से प्रतिक्रिया हो रही है उसको बुरा समझ करके उससे घबराना नहीं चाहिए। इससे बहुत धीरज आ जायेगा। एक बात हो गई।

अब शरीरों से ऊपर उठने के लिए सब प्रकार की गति बिल्कुल शान्ति में जाकर समाहित हो जाये और अपने में तीनों शरीरों से तादात्म्य ताड़ने की सामर्थ्य आ जाये, इसकी तैयारी हमको चाहिए। वह तैयारी कैसे होती है ? वैज्ञानिक स्तर पर जो मैंने पढ़ा है,

सन्तवाणी में सुना है और अपने पर प्रयोग करके देखा है, ये तीन आधार हैं मेरे पास। एक तो वैज्ञानिक स्तर से, मन की क्रियाओं का अध्ययन और सन्त के पास बैठकर देहातीत जीवन में पहुँचने के उपायों को सुनना, समझना और अपना जीवन जिस स्तर पर हैं उसी स्तर पर साधन के सत्य का प्रयोग करना। इनके आधार पर मैं साधक भाई-बहिनों की सेवा में यह वैज्ञानिक सत्य निवेदन कर रही हूँ, कि जहाँ-जहाँ संसार में हमारी पसन्दगी हैं, जिन-जिन वस्तुओं और व्यक्तियों को मैंने अपने लिए पसन्द किया है, सुखद माना है, उन्हीं का प्रभाव अहं में अंकित होता है, यह वैज्ञानिक सत्य है और जो प्रभाव अहं में अंकित होता है, यह वैज्ञानिक सत्य है और जो प्रभाव अंकित हो चुका है, जिससे मन और चित्त पर अनेक प्रकार के राग-द्वेष बन गये हैं, उनको मिटाने के लिए प्रकृत्ति को जब कभी भी अवसर मिलता है तब इन राग-द्वेषों के निष्कासन की प्रक्रिया आरम्भ हो जाती है।

जिस समय आप किसी प्रकार का सुख नहीं ले रहे हैं और जिस समय आप संसार के साथ मिलकर सुख-सुविधा-प्रप्ति का कोई उपाय नहीं कर रहे हैं, जब शान्ति-सम्पादन के लिए एकान्त में बैठते हैं तो उस समय जगत् के साथ मिलकर कोई प्रवृत्ति करते हैं क्या ? नहीं करते है न। तो उस समय किसी प्रवृत्ति में भी हम लोग नहीं लगे हैं। ऐसी घड़ी में जब मैंने प्रवृत्तियों को छोड़ दिया है तो उस काल में जब हम बाहर से कुछ नहीं कर रहे हैं तो प्रकृति की शक्ति मेरी मदद कर रही है। क्या करती है ? कि भूतकाल के भोगे हुए सुखों का प्रभाव और उसको पसन्द करने के परिणाम जो मेरे भीतर जमा हो गये थे उनको निकालकर, Conscious level पर, चेतन स्तर पर लाकर के, उन्हें खतम करने का काम प्रकृति की ओर से होने लगता है। यह हितकर होगा कि अहितकर ? जी ? हितकर होगा ! इसीलिए मैंने निवेदन किया। यह बात स्वामीजी महाराज के पास आकर मैंने सुनी।

मनोविज्ञान के आधार पर मनुष्य के मस्तिष्क की क्रियाओं का जो अध्ययन था, उसमें सन्त के अनुभव का प्रकाश प्राप्त करने से बहुत स्पष्टीकरण हो गया। महाराजजी से क्या सुना मैंने ? कि भाई ! तुम चिन्ता मत करो, घबराओ मत। क्रिया तुम्हारे बिना किए हो रही है, बिना चाहे हो रही है, वह क्रिया हानिकारक कभी नहीं हो सकती। तो शान्ति सम्पादन काल में, भीतर के जमे हुए सुख भोगों के प्रभाव निकलते हैं खतम होने के लिए। तो हम लोगों को क्या करना चाहिए? उनको खतम होने देना चाहिए। हम लोग क्या करते हैं, कि अरे ! राम ! राम ! राम ! संसार का चिन्तन आ गया, अब इसको हटाओ-हटाओ, जल्दी हटाओ। कैसे हटाओगे ? जोर डाल करके मन की शक्ति को रोक लो, जोर डालकर रोकने से, कुछ देर के लिए तो मन की गति रुक जाती है। नहीं रुकती है ऐसी बात नहीं है। जोर डाल के रोकने से रुक जाती है, लेकिन यह वैज्ञानिक सत्य है कि जब जोर डाल करके आप भूतकाल के जमे हुए विकारो को चेतना में आने से रोक देते हैं, तो वे अचेतन स्तर पर ठहर जाते हैं। और जिन्होंने इसका प्रयोगात्मक अध्ययन किया है, वे कहते है, कि चेतन स्तर पर दबा देने का परिणाम यह होता है कि अचेतन मे छिप करके ये विकार दिन दूने रात चौगुने बढ़ते चले जाते हैं।

थोड़ी देर के लिए साधक को बड़ी सफलता मालूम देती है कि मैंने मन की गति को रोक लिया, मैंने चित्त-वृत्ति को स्थिर कर लिया। थोड़ी देर के लिए उनको बहुत सफलता मालूम होती है लेकिन भीतरी बात क्या है कि चेतन स्तर से नीचे की ओर दब जाने से, अचेतन में चले जाने से, ये विकार और भी अधिक बलवान होते रहते हैं। एक मनोविज्ञानवेत्ता ने उदाहरण दिया कि जैसे गीली लकड़ी को अन्धकार की अन्धेरी कोठरी में बन्द कर दो और छोड़ दो तो उसमें एक ही रात में बहुत सी फफूँद बन जाती हैं। fungus निकल आती है। उसी तरह

से मन के जो पुराने, भूतकाल के जमे हुए विकार हैं उनको निकलने से रोक दोगे तो वे भीतर जा कर बहुत जल्दी-जल्दी बढ़ने लग जाते हैं, बलवान हो जाते हैं। जिस समय तुम मन की गति को रोकने वाला अभ्यास छोड़ोगे, उस समय मौका पाकर वे तुम्हें पराजित करेंगे।

इसलिए वैज्ञानिक उपाय क्या है ? वैज्ञानिक उपाय यह है कि भूतकाल के प्रभावों को निकल जाने दीजिये, आप उनको रोकिये मत। कुछ साधकों ने इस विधि से काम करना शुरू किया कि हम रोकेंगे नहीं, उनको निकलने देंगे, उनमें से किसी-किसी ने अपना अनुभव ऐसा बताया, कि भाई, हमने तो छोड़ दिया रोकना, हम तो उनको छेड़ते नहीं हैं, निकल जाने देते हैं, लेकिन वह क्रम खतम तो हुआ नहीं। कितने दिन तक चलता रहेगा ? यह भी साधक के लिए कठिन बात है। भाई, रोको मत छोड़ दो, वह निकलता ही रहे, निकलता ही रहे, निकलता ही रहे, तो हम कब तक प्रतीक्षा करें ? इतना समय किसके पास है ? फिर तो शान्ति-सम्पादन के लिए कौनसी घड़ी आयेगी, फिर योगवित् होने की सामर्थ्य कब आयेगी ? ऐसा प्रश्न उठता है। इस पर काफी सोच-विचार किया गया, तो मुझे ऐसा मालूम हुआ कि दार्शनिक दृष्टिकोण को भी वैज्ञानिकता के साथ रखना जरूरी है, और वह दृष्टिकोण क्या है- कि जिसको "मैं" कहकर सम्बोधित करते हैं, वह शरीर के भीतर तो कहीं कैद है नहीं। शरीर के भीतर वह नहीं है और शरीरों के साथ तादात्म्य में मालूम होता है कि मैं शरीर हूँ, ऐसा लगता है। लेकिन जिन्होंने शरीर और संसार की सहायता से, सुख लेने की इच्छाओं का त्याग कर दिया, उनके भीतर फिर कोई नया विकार पैदा नहीं होगा। भूल क्या होती है साधक से? कि हम भीतर के जमे हुए विकारों को, निकालने का मौका तो देने लगे, परन्तु नये विकारों को भीतर जमा करना बन्द नहीं किया। इसलिये वह लगातार चलता ही रहता है, चलता ही रहता है।

वैज्ञानिकता के साथ-साथ दार्शनिकता को भी साथ में रखो। दार्शनिक सत्य क्या है ? दार्शनिक सत्य यह है कि जो मेरा, 'मैं' पन हैं, उसको हम लोग Self कहकर सम्बोधित करते हैं, उसका शरीरों से रचनात्मक सम्बन्ध तो है नहीं, कभी हुआ नहीं, कभी रहता नहीं है। केवल उसकी सहायता से जब संसार का सुख भोगना हम पसन्द करते है तो उसके साथ जुड़ जाते हैं और जब सुख लेने की कामनाओं का त्याग कर देते हैं तो सम्बन्ध छूट जाता है। तो Structural relation नहीं है केवल functional हैं, अर्थात् रचनात्मक सम्बन्ध मेरा शरीरों से नहीं है, केवल क्रियात्मक है। इस बात को जान करके जब अपने को निजस्वरूप के आनन्द में रहने की आवश्यकता पैदा हो गई, जब अपने में प्रेमास्पद प्रभु के प्रेमी होने की अभिलाषा पैदा हो गई तो फिर बार-बार शरीरों की सहायता से संसार के सुख लेने की बात कभी जीवन में रखनी नहीं चाहिए। परन्तु यह भी चलता रहता है कि नये-नये सुख-भोगों की कामनाओं से नये-नये विकार पैदा भी होते रहते हैं और शान्ति-सम्पादन काल में पुराने विकारों के निष्कासन की प्राकृतिक प्रक्रिया भी चलती रहती है। तो एक ओर से कूड़ा निकाला जा रहा है, फेंका जा रहा है, और दूसरी ओर से हम कूड़ा भरते जा रहे हैं। इस भूल के कारण लम्बा समय लग जाता है। इस भूल को भी हम लोगों को नहीं रखना चाहिए।

कैसे हो ? कि शान्ति-सम्पादन की आवश्यकता जिस समय पैदा हो, उसी समय से तृप्त-अतृप्त वासनाओं का प्रभाव भीतर जमा करना बन्द कर देना चाहिए। अतृप्त वासनाओं के कारण भी रह-रहकर जगत् की ओर खिंचाव होता है और जो कामनाएँ पूरी होती हैं उस कामना पूर्ति के सुख को भोगने से भी नये-नये विकार पैदा होते रहते हैं। जो जहाँ भीतर इच्छा पैदा हुई तो इच्छाओं के कारण शरीर और संसार से सम्बन्ध बन गया। इच्छा पैदा हुई और सुन्दरता दिखाई देने

लगी। इच्छा पैदा हुई वस्तुओं की तरफ मेरा खिंचाव हो गया और इधर की ओर वृत्ति खिंच गई, तो अपने उद्‌गम से बिछुड़ गई, विमुख हो गई, यह दशा हो गई। तो जिनको परम शान्ति अभीष्ट है, उनको भूतकाल की विकृतियों का नाश प्राकृतिक ढंग से होने देना चाहिए और अपनी सावधानी इतनी रखनी चाहिए कि फिर कोई नई विकृति पैदा करने का कारण मैं नहीं बनूँ। समझ में आता है ? यह बहुत जरूरी बात है।

नई विकृतियों के पैदा न होने देने की ओर हमारा ध्यान नहीं जाता और पहले के जो संस्कार जमा हो गये हैं, उन्हीं के पीछे परेशान होते रहते हैं। भोगे हुये सुखों के प्रभाव से, नई-नई वासनायें उदित होती रहती हैं। उनको देख-देख कर हम घबराते हैं। घबराने की कोई बात नहीं है। जब आप ने सुखद परिस्थितियों का अन्त ही कर दिया ते उनके पुराने निशान जे बने हुए हैं, मिट रहे हैं, उसमें घबराने की क्या बात। जैसे मान लीजिए- शरीर में कहीं फोड़ा निकल गया था और उसका Operation कराया गया, चीरा लगाया गया, मरहम-पट्टी हो गई और ठीक हो गया, लेकिन उसके बाद भी वह चीरे का निशान रह गया है। तो जिसका घाव ठीक हो गया है, उसको उस निशान को देखकर कोई तकलीफ होती है क्या ? जी ! उसमें तो दर्द नहीं होता है न ! ऐसे ही जब साधक वर्ग, अपनी ओर से परमशान्ति को जीवन का लक्ष्य बना लेते हैं, निजस्वरूप के परमानन्द को जीवन का लक्ष्य बना लेते हैं, परम प्रेमास्पद प्रभु को जीवन का लक्ष्य बना लेते हैंतो जिन्होंने जीवन के इस लक्ष्य को अपने सामने रख लिया, उनको सबसे पहला काम यही करना चाहिए कि भूतकाल हमारा चाहे जैसा भी था, अब वर्तमान से लेकर के भविष्य में फिर कभी हम नये विकारों को पैदा नहीं होने देंगे। यह जरूरी बात है। तो नये विकार पैदा होंगे नहीं, और प्रभु का मंगलमय विधान इतना बढ़िया है कि पुरानी जो

विकृतियाँ पैदा हो गई हैं उनको मिटाने की जिम्मेदारी प्रभु हम लोगों पर नहीं डालते हैं।

भूतकाल में जो कुछ हमने कर दिया और उसके परिणाम से जो विकार पैदा हो गये, उनको मिटाने के लिए मुझे कुछ नहीं करना पड़ेगा। केवल अकिंचन, अचाह, अप्रयत्न होकर चुपचाप रहना पड़ेगा। तो जब हम अपनी ओर से कुछ करना छोड़ देंगे तो प्रकृति की शक्ति जो है, वह स्वभाव से ही भूतकाल की जमा की हुई विकृतियों को निकाल की खतम कर देगी और उनका प्रभाव बिल्कुल साफ हो जायेगा। तो मैंने मनोवैज्ञानिक आधार पर यह अर्थ निकाला है कि शांतिकाल में मनुष्य के मस्तिष्क में जो हलचल पैदा होती है और तरह-तरह के चिन्तन आरम्भ होते हैं उन चिन्तनों के होने से व्यक्ति की शान्ति भंग नहीं होती, क्योंकि शान्ति आप के स्वरूप में है और यह हलचल शरीर के संग मिलकर उत्पन्न की हुई विकृतियों के कारण से है। आप जब शरीरों से असंग होने के लिए तैयार हो गये तो भूतकाल की क्रियाओं के आधार पर जो विकृतियाँ पैदा हुई थीं वे विकृतियाँ अब आप को छुएँगी नहीं। इसलिए आप निश्चिन्त हो जाइये।

पाश्चात्य मनोविज्ञानवेत्ता कहते हैं कि मन में उठने वाले चिन्तन से नुकसान नहीं होता। प्रभु के मंगलमय विधान को तो वे लोग नहीं जानते हैं, उसको मानते भी नहीं हैं। यह तो मैंने स्वामीजी महाराज से सीखा, लेकिन सच्चाई का ज्ञान तो उनको भी है। वे कहते हैं- मन में उठने वाली हलचल से व्यक्ति का कुछ नुकसान नहीं होता, लेकिन उस हलचल को देखकर घबरा जाने से नुकसान होता है। तो घबराओ नहीं। वे लोग कहते हैं कि उस स्मृति के साथ अब नया राग-द्वेष (Emotional tinge) आप मत जोड़ो। जैसे मानलो कि भूतकाल में किसी व्यक्ति से आपकी खटपट हो गई थी, और उससे आपने

अपमानित feel किया था। किसी प्रकार की क्षति आप की हुई थी, लड़ाई-झगड़े हुए थे। तो वह घटना बीत गई, वह व्यक्ति आप से दूर चला गया। अब उससे कोई मतलब नहीं है। लेकिन शान्तिकाल में आपके भीतर उस झंझट की घड़ी में जो राग-द्वेष जम गया था, उस बुझती हुई अग्नि में कोई नया ईधन मत डालो। अब साधनाकाल में, जब आप शरीरों से ऊपर उठने के लिए तैयारी करने बैठे हैं, तो प्रकृति सहायता कर रही है, और भीतर के दबे हुए उस पुराने राग-द्वेष को चेतना में लाकर के निकालना चाहती है, तो मनोविज्ञानवेत्ता कहते हैं, कि वह राग-द्वेष दिख जाये तो चुपचाप बैठकर देखते रहो। कोई नुकसान नहीं होगा। वह निकल कर खतम हो जायेगा। चित्त हलका हो जायेगा। मन एकदम शान्त हो जायेगा। तुम्हारा मानसिक स्तर साफ हो जायेगा। अगर उस चित्र के उपस्थित होने से उस व्यक्ति को याद करके फिर आपने नया क्रोध कर अर्थात् फिर नया भाव (Emotion) ले लिया, अर्थात् जो घटना बीत गई उसकी याद आने से फिर आपके कान गरम होने लगे, देखो तो उसने मेरे साथ ऐसा किया था, उस बीती हुई घटना और दूर हुए व्यक्ति पर फिर से अगर आपको क्रोध आ गया तो पुरानी विकृति मिटने के पहले ही नई जम गई। समझ में आता है ? अगर पुरानी चीज है, अब उससे मेरा कोई मतलब नहीं है, वह व्यक्ति भी मुझसे दूर हो गया, वह घटना भी खतम हो गई। अब भीतर जो कूड़ा-करकट जमा हो गया है वह मुझे निकाल कर खतम करना है, उसको फिर से जमाना नहीं है।

साधक का दृष्टिकोण सदा ऐसा बना रहेगा, तो वह चुपचाप बैठकर देखता रहेगा। दूर से जैसे - कुत्तों को लड़ते हुए देख करके आपके भीतर की शान्ति भंग नहीं होतीं है वैसे ही भीतर के जमे हुए विकार जो निकलते रहेंगे उनको भी देखकर आपकी शान्ति भंग नहीं होगी। धीरज रखिए थोड़ा-सा, और देखिए कि विकार निकल रहा है,

सफाई हो रही है। इस प्रकार हम सब लोग बाहर और भीतर दोनों तरफ के दृश्यों से अपने को असंग कर सकते हैं। जैसे बाहर के दृश्यों से साधकजन अपने को असंग कर लेते हैं, वैसे भीतर के दृश्य से भी असंग कर लेते हैं। बाहर भी जगत् है, तो मन के स्तर पर भीतर जो कुछ हो रहा है वह भी तो एक जगत् ही है भाई ! यह रहस्य समझ में आ रहा है कि नहीं ? जी ? जैसे बाहर जो दृश्य दिखाई दे रहा है वह भी जगत् है तो आँख बन्द करने पर मन के स्तर पर जो दृश्य दिखाई दे रहा है, वह भी जगत् ही है। वह भी संसार ही है, क्योंकि मन बना है संसार की ही धातु से। तीनों शरीरों में से सूक्ष्म शरीर की क्रिया है मन। ठीक है न ? जैसे स्थूल शरीर की रचना पांच भौतिक तत्त्वों से हुई है, सूक्ष्म शरीर की रचना भी सूक्ष्म जगत् के तत्त्वों से हुई है। वह भी तो जगत् ही है। तो अपने को दृश्यमात्र से असंग होना है। बाहर के दृश्य से असंग रह सकते हैं हम, तो भीतर के दृश्य से असंग क्यों नहीं रह सकते ? रह सकते है कि नहीं ? रह सकते हैं ? गलती क्या हो जाती है ? तो साइक्लोजिस्ट अर्थात् मनोवैज्ञानिक की सलाह मान लीजिए। वे लोग कहते हैं कि आप उसके साथ Emotional tinge मत लगा दीजिए। tinge कहते हैं हलके रंग के प्रभाव को। तो जैसे किसी पर हल्के गुलाबी रंग की छाया पड़ जाए, कि हरे रंग की छाया पड़ जाये, तो कहते है कि यह rosy tinge है, यह greenish tinge है। तो ऐसे ही Psychologist कहते हैं कि Emotional tinge उसमें मत डालिए। अर्थात् जो चित्र मानस पटल पर पुरानी भूलों के प्रभाव से अंकित हो गये हैं, प्रकृति उनको निकाल रही है, तो उनको भी अपने से दूर मानकर, उनसे भी असंग रहते हुए, उसमें किसी प्रकार के नये राग-द्वेष का रंग मत चढ़ाओ। तो फायदा क्या होगा ? कि आप अपनी बिल्कुल निर्विकार शान्ति में रह सकोगे और प्रकृति का जो कार्य है वह प्रकृति पूरा करके, अर्थात् तुम्हारी भूलों के कुप्रभाव को सुधार कर तुमको स्वस्थ और शान्त बना देगी। यह रहस्य है शान्ति के सम्पादन का।

शान्ति-सम्पादन में बड़ी अच्छी मदद देने वाली एक और बात है। वह क्या है ? मैंने व्यक्तिगत रूप से भी अपने भीतर और बाहर का चित्र देखा है। बातचीत करते समय हम लोगों की अलग-अलग tone निकलती है, अलग-अलग प्रकार की ध्वनि निकलती है, किसी-किसी समय आदमी जरा उत्तेजित होकर बोलता है, किसी-किसी समय अन्यमनस्क होकर बोलता है, तो अपनी विविध ध्वनियों का हमें भले ही पता न चलता हो, लेकिन दूसरे जब हम लोगों से विविध प्रकार की tone में बोलते हैं तो समझ में आता है कि नहीं ? जी ? मधुर ध्वनि निकल रही हो तो, पसन्द आता है, और कड़क निकल रही हो तो, बुरा लगता है। आप देखेंगे कि अन्तर की जो दशा है उसके कितने प्रकार के Expression हैं, कितनी अभिव्यक्तियाँ हैं। मुखमण्डल की आकृति बदलती है, ध्वनि बदलती है, अंग-विन्यास (Posture) बदलता है, यह क्या-क्या सब होता है।

अब खास बात जो मैं कहने जा रही हूँ , वह यह है, कि आप अपने व्यक्तित्व का भीतर-बाहर थोड़ा अध्ययन करके देखिये तो पता चलेगा कि जो वर्तमान क्षण व्यक्ति को अपने लिए आशाजनक और सरस लगते हैं, उन क्षणों में उसके भीतर विकारों का प्रवाह नहीं रहता है, बहुत बढ़िया बात है। प्रेमी स्वभाव के व्यक्तियों के साथ लोगों ने रहकर देखा है, और भगवत् भक्तजनों के पास बैठकर देखा है, वीतराग सन्तजनों के पास बैठकर भी अनुभव किया है। अपने को सँभालने के काल में भी, इन बातों की झलक मिलती रहती है, परिचय मिलता रहता है। जब भीतर नीरसता होती है तो वाणी में कठोरता रहती हैं। भीतर सरसता हो तो वाणी में मधुरता रहती है। भीतर कठोरता और असन्तोष हो तो आँखों से एकदम जैसे चिंगारी निकलती है। ऐसी दृष्टि देखी नहीं जाती और भीतर सरसता हो, कोमलता हो, तो दृष्टि में इतनी प्रियता भर जाती है कि जिस पर पड़ जाये उसका भी चित्त प्रसन्न हो जाये।

स्वामीजी महाराज कभी-कभी ऐसी प्रीत भरी दृष्टि का वर्णनकरते हुए कहते थे-"आप छके नैना छके, अधर रहे मुस्काय। छकीदृष्टि जा पर पड़े, रोम-रोम छक जाय।।" प्रीत-रस से परिपूर्ण जो व्यक्तित्व है, उसके भीतर मन, चित्त, बुद्धि, इन्द्रियाँ सब कुछ सुन्दर हो जाते हैं, सरस हो जाते हैं, मधुर हो जाते हैं और पूरा का पूरा जिसका व्यक्तित्व प्रेमरस में परिवर्तित हो गया, उसका तो वर्णन ही मैं नहीं कर सकतीं हूँ। लेकिन हमारे आपके, हम सभी भाई-बहिनों के अन्तर में जो प्रेम तत्त्व बीजरूप में विद्यमान है उसकी बात मैं कह रही हूँ, कि उसमें जैसे ही रस निष्पत्ति आरम्भ हो जाती है, अर्थात्सरसता का प्रवाह रोम-रोम में भरने लग जाता है, तत्काल ही सब प्रकार की गतियाँ शान्त होने लगती हैं। स्नायुमण्डल में जो associative chain (विचारों की शृंखला) काम करती रहती हैं, मन कभी यहाँ जा रहा है, कभी वहाँ जा रहा है, कभी किसकी याद आ रही है,कभी कौन चिन्ता सता रही है, कभी कौन भय सता रहा है,कभी कौन प्रलोभन प्रेरित कर रहा है, इस प्रकार से मस्तिष्क में जो एक बिजली की current की तरह गतिशीलता चल रही थी उस पर हृदय की सरसता का बड़ा ही स्वास्थ्यकर प्रभाव होता है। वर्तमान का आशाजनक होना, और जीवन में रस की अभिव्यक्ति, ये दो बातें इतनी अच्छी हैं, इतनी अच्छी हैं, कि व्यर्थ चिन्तन का नाश करने के लिए फिर कोई अन्य प्रयास करना ही नहीं पड़ता। बहुत ही स्वास्थयकर प्रक्रिया है।

मैं एक प्रभुभक्त साधक के पास बैठी थी, बातचीत हो रही थी, प्रभु की महिमा की चर्चा चल पड़ी। तो मेरा सुना हुआ तो बहुत है। स्वामीजी महाराज ने खूब उनकी महिमा सुनाई और मेरे भीतर के सब क्षोभ-रोष को शान्त किया था। सुना हुआ तो मेरा बहुत था लेकिन पूरा अनुभव किया हुआ नहीं था। उन्हीं की कृपा से किसी-किसी क्षण में उन्होंने कहीं-कहीं अपनी महिमा का दर्शन करा दिया, तो उतने से मेरे

जीवन में एक बड़ा भारी आधार मिल गया। ऐसा थोड़ा-थोड़ा अनुभव है, लेकिन जिनके पास मैं बैठी थी उनको तो मैं प्रेमस्वरूप ही मानती हूँ। बातचीत के सिलसिले में जब प्रभु की महिमा की चर्चा चल रही थी और चर्चा के प्रभाव से ऐसा लगा कि उनका व्यक्तित्व बिल्कुल अभिभूत होता चला जा रहा है, लगाव सब बाहर के छूटते चले जा रहे हैं, रस की वृद्धि होती आ रही है और पराश्रय और परचिन्तन पर से लगाव, बिना किसी प्रयास के अपने आप छूटता चला जाता है। कुछ समय के बाद उनके मुख से सुनने में आया कि "अहा ! क्या आनन्द है, अपने आप में ही है, उनकी महिमा से ही है, उनकी उपस्थिति से ही है, उनका दिया हुआ है, इस अनुभव में सब विकार धुल जाते हैं। अनेकों प्रकार के शरीरिक और मानसिक रोग उस रस के प्रवाह में समाप्त हो जाते हैं।" उस रस को मैं, अपने को समझाने के लिए जीवन रस कहती हूँ।

भगवत् कृपा से, भगवत् अनुरागी सन्त के पास बैठकर, जो कुछ मैंने देखा और सुना, तो दृष्टि तो मेरी बहुत छोटी, कहाँ तक मैं देखती, और बुद्धि तो मेरी अनेक शंकाओं में उलझी हुई थी, कहाँ तक मैं समझती, फिर भी मैं सन्त भगवन्त की कृपा मानती हूँ कि मेरी हैसियत से नहीं, मेरी समझ-बूझ के आधार से नहीं, उन्होंने अपनी कृपा से ही, अपनी महिमा का दर्शन कराया, तो मैंने यह जाना कि साधक के जीवन में साधना के पथ पर आगे बढ़ने में अगर अलौकिकता का नया-नया अनुभव नहीं होता है, तो उसका एक ही कारण है कि हमारा वर्तमान सरस, आशाजनक और उत्साहजनक नहीं है। इस अभाव को अब तक हम लोगों ने सहन कर लिया, मैंने भी सहन किया और आपने भी सहन किया, लेकिन आज से इस क्षण से, आगे से, हम इसको सहन नहीं करेंगे। क्यों करेंगे ?

साधना के पथ पर चलते हुए, साधक होकर, अपने में जीवन की

अभिव्यक्ति न हो, सत्य का प्रकाश दिखाई न दे, प्रेम की लहरें तरंगें न उठें, तो इसको हम लोग क्यों सहेंगे ? आप राजी हैं सहने को ? नहीं सहेंगे। क्यों बरदाश्त करेंगे ? जब वर्तमान आशाजनक है, जब भविष्य अपना उज्ज्वल है, जब मेरे जीवन का लक्ष्य मुझमें ही विद्यमान है, और इसी वर्तमान में पलक मारते ही, जरा-सा दृष्टिकोण को बदलते ही वह मुझको भीतर से रस से आप्लावित कर सकता है तो शुष्क और कठोर जीवन लेकर क्यों बैठें ? मन में असन्तोष और वाणी में रुखाई लेकर क्यों दुनिया में रहें। जी ? नहीं रहना चाहिए, कभी नहीं रहना चाहिए। अपने ही में विद्यमान रस स्वरूप ने अपने ही स्वभाव से, अपनी ही उदारता से, मेरी रक्षा मेरे भूतकाल में की। मैं उनसे विमुख होकर कहाँ-कहाँ, क्या-क्या नहीं करती फिरी, सब समय उन्होंने हम लोगों को सँभाला कि नहीं सँभाला ? जिस समय हम लोग उनकी करुणामयी गोद का निरादर करके, अपने अहं का अभिमान लेकर संसार में अनर्थ करते फिरे, उस समय भी उन्होंने हमें सँभाला, छोड़ा तो नहीं ? उनके ज्ञान के प्रकाश का जो दीपक भीतर-भीतर जल रहा है उसको बुझाया तो नहीं ? अगर बुझ गया होता तो आज हम लोग इस भवन में आकर कैसे बैठते ? नहीं बुझा, दीपक जल रहा है। प्रकाश में सत्-असत् दिखाई दे रहा है और अगर उनसे बिछुड़ जाने के कारण, उनकी करुणा और महिमा का निरादर करने के कारण, उन्होंने अपनी मधुरता को रोक लिया होता, तो हमारा जीवन कैसे सुगठित रह सकता था ? नहीं रह सकता था।

इसलिए बड़ी आशाजनक बात है कि मेरी नालायकी से, वे परम करुणावान मुझ पर नाराज नहीं हुए। उनकी महिमा का निरादर करके मैंने अहं के अभिमान में संसार में गर्जन किया। तो आप देखिए, प्रभु की करुणा, प्रभु की महिमा, कि गुणों के अभिमान में अहं की गर्जना करते हुए हम संसार में फिरे, तब भी उन्होंने अपनी कृपा हम पर से हटाई नहीं।

प्रार्थना

मेरे नाथ !

आप अपनी, सुधामयी, सर्वसमर्थ, पतित-पावनी, अहैतुकी

कृपा से, मानव-मात्र को, विवेक का आदर तथा

बल का सदुपयोग करने की सामर्थ्य

प्रदान करें, एवं

हे करुणासागर !

अपनी अपार करुणा से, शीघ्र ही, राग-द्वेष का

नाश करें। सभी का जीवन, सेवा

त्याग प्रेम से परिपूर्ण

हो जाय।

ॐ आनन्द ॐ आनन्द ॐ आनन्द

मूल्य Rs 30

३००० प्रतियां
अगस्त–१९९७